अंक : 63, भाग : 1, वर्ष : 2017-18
Volume : 63, No. : 1, Year : 2017-18

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

# प्रज्ञा

# PRAJÑĀ

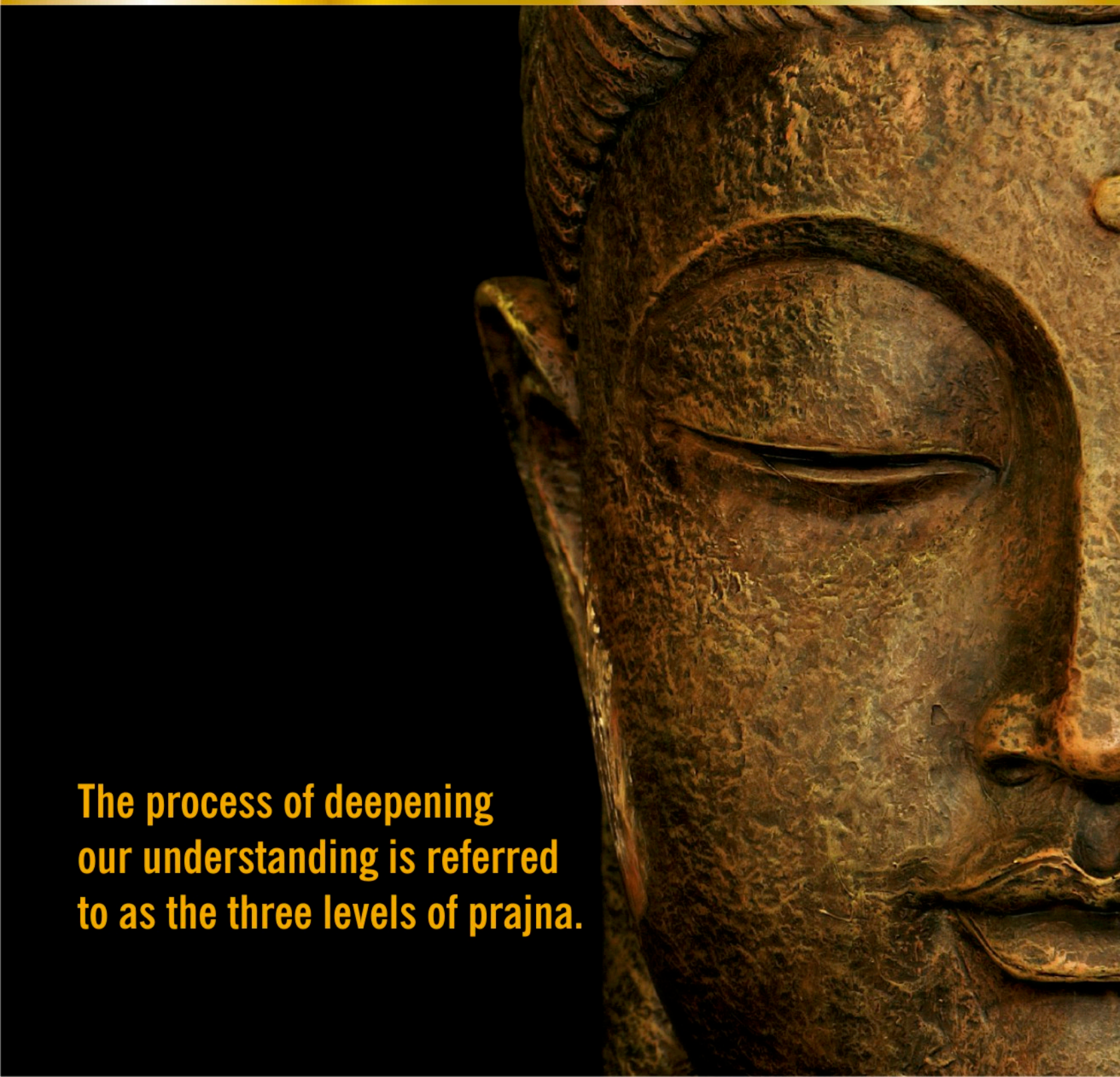

The process of deepening our understanding is referred to as the three levels of prajna.

# महामना वाणी

- जीवन का सर्वांगीण विकास शिक्षा का मूलमन्त्र हो। शिक्षा की ऐसी व्यवस्था हो कि विद्यार्थी अपनी शारीरिक, मानसिक, भावात्मक शक्तियों का विकास कर आगे चलकर किसी व्यवसाय द्वारा सच्चाई और ईमानदारी से अपना जीवन निर्वाह कर सकें, कलापूर्ण सौन्दर्यमय जीवन व्यतीत कर सकें, समाज में आदरणीय और विश्वासपात्र बन सकें, तथा देशभक्ति से, जो मनुष्य को उच्च कोटि की सेवा करने को प्रेरित करती है, अपने जीवन को अलंकृत कर राष्ट्र की सेवा कर सकें।
- सब विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति और वाङ्मय की गौरव पूर्ण उपलब्धियों का बोध कराया जाय, ताकि विद्यार्थी अपने देश और समाज की बौद्धिक समृद्धि की जानकारी प्राप्त कर सकें, अपने जीवन को अपने पूर्वजों के सद्गुणों से अनुप्राणित तथा जनता के जीवन से आत्मसात कर सकें।
- विश्वविद्यालयों में भारतीय और अर्वाचीन पाश्चात्य विद्वानों के अनुभवों और ज्ञान–विज्ञान के तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्यापन की समुचित व्यवस्था हो। विद्यार्थियों को सामयिक समस्याओं के समाधान के उपायों की खोज के लिए प्रोत्साहित किया जाय। वे अपनी संस्कृति के सजीव तत्त्वों की रक्षा करते हुए, संसार के ज्ञान–विज्ञान के लाभदायक तत्त्वों को ग्रहण करें, राष्ट्र की वृद्धि में उनका समुचित प्रयोग करें।
- ऐसे शैक्षिक विश्वविद्यालय खोले जायँ, जहाँ विभिन्न विषयों के उच्चस्तरीय विद्वान अपने अध्यापन और अनुसन्धान द्वारा विद्यार्थियों को अनुप्राणित और परिशिक्षित करें और जो वास्तव में विद्वता और प्रतिभा की खोज और विकास, वैज्ञानिक ज्ञान और अनुसन्धान की तरक्की एवं व्यावहारिक स्तर के उन्नयन का केन्द्र बन सकें।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

# भारत रत्न पं. मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भावः वि. सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभावः वि. सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

ट्रॉमा सेन्टर एवं सुपरस्पेशिएलिटी चिकित्सालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

स्वतंत्रता भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY

AN INSTITUTION OF NATIONAL IMPORTANCE ESTABLISHED BY AN ACT OF PARLIAMENT

**प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी**
कुलपति

**Prof. Girish Chandra Tripathi**
**Vice-Chancellor**

**VARANASI-221 005 (INDIA)**
Phones : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
e-mail : vc@bhu.ac.in
website : www.bhu.ac.in

# शुभ संदेश

विश्वविश्रुत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की समादृत शोध-पत्रिका ''**प्रज्ञा**'' के वर्तमान अंक-63, भाग-1, वर्ष 2017-18, के प्रकाशन के अवसर पर मुझे अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है। यह पत्रिका विगत् 59 वर्षों से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शैक्षणिक उपलब्धियों एवं भारत रत्न महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी के विचारों एवं संकल्पों को अभिव्यक्त करने में सफल रही है। इस पत्रिका में बौद्धिक एवं शैक्षिणिक क्षेत्रों के अतिरिक्त सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आयामों से सम्बन्धित लेख प्रकाशित होते हैं। यह पत्रिका हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे हुये स्तरीय एवं मौलिक शोध पत्रों/लेखों का प्रकाशन करती है। मेरा विश्वास है कि पत्रिका का यह अंक भी गत अंकों की भाँति वृहद् पाठक वर्ग में लोकप्रिय एवं समादरणीय होगा।

मैं पत्रिका के इस अंक के प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को बधाई देता हूँ तथा शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ कि यह अंक भी गत अंकों की भाँति जिज्ञासु पाठकों की ज्ञान पिपासा को तृप्त करे और साथ ही इस महान् विश्वविद्यालय के यश में और अधिक वृद्धि करे।

**( गिरीश चन्द्र त्रिपाठी )**

# सम्पादकीय

प्राची-प्रतिचि के सुन्दर मेल से बने इस महान विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध शोध-प्रत्रिका 'प्रज्ञा' का प्रकाशन सन् 1958 ई0 से अब तक निरन्तर रूप से हो रहा है। इस विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना भारत रत्न पूज्य महामना पं0 मदनमोहन मालवीय जी ने बसंत पंचमी के दिन सन् 1916 में की थी। उनका शुभ संकल्प था कि इस महान विश्वविद्यालय से न केवल उच्च शैक्षणिक योग्यता से सम्पन्न नवयुवक निर्मित हों बल्कि वे शुभ संस्कार एवं उत्तम चरित्रबल से भी समन्वित हों। उनकी दूरदृष्टि एवं कालजयी संकल्पों का प्रतिफल है कि आज न केवल राष्ट्रीय स्तर पर अपितु विश्व क्षितिज पर भी इस विश्वविद्यालय से निकले अनेक छात्र/छात्रायें अपनी यशपताकायें फहरा रहे हैं और ज्ञान एवं विज्ञान, संस्कृति एवं अध्यात्म तथा समाज एवं राष्ट्र के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इस पत्रिका में राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त अनेक विद्वानों एवं विचारकों के शोध प्रपत्र/लेख प्रकाशित होते हैं। 'प्रज्ञा' के अंक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वेबसाइट www.bhu.ac.in पर भी उपलब्ध है।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक (अंक-63, भाग 1, वर्ष 2017-18) में कुल 40 (चालीस) लेख संकलित हैं, जिनमें 31 शोध प्रपत्र/लेख हिंदी एवं संस्कृत भाषा में तथा 09 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। इस अंक में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों, हिंदी समीक्षा एवं हिंदी कविता, धर्म एवं विज्ञान, महिला कलाकार, अजंता की गुफाएँ, संगीत, पर्यावरण एवं अंग्रेजी साहित्य से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं। मुझे विश्वास है कि इन लेखों से पाठकगण अवश्य लाभान्वित होंगे।

प्रस्तुत अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम इस विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो0 गिरीशचन्द्र त्रिपाठी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके विचारों एवं वक्तव्यों से हमें पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। तदनन्तर कुलसचिव डॉ0 नीरज त्रिपाठी, वित्त अधिकारी डॉ0 श्यामबाबू पटेल एवं अन्य अधिकारियों को उनके सकारात्मक सहयोग हेतु धन्यवाद देता हूँ। संरक्षक-मण्डल एवं सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्यों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। उन विद्वान लेखकों को मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिनके शैक्षणिक सहयोग से यह अंक समृद्ध हुआ है। मैं प्रकाशक—श्री अरुण कुमार सिंह, मेसर्स गौतम प्रिंटर्स, जगतगंज, वाराणसी तथा 'प्रज्ञा' कार्यालय के सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को उनके सक्रिय सहयोग हेतु धन्यवाद देता हूँ।

**( प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय )**
सम्पादक 'प्रज्ञा' जर्नल

# प्रज्ञा

# PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 63, भाग 1

वर्ष 2017-18

*Published*
*by*
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
**Vol. 63, No. 1 (2017-18)**
**ISSN 0554-9884**

© Banaras Hindu University
**July - 2017**

All correspondence should be addressed to
The Editor PRAJÑĀ
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

*Printed at*
Gautam Printers
Jagatganj, Varanasi

# प्रज्ञा


## मुख्य संरक्षक : प्रो० गिरीश चन्द्र त्रिपाठी

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

### संरक्षक मण्डल

**प्रो० विजय कुमार शुक्ला**
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

**प्रो० रवि प्रताप सिंह**
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

**प्रो० राजकुमार**
निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

**प्रो० संध्या सिंह कौशिक**
प्राचार्य, महिला महाविद्यालय

**प्रो० मंजीत कुमार चतुर्वेदी**
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

**प्रो० आशा राम त्रिपाठी**
प्रमुख, वाणिज्य संकाय

**प्रो० राजीव संगल**
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

**प्रो० बच्चा सिंह**
निदेशक, विज्ञान संस्थान

**प्रो० कविता शाह**
निदेशक, पर्यावरण एवं सम्पोष्य विकास संस्थान

**प्रो० कुमार पंकज**
प्रमुख, कला संकाय

**प्रो० आञ्जनेय शास्त्री**
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

**प्रो० देवेन्द्र कुमार शर्मा**
प्रमुख, विधि संकाय

### सम्पादक मण्डल

**प्रो० राधेश्याम राय**
हिन्दी विभाग, कला संकाय

**प्रो० सदाशिव कुमार द्विवेदी**
संस्कृत विभाग,
कला संकाय

**प्रो० राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
राजनीति विज्ञान विभाग,
सामाजिक विज्ञान संकाय

**प्रो० देवेन्द्र कुमार**
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

**प्रो० जय शंकर झा**
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

**प्रो० एस.बी. राय**
भौतिकी विभाग, विज्ञान संस्थान

**डॉ० शत्रुघ्न त्रिपाठी**
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

**प्रो० मिथिलेश कुमार पाण्डेय**
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

**प्रो० कमल नयन द्विवेदी**
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान

### सम्पादक

**प्रो० श्रीनिवास पाण्डेय**

हिन्दी विभाग, कला संकाय

# कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी।।
बसी है गङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी। मधुर०।।

नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर।।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी। मधुर०।।

यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा।।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी। मधुर०।।

वह वेद ईश्वर की सत्यबानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी।।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी। मधुर०।।

वह मुक्तिपद को दिलानेवाले।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले।।
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी। मधुर०।।

सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी।।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी। मधुर०।।

विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन।।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी। मधुर०।।

यह मालवी की है देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति।।
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।।

**– डॉ० शान्ति स्वरूप भटनागर**

●

# विषय-सूची


1. सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'रामराज्य' का समीक्षात्मक अध्ययन 1
*शैलेश कुमार एवं*
*प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय*

2. मानव-संस्कृति के विकास के सन्दर्भ में 'कामायनी' का मूल्यांकन 8
*संध्या पाण्डेय एवं*
*प्रो0 आनन्द वर्धन शर्मा*

3. रामविलास शर्मा की दृष्टि में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा पद्धति 12
*ऋतम्भरा तिवारी एवं*
*प्रो0 बलिराज पाण्डेय*

4. जनपदीय धरती का कवि त्रिलोचन 16
*डॉ0 बृजबाला सिंह*

5. निर्मल वर्मा के यात्रा संस्मरण में जीवन और संस्कृति की खोज 23
*डॉ0 सत्यपाल शर्मा*

6. भक्ति आन्दोलन की सामाजिक उपादेयता (कबीर के सन्दर्भ में) 27
*संतोष कुमार गोंड एवं*
*डॉ0 बिपिन कुमार*

7. जयशंकर प्रसाद और उनका ब्रजभाषा काव्य 31
*डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी*

8. गद्यकार महादेवी वर्मा की सामाजिक प्रतिबद्धता 38
*डॉ0 अखिलेश कुमार दुबे*

9. मीरां के काव्य में संगीत-तत्त्व 42
*शिखा त्रिपाठी एवं*
*डॉ0 आभा गुप्ता ठाकुर*

10. धर्म का यथार्थ स्वरूप : आधुनिक परिपेक्ष्य में 46
*विवेक जायसवाल एवं*
*प्रो0 सरस्वती सिंह*

11. महिला कलाकार अर्पणा कौर का नारी के परिप्रेक्ष्य में चित्रण 50
*वन्दना तोमर एवं*
*प्रो0 ए0 के0 सिंह*

12. आंचलिक कहानियों की भावभूमि 53
*डॉ0 सुजीत कुमार सिंह*

13. अजंता की गुफाएँ एवं ''मार-विजय'' का चित्रण 57
*सत्य प्रकाश एवं*
*डॉ0 गौतम कुमार लामा*

14. धर्म एवं विज्ञान महामना मालवीय जी की अन्तर्दृष्टि के विशेष संदर्श में : एक अवलोकन 60
*डॉ0 विनीत नारायण दूबे*

15. काशी के महान साधक देवतीर्थ स्वामी 66
*डॉ0 सुमन तिवारी*

16. समकालीन उपन्यासों में दलित विमर्श 70
*डॉ0 राकेश कुमार राम*

17. धम्मपद और श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म 75
*डॉ0 अनामिका सिंह*

18. साहचर्य की शिक्षा, पर्यावरणीय परिदृश्य में 78
*डा0 हेमेन्द्र कुमार सिंह*

19. उत्तर भारतीय संगीत का विकास 83
*डॉ0 भीमसेन सरल*

20. भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण विधियां, उनका उल्लंघन एवं उपचारात्मक उपायः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 88
*डॉ0 अशोक तिवारी*

21. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय : शताब्दी वर्ष; आधुनिक नालंदा के सौ वर्ष 90
*प्रो0 सदानंद शाही*

22. अल्मा कबूतरी उपन्यास में सामाजिक परिवेश एवं नारी स्थिति 93
*टीकम चन्द मीना एवं*
*डॉ0 सत्यपाल शर्मा*

23. संस्कारों की बस्ती बी0एच0यू0 में जीवन का संक्रान्तिकाल 97
*डॉ0 माया जोशी*

24. गंगा : पर्यावरणीय दृष्टिकोण, चुनौतियाँ एवं समाधान 103
*निधि सिंह, नरेन्द्र कुमार शर्मा एवं*
*प्रो0 आर0 के0 मल्ल*

25. निजामाबाद के मिट्टी के बर्तन : दीपावली, डाला छठ और करवा चौथ के विशेष संदर्भ में 107
*राजकुमार पाण्डेय एवं*
*प्रो0 रश्मिकला अग्रवाल*

26. भारतेन्दु का नाट्यसाहित्य : यथार्थवाद के आईने में 112
*डॉ0 अनुकूल चंद राय*

27. गोपशुओं में बांझपन का निवारण 118
*डॉ0 अनिल कुमार माथुर*

28. जाति एवं नारी : समाजवादी विचारक लोहिया के विशेष संदर्भ में 123
*पूनम भारती एवं*
*डॉ0 जय सिंह*

29. कविवर त्रिलोचन का काव्य विवेक और उसके प्रमुख आयाम 126
*प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय*

30. लोकद्वयसाधनपरायणं किल दर्शनशास्त्रम् 130
*डॉ0 सिद्धिदात्री भारद्वाज*

31. साहित्यशास्त्रे काव्यप्रयोजनम् 133
*डॉ0 संजय त्रिपाठी*

32. Dramatic Technique in Poile Sengupta's Twin Plays Alipha and Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni 135
*Anindita Ganguly and*
*Prof. J.S. Jha*

33. The Historical Era of Tripitakas 139
*Bijay Megi and*
*Prof. M.R. Mehta*

34. Kautilya's concept of Trade-Administration in Ancient India 142
*Dr. Vinay Kumar*

35. Making of Mahamana 148
*Dr. Sunita Singh and*
*Prof. Parmanand Singh Yadav*

36. A reference book in Indian Musicology 153
*Ragini Singh and*
*Dr. K. Ambrish Chanchal*

37. Hepatoprotective Activity of Andrographis Paniculata (Burn.) Wall.ed.Nees 156
*Dr. Poonam Sharma,*
*Dr. Ajay Kumar Sharma and*
*Prof. K.N. Dwivedi*

38. Winter season Agricultural weeds of B.H.U. Campus and adjacent areas 158
*Somenath Das and*
*Prof. N.K. Dubey*

39. Nations in Distress: Utopian and Dystopian Possibilities in Salman Rushdie's Midnight's Children and Shame 166
*Pallabee Dasgupta and*
*Prof. M.S. Pandey*

40. Memory Deficit in Persons with Hypothyroidism 172
*Vatsal Priyadarshi Pandey,*
*Prof. Tara Singh and*
*Prof. S.K. Singh*

◆

**आवश्यक सूचना : ''प्रज्ञा'' पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेख/शोध-प्रपत्र में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।**

# सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'रामराज्य' का समीक्षात्मक अध्ययन

*शैलेश कुमार* एवं प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय***

सांस्कृतिक मूल्यों से अभिप्राय संस्कृति सम्बन्धी मूल्यों से है जिसके लिए अंग्रेजी शब्द 'कल्चरल वैल्यूज' प्रचलित है।[1] रचना की दृष्टि से संस्कृति शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु में 'सम' उपसर्ग और 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ—सम्यक् कृति या चेष्टा होता है। अर्थ-विस्तार के कारण संस्कृति शब्द का प्रयोग समाज के सम्यक् सोच और व्यवहार के लिए होने लगा। डॉ0 नगेन्द्र सांस्कृतिक मूल्यों के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि, ''सांस्कृतिक मूल्यों से अभिप्राय उन तत्त्वों से है जो सत्य के संधान और सिद्धि में सहायक होते हैं, जीवन की कल्याण-साधना अर्थात् भौतिक और आत्मिक विकास में योगदान करते हैं और सौंदर्य चेतना को जागृत एवं विकसित करते हैं।''[2] अर्थात् सत्य, शिव एवं सुन्दर—ये तीनों ही सांस्कृतिक मूल्य हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इन तीनों मूल्यों में ही अन्य सभी मूल्यों का अन्तर्भाव है। सत्य, अहिंसा, धर्म, तप, शान्ति, सहिष्णुता, करुणा, धैर्य, इन्द्रिय-निग्रह, त्याग, परोपकार, बलिदान इत्यादि साध्य-साधन मूल्य सांस्कृतिक मूल्यों के अन्तर्गत परिगण्य हैं।

सामान्य संस्कृतियों का अविरोधी रूप विश्व संस्कृति को जन्म देता है जिससे पुनः विश्वस्तरीय मानवीय मूल्यों की स्थापना होती है। रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार, ''इन व्यक्तिगत, सामाजिक, अवस्थापरक राष्ट्रगत संस्कृतियों के पश्चात्, सम्पूर्ण वसुधा को कुटुम्ब मानने वाली भी एक विश्व संस्कृति हो सकती है, जिसमें मानवता के हृदय, मस्तिष्क, हाथ और गृह के चिरन्तन मूल्यों की अभिव्यक्ति और सुरक्षा हो—मनुष्यता का कल्याण, स्वतंत्रता, सुख प्रेम आदि विश्व संस्कृति के मूल्य हो सकते हैं। भारतीय तत्त्व चिन्तकों ने वसुधा को कुटुम्ब कहा है। यही विश्व संस्कृति का निकष है। इसीलिए हम सुकरात, गैलिलियो, शेक्सपियर, दांते, रूसो, गोइथे, मार्क्स, विक्टरह्यूगो, कालिदास, अकबर, प्रेमचन्द, लू-श्यून गोर्की आदि को विश्व संस्कृति के मनुष्य तथा उनके कृतित्त्वों को विश्व संस्कृति की शाश्वत् निधि समझते हैं।''[3] विश्व स्तर पर अथवा सामान्य विश्व संस्कृति के मूल्य पुनः सांस्कृतिक मूल्य न कहलाकर मानवीय मूल्यों की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

संस्कृति एवं मूल्यों के सम्बन्धों की शाश्वतता एवं अनिवार्यता ही सांस्कृतिक मूल्यों की अस्मिता का कारण एवं औचित्य है। डॉ0 राम स्वरूप अरोड़ा के अनुसार, ''संस्कृति एवं मूल्यों के संबंध की अविच्छिन्नता सांस्कृतिक मूल्यों के अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करती है। संस्कृति और मूल्यबोध ही मानव-समाज में आदर्श-स्थितियों की स्थापना में सहायक होते हैं। बिना मूल्य-बोध तथा मूल्यों के अस्तित्व के संस्कृति का महत्व सारहीन हो जाता है और संस्कृति के बगैर मूल्यों की स्थिति व्यर्थ हो जाती है। इन दोनों के सामंजस्य से वह स्थिति निर्मित होती है जिसे सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का परिचायक कहा जाता है।''[4]

सांस्कृतिक मूल्य की मान्यताएँ, धारणाएँ एवं आदर्श व्यक्तिगत नहीं, अपितु सामाजिक आवश्यकताएँ हैं और एक नागरिक के रूप में ये सभी के पास होती हैं या होनी चाहिए। इसका प्रभाव युग जीवन पर इस प्रकार रहा है कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का जीवन इससे आलोड़ित-विलोड़ित रहे। प्रमुख सांस्कृतिक मूल्य हैं—त्याग, प्रेम, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व, मानवतावाद, नारी-गौरव, अहिंसा, युद्ध-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, संस्कार, लोकोत्सव, लोकाचार, कला-कौशल, नियतिवाद, ज्योतिष-विचार इत्यादि। चूँकि सांस्कृतिक मूल्यों का सीधा संबंध मन और मस्तिष्क के संस्कारों को परिष्कृत करने वाली मानवीय चेतना से है, अतः सांस्कृतिक मूल्यों का कलेवर अन्य मानवीय मूल्यों से बड़ा होना स्वाभाविक ही है।

संस्कृति के इस सातत्य और उसमें निहित मानव-चिंतन तथा अनुभवों के निष्कर्ष से किसी भी युग के काव्य का प्रभावित या प्रेरित होना स्वाभाविक है। सांस्कृतिक बोध से काव्य का प्रभावित होना कोई चिन्त्य विषय नहीं है, अपितु सांस्कृतिक चेतना अथवा मूल्यबोध को प्रकाशित करना काव्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। काव्य का सांस्कृतिक आधार उसे जीवनोपयोगी और मानवीय मूल्यों से मण्डित करता है। एक जागरूक सांस्कृतिक नेता होने के कारण साहित्यकार एक अथवा अनेक संस्कृतियों से जुड़े हुए प्रत्ययों का अपने चिन्तन-क्रम में साक्षात्कार करता है। श्रेष्ठ साहित्यकार का यह साक्षात्कार देश-काल से संबद्ध होने पर भी अधिक सार्वजनीन और सार्वभौम होता है। उसकी रचना में निर्मित बिम्ब अपेक्षाकृत अधिक सर्वग्राह्य सम्भावनाओं को व्यंजित करते हैं।

डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'रामराज्य' प्रबन्ध काव्य ऐसी ही रचना है जिसमें सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है। मानवीय मूल्य (सांस्कृतिक मूल्य) युग सापेक्ष होता है। अतः युगानुरूप उनकी अभिव्यक्ति भी अभीष्ट है। जैसा कि प्रबन्ध काव्य के नाम से प्रकट होता है कि कवि का मुख्य उद्देश्य रामकथा के माध्यम से रामराज्य के विविध तत्त्वों को युग के लिए पुनर्स्थापित करना है। जैसा कि कवि ने काव्य प्रणयन की प्रेरणा के रूप में पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी की इन पंक्तियों का उल्लेख किया है, ''आप सत्कवि हैं। बोलचाल की भाषा में एक काव्य लिखिए। उसका नाम रखिए रामराज्य Utopia के सदृश। काव्य नायक कल्पित हो। उसके सुप्रबन्ध का वर्णन कीजिए। उससे सिर्फ यह सिद्ध हो कि सुराज्य ऐसा है।''[5]

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005।

** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने कथा को जिस रूप में स्वीकार किया है उसका आधार वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस है। 'रामराज्य' प्रबंधकाव्य में कुल बारह सर्ग हैं। इसमें श्रीराम के परवर्ती चरित्र का निरूपण किया गया है। काव्य का आरम्भ सुमन्त्र के साथ श्रीराम के वनवास प्रसंग से होता है। राम का सुमन्त्र को विदा करना, चित्रकूट निवास, अत्रि मुनि एवं देवी अनसूया से भेंट एवं उपदेश ग्रहण करना, भरत आगमन, भरत प्रत्यागमन, पंचवटी वास, सूर्पणखा का विरूपीकरण, सीताहरण, शबरी आतिथ्य, बालिबध, हनुमान द्वारा सीता की खोज, लंकादहन, रावणबध, अयोध्या प्रत्यागमन एवं राज्याभिषेक तक के कथा वर्णन में कवि ने मुख्यतः रामचरितमानस का आधार ग्रहण किया है। श्रीराम कथा के उत्तर भाग- सीता-निष्कासन, लवकुश-जन्म, सीता-पृथ्वी-प्रवेश, राम-स्वर्गारोहण तक के प्रसंग का वर्णन वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड पर आधारित है। राजाराम के अन्य कृत्य- कुत्ते के प्रति न्याय, दुष्ट गिद्ध से उल्लू की रक्षा, शूद्र तपस्वी की हत्या भी रामायण के अनुकरण पर है।

कवि द्वारा प्रयुक्त विविध प्रसंग आधार-ग्रन्थ की अनुकृति मात्र है। अतः प्रसंगों की मौलिक उद्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता है। मौलिकता तो उन प्रसंगों के माध्यम से व्यक्त होने वाले सामयिक उद्देश्य ('रामराज्य' की स्थापना) में है जिसके निरूपण की झोंक में कवि ने कथा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

'रामराज्य' प्रबन्धकाव्य में राज्य के आदि-रूप के साथ-साथ मानवतावादी जीवन-दृष्टि का विकास मिलता है। इस काव्य में विज्ञान-युग के विकास और ह्रास, प्रगति और पतन के परिप्रेक्ष्य में नवीन राज्य की प्रतिष्ठा का आग्रह है। इसमें राष्ट्रीय एकता, शाश्वत जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा, ग्राम्य जीवन की महत्ता, पंचशील, सहकारिता आदि का युगीन पुनराख्यान हुआ है। उत्तर-दक्षिण की अभेद-स्थिति का निरूपण निश्चय ही एक नवीन अध्याय की सृष्टि करता है जो एक नये प्रयोग के रूप में उभरकर सामने आता है—

**''उत्तर दक्षिण एक हुए थे,**
**देश-विदेश भेद था टूटा।**
**सभी स्वदेशी सभी स्वबान्धव**
**स्पर्धा-भाव सभी का छूटा।''**[6]

निस्सन्देह 'रामराज्य' प्रबंधकाव्य में स्थल-स्थल पर वर्तमान की प्रतिध्वनियाँ सुनी जा सकती हैं और इस प्रकार यह काव्य अतीत के पटल पर वर्तमान के चित्र-सा प्रतीत होता है। डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति आस्थावान रहे हैं, इसीलिए अतीत के गौरवगान के साथ-साथ अपने युग की संवेदनाओं को उन्होंने 'रामराज्य' प्रबन्धकाव्य में समुचित स्थान दिया है।

हमारा सांस्कृतिक रथ दुनियाँ में सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण विश्व के जिन तत्त्वों से हुआ है, वह है—त्याग, तपस्या, तपोबल इत्यादि। त्याग का तो कुछ कहना ही नहीं यह तो हमारी समाज-व्यवस्था का एक मुख्य अंग है। इसके बिना हमारी संस्कृति का अमर होना असम्भव था। व्यक्ति, कुटुम्ब, संस्था, समाज, राष्ट्र और अखिल मानवता सभी की धारणा और संवर्धन के लिए त्याग अति आवश्यक है। त्याग करके त्याग का अभिमान न होना ही सच्चा त्याग है। हमारी संस्कृति में भोग को भी त्यागमय रूप में भोगने की बात कही गयी है। राम के रूप में हमें एक ऐसा ही त्यागमय चरित्र प्राप्त होता है जिसमें त्याग, तप, कर्म आदि सभी गुण विद्यमान है। 'रामराज्य' काव्य में राम सुमन्त से त्याग की उदात्तता स्पष्ट करते हैं—

**''नहीं भोग में किन्तु त्याग में खिलता जीवन**
**तप इच्छुक था, मुझे मिला वर ही सा कानन॥''**[7]

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन रूपी पुष्प का सर्वांगीण विकास भोग में न होकर त्याग में ही होता है। राम के व्यक्तित्व की यही महानता है कि वे वनवास की आज्ञा को भी व्यक्तित्व विकास का मार्ग स्वीकारते हुए प्रसन्न हैं। वे सत्ता के लोभी नहीं हैं।

त्याग के साथ-साथ प्रेम को भी एक उच्चतम सांस्कृतिक मूल्य माना गया है। प्रेम भौतिक भी होता है और आध्यात्मिक भी। भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच प्रेम सेतु का काम करता है। सच्चे प्रेम में भोग के स्थान पर त्याग का भाव अधिक रहता है। 'तलवार के धार पर धावनो है' प्रेम का मार्ग निश्चित रूप से अत्यन्त कष्टकर है। प्रेम मनुष्य को व्यापक और वृहत्तर मूल्यों की ओर ले जाता है। व्यष्टि और समष्टि के बीच एकात्म भाव उत्पन्न करने वाला प्रेम अहं भावना से मुक्त होता है। प्रेम मनुष्य के 'स्व' को 'पर' से जोड़ता है। सच्चा प्रेम मनुष्य में ही ईश्वर का दर्शन कराता है। वह भूमा भाव से मानवता की सेवा करता है। सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना सच्चे प्रेम की निशानी है। मानव और ईश्वर में भेद करना सच्चे प्रेम को स्वीकार्य नहीं है। डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र ने लिखा है—

**''प्रतिमानव में प्रभु रहता है, उसे सप्रेम जगायें हम**
**भूमा भाव भूमि पर छाये सुख बांटे सुख पायें हम।''**[8]

भारतीय चिन्तनधारा में उदारमना रही है। वह भारत को उसके अखण्ड रूप में देखना चाहता है। हमारी सांस्कृतिक चेतना भारत तक ही सीमित न होकर अखण्ड विश्व तक फैली हुई है। उत्तर और दक्षिण विभक्त होकर देश में मानसिक तनाव न बढ़ावें, देश और विदेश में भारत की प्रतिष्ठा बढ़े इस हेतु स्वातंत्र्योत्तर रामकाव्य सतत जागरूक है। अखण्ड भारत की स्थापना हेतु स्वातंत्र्योत्तर रामकाव्य सचेष्ट है। यह अखण्ड भारत हम सबका पूज्य है।

'रामराज्य' काव्य में जनक द्वारा किया गया राष्ट्र यज्ञ एकत्व बोध का ही प्रतीक है। कवि की कल्पना एक राष्ट्र की कल्पना है। गणतंत्र की स्थापना उसका प्रमुख उद्देश्य है। भारत की अखण्डता की निरन्तरता उत्तर-दक्षिण के समन्वय से ही सम्भव है—

**''उत्तर की महिमा दक्षिण से, दक्षिण की महिमा उत्तर से**
**उत्तर-दक्षिण में एक ज्योति ही जलती है।**

**उत्तर दक्षिण का हृदय और मस्तिष्क एक सा प्रभापूर्ण,**
**दोनों मानव हैं दिव्य सभ्यता गृह के।''[9]**

उत्तर-दक्षिण का समान विकास अपेक्षित है दोनों में कोई अन्तर नहीं है। राम का दक्षिण जाना अनार्यों के मध्य आर्य संस्कृति का ही प्रचार-प्रसार करना था। राष्ट्र में एकसूत्रता आ जाने से मानवता में दिव्यता का समावेश हो जाता है।

डॉ0 मिश्र ने जिस राष्ट्रीयता की परिकल्पना की है वह प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता आदि संकीर्ण भावनाओं से ऊपर है। हमारा राष्ट्र अनेक संस्कृतियों का संयुक्त स्वरूप है। यदि अपने देश की संस्कृति को शतदल कमल कहा जाय और उसकी प्रत्येक पंखुड़ी को अलग-अलग संस्कृति का प्रतीक माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। तात्पर्य यह कि हमारे देश की एक विराट सांस्कृतिक चेतना है। जब तक हम अपने छोटे स्वार्थ का परित्याग कर बड़े स्वार्थ से अपने को संबद्ध नहीं करते तब तक उचित संस्कृति का विकास नहीं हो सकता और न एक सच्ची राष्ट्रीयता ही उभर सकती है—

**''यदि हो विरोध राष्ट्र स्वार्थ में व्यक्ति स्वार्थ में**
**तो राष्ट्र हित में व्यक्ति हित का स्वार्थ त्याज्य है।''[10]**

इस प्रकार हम देखते हैं कि समीक्ष्य कृति 'रामराज्य' में भी राष्ट्रीयता के प्रति जागरूकता है।

यद्यपि वसुधैव कुटुम्बकम की भावना की स्थापना प्राचीन भारतीय मनीषियों ने की थी और सम्पूर्ण पृथ्वी को एक परिवार माना था, किन्तु जिस प्रकार वास्तविक राष्ट्रीयता आधुनिकता की देन है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता भी आधुनिक युग की ही उपज है। आज विश्व एक कमरे में सिमट हो गया है। सभी राष्ट्रों का स्वार्थ एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। उपनिवेशवाद की समाप्ति ने अन्तर्राष्ट्रीयता को और प्रबल बनाया। अब राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं रह गया है। राष्ट्रीयता ही वह सोपान है जिस पर चढ़कर हम अन्तर्राष्ट्रीयता तक पहुँच सकते हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हो गये हैं। विश्व कल्याण के लिए संकुचित राष्ट्रीयता का परित्याग आवश्यक है। सही राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता का कोई विरोध नहीं है। हम बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की चिन्ता किए अपना राष्ट्रीय उत्थान नहीं कर सकते।

समीक्ष्य प्रबन्धकाव्य 'रामराज्य' में भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही विश्वबन्धुत्व एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का प्रतिपादन किया गया है। वह राजा ही सच्चा शासक है जो कौटुम्बिकता की बलि देकर विश्व को ही कुटुम्ब मानता है—

**''कौटुम्बिकता की बलि देकर जिसने विश्व कुटुम्ब सजाया**
**वह सर्वस त्यागी नेता ही सच्चा लोकपाल कहलाया।''[11]**

इस प्रकार समीक्ष्य काव्य में सांस्कृतिक चेतना अपने उच्चतम सांस्कृतिक आदर्शों- अखण्डता, विश्वबन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीय संचेतना के साथ व्यक्त हुआ है। कवि व्यक्ति-स्वार्थ को महत्व न देकर विश्व-स्वार्थ को महत्त्व देता है अर्थात् महत् के लिए अल्प का त्याग, त्याग का आदर्श समुपस्थित करता है।

संस्कृति के बदलते मूल्यों में मानवतावाद का उदय हुआ। मानवतावाद ईश्वर, नियति तथा परलोक के स्थान पर मानव के मौलिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा में विश्वास रखता है। मानवतावादियों के अनुसार, जीवन का चरम प्रतिपाद्य मानव का लौकिक अस्तित्व ही है। वे मानते हैं कि, ''सम्पूर्णतम मनुष्य ही मनुष्य का प्रतिमान है। इसके लिए मानवतावादियों ने एक ओर मानवोपरि दिव्य सत्ता का विरोध किया और दूसरी ओर अमानवीय यांत्रिकता का।''[12] भारतीय चिन्तनधारा में मानव के चरम अस्तित्व की प्रतिष्ठा की गई है। महाभारतकार के अनुसार, ''गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाश्रेष्ठतरं हि किंचित।''[13] अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, यही परम रहस्य है।

डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र मानवतावादी कवि हैं। उनका मानवतावाद राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीयता को स्पर्श करता है। उन्होंने पूरी आस्था के साथ मनुष्य को पहचाना है, उसके संबंधों को स्वीकारा है और मानवतावाद के संदर्भों में लोक-कल्याण को प्रस्तुत किया है। कवि भूमिका में लिखता है, ''.....राम को मैंने प्रभु अवश्य कहा है, परन्तु उनके चरित्र और क्रिया-कलाप में मानवीय मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है।''[14] राम के शब्दों में—

**''क्यों मेरा बंधुत्व अवध की सीमा में आबद्ध रहे-**
**क्यों न विश्व का मानव, खग-मृग तक, मुझको निज बंधु कहे?''[15]**

स्पष्टतः मिश्र जी का 'रामराज्य' काव्य वर्तमान जीवन की समस्याओं और संदर्भों को सृजन की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार करता है।

अन्य क्षेत्रों की भाँति आधुनिक युग में नारी में भी एक नवीन चेतना का समुदय हुआ है। समाज सुधारकों ने स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से जन समुदाय ने स्त्रियों के प्रति करुणा तथा उदारता का दृष्टिकोण अपनाया। नारी को पुरुष के समान अधिकार ही प्राप्त नहीं हुए उसे श्रद्धेय और पूज्य का स्थान भी दिया गया। गाँधी जी के विचारों ने इस दिशा में और भी तीव्रता से परिवर्तन किया। उनके विचार में नारी अबला न होकर लोकहित करने वाली शक्ति से युक्त है। ''स्त्री स्वभाव से ही कोमल और धार्मिक वृत्ति की है और जहाँ पुरुष श्रद्धा खोकर ढीला पड़ जाता है अथवा गलत हिसाब करने में उलझ जाता है वहाँ स्त्री धीर गति से सीधे मार्ग पर जाती है।''[16]

'रामराज्य' में नारी पुरुष की शक्ति के रूप में वर्णित की गयी है तथा दोनों का सहयोग जगत के क्रिया-कलाप के लिए अपेक्षित है—

**''तत्व यदि नर है नारी शक्ति कहा ऋषि पत्नी ने यह आप**
**उभय का जब होता सहयोग, जगत का चलता कार्यकलाप।**
**बुद्धि है नर तो नारी भाव, इष्ट हो नर को जग कल्याण**
**किन्तु है नारी का यह धर्म करे वह उत्तम नर निर्माण**

× × × ×

**''वही जाता, वह पत्नी-सुता उसी का है आधा संसार।**
**शेष की निर्मिति उस पर टिकी बड़ा है उसका यह अधिकार**
**एक होकर भी हैं कुछ भिन्न जगत में नर नारी के धर्म।''**[17]

इस प्रकार वर्तमान में नारी की स्थिति में काफी परिवर्तन आया और उसको सम्मान जनक स्थान प्रदान किया गया। समाज में उसकी स्थिति सम्माननीय मानी जाने लगी।

नारी में गरिमा और तेजस्विता की जागृति ब्रह्म समाज और आर्य समाज के सामूहिक प्रयासों से हुई। नारी को पुरुष के समान ही स्वत्व प्रदान किया गया। शिक्षा-दीक्षा द्वारा उसके प्राणों में यह स्फूर्ति उत्पन्न की गयी कि नारी अबला नहीं अपितु वह मानव जीवन की आधारशिला है।

नारी स्वातंत्र्य पर स्वातंत्र्योत्तर प्रबंधात्मक रामकाव्यों में दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं। एक तो परम्परागत है जिसमें नारी का कार्य क्षेत्र गृह ही बतलाया गया है तथा दूसरी वर्तमान नारी-जागरण-आन्दोलन से प्रभावित है जिसमें नारी की पराधीनता के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है—

**''जिस पर चलकर हम सीता को देखें कर दें उसे स्वतंत्र।**
**भारतीय नारी न रहेगी कैदी बँधी विदेशों में परतंत्र।**
**जन-शासक होकर अबला का हरण किया, कुत्सित अन्याय।**
**प्रायश्चित कर लो कुछ जिसमें क्षोभ सभी का कुछ मिट जाय।''**[18]

जीव मात्र के प्रति दया भाव से अहिंसा का जन्म होता है। ''अहिंसा से तात्पर्य मात्र किसी का वध करने से ही नहीं है अपितु, दूसरे की आत्मा को किसी भी माध्यम से पीड़ित न करने का दूसरा नाम अहिंसा है।''[19] वस्तुतः अहिंसावादी सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का स्वर भारतीय संस्कृति में सर्वदा से गुंजायमान रहा है। बौद्ध दर्शन में पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और नशे का सेवन न करना) के अन्तर्गत प्रथम स्थान अहिंसा को ही प्राप्त है। अहिंसा के शाब्दिक अर्थ द्वेष-वैर को ही प्रतिपादित नहीं करती है अपितु चराचर में प्रेम का सन्देश फैलाती है।

डॉ0 मिश्र ने 'रामराज्य' में अनेक स्थान पर अहिंसा की चर्चा की है। वनवासी राम, लक्ष्मण और सीता को परम अहिंसा-पथी बताकर कवि ने अहिंसावाद का बिगुल बजाया है। उन्होंने वनवासी रामादि के स्वरूप का परिचय देते हुए स्पष्ट कहा है—

**''साधु तपस्वी रूप हुए थे वे वनचारी,**
**परम अहिंसा-पथी, सिद्ध सेवा व्रतधारी।''**[20]

अहिंसा सम्बन्धी अवधारणा के संबंध में डॉ0 मिश्र गाँधीवाद से प्रभावित हुए हैं। गाँधीवाद में सत्य, अहिंसा, धर्म, अस्पृश्यता निवारण, देश-प्रेम इत्यादि विचार मिलते हैं। कवि पौराणिक कथा को आधार बनाकर नवीन मूल्यों तथा संवेदनाओं के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता का स्वर भरता है तो कहीं न कहीं गाँधी जी के अहिंसादि भाव स्वयमेव काव्य में प्रवेश कर जाते हैं। जैसे गाँधी जी ने अहिंसा से भारत की आजादी प्राप्त की, मिश्र जी ने भी अहिंसा का तो नहीं निःशस्त्रीकरण का थोड़ा सा चित्र राम द्वारा दिये गये रावण के प्रति इस संदेश में खींचा है, जिसमें वे रावण से पथ की एक लकीर मात्र चाहते हैं, गाँधी जी के अहिंसावादी सिद्धान्त को ही मान्यता देना है—

**''तब प्रभु ने अंगद को भेजा उसके सुहृदय पुत्र तुम वीर।**
**जाकर कहो कि चाह रहे हम केवल पथ की एक लकीर।**
**जिस पर चलकर हम सीता को देखें कर दें उसे स्वतंत्र।**
**भारतीय नारी न रहेगी कैदी बँधी विदेशों में परतंत्र।**
**जन-शासक होकर अबला का हरण किया, कुत्सित अन्याय।**
**प्रायश्चित कर लो कुछ जिसमें क्षोभ सभी का कुछ मिट जाय।''**[21]

इस संदेश में स्पष्ट ही गाँधी-आन्दोलन के विचारों की छाप है।

युद्ध के आसन्न अवसर व परिणाम तथा शांति की स्थापना जैसे प्रश्नों ने प्रत्येक युग के रचनाकारों, चिंतकों, बुद्धिजीवियों आदि को प्रभावित किया है। बीसवीं शताब्दी में विश्व ने और भारत ने अनेक भीषण युद्ध व युद्ध-जन्य त्रासदियों को भोगा है। इन युद्धों ने भारत के लोकतंत्रात्मक शासन व भारतीय जन की नियति पर प्रश्न चिन्ह अंकित कर दिये। यही कारण है कि युद्ध के औचित्य एवं अनौचित्य के विषय में जैसा व्यापक चिंतन स्वातंत्र्योत्तर काव्य में हुआ है, वैसा पहले दृष्टिगत नहीं होता। युद्ध के वैचारिक पक्ष की काव्यात्मक अभिव्यक्ति निश्चय ही आधुनिक युग की विशिष्ट देन है। 'रामराज्य' काव्य में कवि ने युद्ध और शान्ति की समस्या को आधुनिक संदर्भ में अभिव्यक्त किया है तथा इस समस्या को लेकर नयी दृष्टि दी है। कवि की यह रचना युद्ध के दुष्परिणामों और निरर्थकता का बोध कराती हैं, किन्तु उसकी सार्थकता और प्रासंगिकता को भी स्वीकारती है। युद्ध की सार्थकता और स्वीकरण के सन्दर्भ में कवि ने तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं।

समीक्ष्य काव्य में कवि सनातन ज्वलन्त समस्या युद्ध और शान्ति का हल ढूँढ़ने का प्रयास करता है। बिना शान्ति के मनुष्य-जीवन में सुख नहीं आ सकता। इसी शान्ति की खोज में वह युग-युग से प्रयत्नशील रहा है। वस्तुतः युद्ध का अर्थ विनाश नहीं है। युद्ध यदि सृजन के लिए किया जाता है तो वह श्रेयस्कर है। अस्त्रों का निर्माण ध्वंस के लिए नहीं अपितु कल्याण के लिए होना चाहिए। युद्ध को सदैव टालना चाहिए किन्तु युद्ध जब सम्मुख आ उपस्थित हो तो उससे कभी भी पीछे नहीं हटना चाहिए। पीछे हटना कायरता का प्रतीक है। न्याय के रक्षार्थ यदि युद्ध आवश्यक हो तो वह सहर्ष स्वीकार्य है। इस विचारधारा का ही पोषण 'रामराज्य' काव्य में किया गया है-

**''युद्ध टालना सदा योग्य है, पर यदि आ पहुँचे सिर पर**
**तो उसके सम्मुख नत होते वे ही जो हैं कायर नर।''**[22]

समीक्ष्य काव्य में युद्ध-सम्बन्धी चिंतन, आधुनिक युग-चिंतन का स्वाभाविक परिणाम है जिस पर आधुनिक युग के राजनैतिक चिंतन, सविनय-अवज्ञा, सत्याग्रह, अहिंसात्मक आन्दोलन इत्यादि का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। जिस युग ने गाँधी जैसा अहिंसक चिंतक दिया, वही

युग तिलक, लाला लाजपत राय, भगत सिंह जैसे क्रांति-चिंतकों का भी है। अस्तु, समीक्ष्य काव्य में दोनों के लिए अवकाश है।

राज्य में समुचित व्यवस्था हेतु न्याय एक अनिवार्य सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य है। कर्मों के सत्यासत्य का निर्धारण करने एवं अपराध के उन्मूलन हेतु अपराधियों को दण्डित करने की व्यवस्था इसी मूल्य पर आधारित है। न्याय ही वह कठोर और पुख्ता नींव है जिस पर व्यवस्था के भवन की दृढ़ता और अवधि निर्भर करती है। किसी भी राज्य में न्याय-व्यवस्था के सुदृढ़ होने का अर्थ है राज्य में अपराध-नगण्यता। न्याय में लगा समय और धन न्याय-व्यवस्था की कसौटी होते हैं। शीघ्र और कम व्यय में उपलब्ध होने वाला न्याय श्रेष्ठ न्याय-व्यवस्था का द्योतक होता है। डॉ0 मिश्र ने 'रामराज्य' प्रंधकाव्य में ऐसी ही श्रेष्ठ न्याय-व्यवस्था की अवधारणा प्रस्तुत की है। अगस्त्य ऋषि राम से कहते हैं कि—

**''न्याय वितरण हो न मँहगा, हो न उसमें देर।**
**काम्य है सुख-शांति, काम्य न पुस्तकों का ढेर॥''[23]**

कवि की उपर्युक्त पंक्तियों का भाव यही है कि सरकार को जनता के सुख-शान्ति को ध्यान में रखकर ही न्याय-व्यवस्था बनानी चाहिए।

स्वस्थ सामाजिक रचना के लिए समाज के नागरिकों का सुसंस्कृत होना अनिवार्य है। संस्कारों से युक्त मानव इस भू को ही स्वर्ग बनाने की कल्पना करता है। संस्कारों का उद्देश्य है संस्कृत जीवन का निर्माण। संस्कृत जीवन का अर्थ है उन्नत, उदात्त, दिव्य जीवन, मानवता का परिष्करण इत्यादि। संस्कारों का अपना आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्व होता है। एक-एक व्यक्ति समाज का एक-एक घटक है। जैसे कई घटकों के व्यवस्थित एकत्रीकरण से व्यक्ति का निर्माण होता है वैसे ही संस्कृत व्यक्तियों के संगठन को शिष्ट समाज की संज्ञा प्राप्त होती है।

संस्कारों का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति में दैहिक, मानसिक एवं बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सके। भारतीयों के नैतिक स्तर को उठाने में ये संस्कार विशेष उपयोगी हैं। संस्कारों की संख्या में मतभेद है। कुछ आचार्य दस संस्कार और कुछ षोडश संस्कार मानते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रामकाव्यों में भी प्रचलित कुछ संस्कारों का वर्णन मिलता है। यथा- नामकरण, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, संन्यास, अन्त्येष्टि आदि। डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र ने राष्ट्र कल्याण हेतु और व्यक्ति कल्याण हेतु भारतीयों के लिए आठ संस्कारों को परिगणित करते हुए उनके महत्त्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

**''राष्ट्र कल्याण हेतु व्यक्ति कल्याण हेतु भी**
**भारतीय सदा होवें अष्ट संस्कारवान यहाँ**
**संस्कारों का बड़ा मूल्य, राष्ट्र संवर्धनार्थ है**
**अतः जाग्रत हो राष्ट्र इनके सम्प्रयोग में।''[24]**

आधुनिक रामकाव्यों में उत्सवों का वर्णन प्रायः एक-सा है। वही वन्दनवार, कलश, स्तम्भ दीपमालिका, पताकाएँ, सुगन्धित द्रव्य, ललनाओं के गीत, वाद्य आदि सब में दिखाई देते हैं जो परम्परा से प्राप्त हैं।[25] पर्व पर हर्षोल्लास से सम्पूर्ण वातावरण भी उल्लसित दिखलाई पड़ता है। आजकल मेले, पर्व, सम्मेलन इत्यादि में जनता एक-दूसरे से द्वेष, वैमनस्य की भावना निकालती है। अतः इन मेलों आदि की सामूहिक भीड़ में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता वर्णित करते हुए कवि मेले, सम्मेलन आदि में प्रेम और सद्भावना की स्थापना का आदर्श रखता है—

**''मानवोत्थानकारी जो मेले सम्मेलनादि हों**
**उनमें प्रेम से जाना पुण्य पर्व महान है।''[26]**

इस प्रकार कवि परम्परित लोकोत्सवों का वर्णन करते हुए यथास्थान उसे नव परिवेश में विकसित और चिंतन से जोड़ने का भी प्रयास किया है।

समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों एवं लोक-व्यवहारों का किसी भी संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जाति के संगठन में इन मान्यताओं का बहुत योगदान रहता है। स्वातंत्र्योत्तर प्रबंधात्मक रामकाव्यों में समाज में सर्वत्र प्रचलित रीति-रिवाजों एवं लोक-व्यवहारों का वर्णन मिलता है जिससे हमारी वर्तमान संस्कृति का स्वरूप और अधिक स्पष्ट होता है।

लोकाचारों के अन्तर्गत कवियों ने समाज की उन प्रथाओं का वर्णन किया है जो प्रायः सभी वर्गों में मिलती है। लोक-विश्वास है कि मधु मिश्रित दधि और दुग्ध पान कराने से श्रम का परिहार हो जाता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चलने वाले समस्त लोकाचारों पर इन कवियों की दृष्टि गई है। मृत्यु-पश्चात व्यक्ति की आत्मा की शान्ति हेतु किये जाने वाले श्राद्ध कर्मों के प्रति इनकी अवधारणा पारम्परिकता को तार्किकता और विवेक से संयुक्त कर प्रस्तुत करने की रही है। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात उसकी आत्मा की शान्ति हेतु श्राद्ध विहित कर्म है किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युग में इसको उस रूप में नहीं स्वीकारा गया है। अपितु श्राद्ध की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

**''श्राद्ध का सार है श्राद्ध वही कल्याण कारिणी,**
**दोनों को सुख देती है वह अन्त्येष्टि कर्म में।**
**कुटुम्ब का बड़ा धर्म, अवश्य श्राद्ध वे करें,**
**सर्वोच्च श्राद्ध है लोक संस्था के हित दान ही।''[27]**

भारतीय विद्वान कला को वस्तु का रूप सँवारने वाली विशेषता कहते हैं। मानवीय संवेदना की लालित्यमयी अभिव्यंजना ही कला है। मनुष्य अनन्त होता हुआ शान्त है और पूर्ण होता हुआ भी अपूर्ण है। इस अपूर्णता से पूर्णता और बिन्दु से सिन्धु की कामना में कला मानव को एक स्थायी सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई है। ललित कला के पाँच भेदों (वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीतकला एवं साहित्यकला) का विशद् निरूपण साहित्यशास्त्र-ग्रन्थों में किया गया है। ललित कला वह कला है जिससे सौन्दर्य की अनुभूति हो, आनन्द की प्राप्ति हो। भारतीय कला का आरम्भ धर्म में होता है। भारतीय संस्कृति के अनुकूल

ही बाह्य की अपेक्षा हमारे कलाकारों का ध्यान अन्तर की ओर रहा है। भारतीय कलाकार कलाकृति द्वारा भावाभिव्यक्ति करना अपना ध्येय समझते हैं। वे भाव रूप आत्मा को स्थूल आकार देना चाहते हैं। कलाकृतियाँ, रीति-रिवाज, पर्व और उत्सव भी हमारी संस्कृति के परिचायक हैं। हमारी संस्कृति के विराट स्वरूप के ये अंग हैं।[28]

अन्य ललित कलाओं की तरह भारतीय वास्तु कला अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारत में भवन-निर्माण को साधारण शिल्प से ऊपर माना गया है।[29] इमारतों में उपयोगिता के साथ-साथ कलात्मकता भी अपेक्षित समझी गयी है। स्थापत्य भवन-निर्माण कला है। समय के साथ-साथ सभ्यता के विकास में भी परिवर्तन आया। संघटित जीवन की परम्परा आरम्भ हुई जिसने गाँवों, पुरों और नगरों को जन्म दिया। डॉ0 मिश्र कृत 'रामराज्य' में वर्तमान ग्रामों तथा नगरों की स्थापत्य कला की प्रतिच्छाया स्पष्ट अंकित है। उनके यहाँ ग्राम आदर्श कलात्मक चेतना के आदर्श हैं—

**''मिट्टी के घर, किन्तु स्वच्छ सुन्दर सुविधामय**
**सब ऋतुओं के लिए सुखद अति उत्तम आश्रय**
**आँगन पर हवादार कमरे मन भाए**
**पशुओं के थे गोष्ठ अलग अति स्वच्छ सुहाए।''**[30]

क्रमशः शिल्प कौशल के परम आदर्श बतलाते हुए मिश्र जी कहते हैं कि नगरों, ग्रामों में फलशाली वृक्ष, जल-कूप आदि की व्यवस्था थी तथा पंक्तिबद्ध भवन बने थे, विद्युत की भाँति घर प्रकाशवान थे। चौड़े-चौड़े पथ बने हुए थे तथा सीधी-सादी नालियाँ बनाई जाती थीं। ध्वजा, पताका, वन्दनवारों से राजपथों को सुसज्जित किया जाता था। भवन अति उच्च बनाये जाते थे जो परिणाम में वृहत् तथा हवादार थे। ये भवन स्वच्छ तथा अत्यन्त सुन्दर बनाये जाते थे जिनमें सुन्दर उद्यान भी होता था—

**''भवन व्योम से बातें करते पर विस्तृत हवादार थे**
**एक रूप ही पंक्तिबद्ध वे स्वच्छ सुघर सौन्दर्य सार थे**
**चौड़े निर्मल राजपथों से प्रथित विविध उद्यानों मण्डित**
**स्वादु जलाशय पूर्ण ज्योतिमय थे सबके सब नगर अखण्डित।''**[31]

इस प्रकार इन वर्णनों को पढ़कर आधुनिक नगरियों का भव्य चित्र सम्मुख आ उपस्थित होता है, जहाँ छतों पर, छज्जों पर भीड़ सड़क पर कुछ देखने उमड़ आती है।

भविष्य फल जानने की जिज्ञासा ने ही संभवतः ज्योतिष विद्या को जन्म दिया है। किस घड़ी, नक्षत्र के सुयोग में किया गया कार्य सुपरिणामी होता है इत्यादि की जानकारी हेतु भी ज्योतिष विद्या समाज में स्थान बनाए हुए है। ज्योतिष के अनुसार प्रत्येक शुभ कार्य अथवा संस्कार आदि के लिए ज्योतिषों को बुलाकर शुभ मुहूर्त आदि जानने का प्रयत्न भारतीय समाज में सदा से होता आया है।

आज भी लोग बालक अथवा बालिका के जन्म के बाद उसके ग्रहों के फलादेश को जानने हेतु 'कुण्डली' बनवाते हैं। विज्ञान के इस युग में भी ज्योतिष विद्या का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ है और उसकी वैज्ञानिकता पर अब विद्वतवर्ग भी संतुष्ट हो रहा है; किन्तु ज्योतिष विद्या के साथ-साथ यदि मनुष्य अपने आपको भी जान ले तभी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। 'रामराज्य' काव्य में कवि ऐसी विद्या, ऐसे ज्ञान को थोथा समझता है जो अपने आपको समझने पर बल न देता हो—

**''जान नक्षत्रों को यदि दिया, आप अपने से रहे अजान,**
**बुद्धि में भरा तर्क विस्तार, किया संकीर्ण हृदय का मान।**
**ग्रन्थ के बोध, पन्थ के बोध, खो गई जिनमें मन की शान्ति,**
**ज्ञान की साक्षरता वह कौन, ज्ञान है वह तो केवल भ्रान्ति।''**[32]

भारतीय संस्कृति में नियति की प्रधानता रही है। दैव, भाग्य, नियति, अदृष्ट आदि उसी के पर्याय हैं। नियति को निरंकुश कहा गया है जिसके हाथों में मनुष्य एक खिलौना मात्र है। आधुनिक रामकाव्यों में नियति संबंधी दो विचारधाराएँ मिलती हैं। एक में तो नियति को कोई मिटा नहीं सकता जो भवितावयता है वह होकर ही रहेगी और दूसरी विचारधारा ब्लीक इसके विपरीत है जो नूतन बौद्धिक चेतना जन्य है तथा पश्चात्य प्रभावित भी है। 'रामराज्य' काव्य में नियति के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। नियति आदि शक्ति तथा दासत्व न स्वीकार करने वाली है। वह आद्य शक्ति है, उसी के नियमों पर आधृत होकर संसार के क्रिया-कलाप चला करते हैं—

**''बात सत्य है मनुज नियति का केवल एक खिलौना है**
**आदि शक्ति है नियति उसी के नियमों पर अटका संसार**
**उन्हें समझ उन पर जय पाना, उसके प्रिय सुत का अधिकार।''**[33]

वह अटल है जिसने कभी भी इस करुण विश्व को छूट नहीं दी है। प्रायः सभी कवियों ने नियति को प्रबल माना है। होनी को कोई टाल नहीं सकता अतः दैवी निर्णय का स्वागत कर प्रत्येक परिस्थिति में जीवन निर्वाह करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस क्रूर नियति की कुगति कितनी कङ्गोर है इसको कोई नहीं जानता। व्यक्ति सोचता तो कुछ और है किन्तु फल कुछ और ही मिलता है। यह नियति, यह दैव विधान किसी के कुछ समझ में नहीं आता है। इसके दमनचक्रों को देखकर किसका मन भीति युक्त नहीं होता। नियति की गाज जब व्यक्ति पर गिरती है तो यत्न जहाज क्षण भर में डूब जाता है। कवि का ऐसा विश्वास है कि देह में प्राणाधान होने के पूर्व ही भाग्य लिपि का निर्माण हो जाता है। नियति के अधीन ही मनुष्य के समस्त व्यापार होते हैं। इस कङ्गोर, कुटिला, क्रूरा नियति के हाथों मनुष्य को अपने को नहीं सौंपना चाहिए अपितु उन्हें समझ अपने प्रयत्नों, कर्मों और पुरुषार्थ से समग्रतः जीतना चाहिए।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव के नैतिक आदर्शों को परिभाषित करने वाली सर्वाधिक जीवंत शक्ति है। इसमें मानव जीवन के लगभग सभी क्रिया-कलाप जो सत्य, शिव और सुंदर से युक्त तथा मानव सापेक्ष है आ जाते हैं। इसका प्रभाव युग जीवन पर इस प्रकार रहा है कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का जीवन

इससे आलोड़ित-विलोड़ित रहा है। डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र इससे अछूते नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी कृति 'रामराज्य' में सत्य, शिव और सुन्दर से युक्त विविध सांस्कृतिक मूल्यों यथा—त्याग, प्रेम, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व, मानवतावाद, नारी-गौरव, अहिंसा, युद्ध और शान्ति, न्याय-व्यवस्था, संस्कार, लोकोत्सव, लोकाचार, कला-कौशल, नियतिवाद, ज्योतिष-विचार इत्यादि की युगानुरूप सशक्त अभिव्यक्ति दी है। यह उल्लेखनीय है कि इस काव्य में अभिव्यक्त सांस्कृतिक मूल्य मूलतः भारतीय हैं। इन सांस्कृतिक मूल्यों में न तो पूर्णतः अतीतजीवी होने का भाव है और न रूढ़िवादी संकीर्णता है। फलतः अतीत के गौरवगान के साथ-साथ युगीन संवेदनाओं को काव्य में समुचित न्याय मिला है। इस प्रकार यह कृति भारतीय जीवन के विविध पक्षों को रूपायित करती हुई, भारतीय संस्कृति को नया अर्थगौरव देती हुई, आज के संकटग्रस्त मनुष्य को आत्मबल प्रदान करती है और भविष्य में भी यह जीवन के सम्मुख उत्पन्न विकट प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ होगी। आने वाला कल इस कृति के माध्यम से अपना मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

## संदर्भ


1. हरदेव बाहरी (संपा0) : बृहत् अंग्रेजी-हिन्दी कोश (भाग-2), ज्ञानमण्डल लि0, वाराणसी, 1969 ई0, पृ0 1260 तथा फादर कामिल बुल्के : अंग्रेजी-हिन्दी कोश, काथलिक प्रेस, रांची, 1978 ई0, पृ0 151
2. डॉ0 नगेन्द्र : नयी समीक्षा : नए संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, द्वि0सं0 1974 ई0, पृ0 79
3. रमेशकुंतल मेघ : मन खंजन किनके, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985 ई0, पृ0 237
4. डॉ0 राम स्वरूप अरोड़ा : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में सांस्कृतिक मूल्य का विघटन, निर्माण प्रकाशन, दिल्ली, 1986 ई0, पृ0 57
5. डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र : रामराज्य, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, द्वि0सं0 1972 ई0, भूमिका से
6. वही, पृ0 138
7. वही, पृ0 30
8. वही, पृ0 23
9. वही, पृ0 15
10. वही, पृ0 127
11. वही, पृ0 114
12. धीरेन्द्र वर्मा (संपा0) : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञान मण्डल लि0, वाराणसी, 1963 ई0, पृ0 269
13. महाभारत, शान्ति पर्व, 180/12, गीताप्रेस, गोरखपुर
14. डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र : रामराज्य, भूमिका से
15. वही, पृ0 14
16. कि0ला0 मशरुवाला—गाँधी विचार दोहन, पृ0 40
17. रामराज्य, पृ0 39
18. वही, पृ0 48
19. डॉ0 रमेश चन्द्र शर्मा : हिन्दी साहित्य : सांस्कृतिक आधार भूमि, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्र0सं0 1980 ई0, पृ0 21
20. रामराज्य, पृ0 46
21. वही, पृ0 99
22. वही, पृ0 59
23. वही, पृ0 71
24. वही, पृ0 209
25. डॉ0 परमलाल गुप्त : हिन्दी के आधुनिक रामकाव्य का अनुशीलन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र0सं0 1973 ई0, पृ0 303
26. रामराज्य, पृ0 112
27. वही, पृ0 112
28. बाबू गुलाबराय : भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ0 26
29. श्री कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय वास्तुकला का इतिहास (प्राक्कथन)
30. रामराज्य, पृ0 26
31. वही, पृ0 124
32. वही, पृ0 40
33. वही, पृ0 12


◆

# मानव-संस्कृति के विकास के सन्दर्भ में 'कामायनी' का मूल्यांकन

*संध्या पाण्डेय* एवं प्रो0 आनन्द वर्धन शर्मा***

'संस्कृति' शब्द संस्कृत के 'कृ' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय और 'सम्' उपसर्ग को जोड़कर बना है जिसका अर्थ है—भूषणभूत सम्यक् कृति, सुधरी हुई स्थिति, उत्तम कार्य, आचरणगत परम्परा आदि। संस्कृति शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। यजुर्वेद में 'संस्क्रियते मानवः अनया इति संस्कृति' कहकर उसे सदाचार के रूप में व्यक्त किया गया है। संस्कृति वस्तुतः एक मानवीय कृति है जो बुद्धि, स्वभाव, अनुभव, संस्कार तथा कर्म से निर्मित होती है। यह मानव जीवन को नियंत्रित तथा व्यवस्थित करती है। संस्कृति के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद जी का कहना है कि ''संस्कृति बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं, क्योंकि उसका उपयोग तो मानव समाज में आरम्भिक प्राणित्व धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने में होता है।''[1] इन मनोभावों के अनुसार संस्कृति के प्रमुखतः तीन भेद हैं—देव-संस्कृति, दानव-संस्कृति तथा मानव-संस्कृति। उपरोक्त संस्कृतियों में मानव-संस्कृति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, क्योंकि मानव-संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है जिनमें मानवता के विविध गुणों जैसे—दया, माया, ममता, परोपकारिता, निःस्वार्थ सेवाभाव आदि का समावेश हो तथा जो अपने पुरुषार्थ से सभी कार्यों को करने में पूर्ण समर्थ हो।

मानव-संस्कृति के इसी स्वरूप तथा उसके विकास की महागाथा को 'कायामनी' में जयशंकर प्रसाद जी ने प्रस्तुत किया है। 'कामायनी' आधुनिक युग का श्रेष्ठ महाकाव्य है तथा प्रसाद के जीवन भर की साधना की परम सिद्धि है। इस महाकाव्य का प्रकाशन सन् 1935 ई0 में हुआ। यह मानव-संस्कृति के विकासात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करने वाली कृतियों में अग्रणी है। पन्द्रह सर्गों में विभाजित इस कृति के सर्ग क्रमशः इस प्रकार हैं—चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द। इसके सर्ग के नाम यह स्वयं द्योतित करते हैं कि यह मानवता के विकास की महागाथा है। कामायनी के प्रमुख पात्र मनु, श्रद्धा एवं इड़ा हैं जो कि क्रमशः मन, हृदय और बुद्धि के प्रतीक हैं, जिनके माध्यम से सांकेतिक शैली में एक अन्य कथा का भी समावेश किया गया है। इसी सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता के कारण कामायनी को रूपक काव्य की संज्ञा दी जाती है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' के आमुख में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—''यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय एवं श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।''[2] अतः स्पष्ट है कि कामायनी की कथा द्वयर्थक है, क्योंकि इसमें एक ओर मनु, श्रद्धा एवं इड़ा का आख्यान है तो दूसरी ओर मन, हृदय और बुद्धि के क्रमिक विकास का रूप दिखलाते हुए मानवता के विकास का भी निरूपण किया गया है। जिसे स्वीकार करते हुए डॉ नगेन्द्र कहते हैं कि ''कामायनी की व्यक्त कथा में आदिम पुरुष मनु और आदिम नारी श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि के विकास का वर्णन है। अहंकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक, मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक जीव का विकास—उसका अप्रस्तुत पक्ष है।''[3]

हिन्दू धर्म के अनुसार मनु प्रथम पुरुष थे। मनु की संतान होने के कारण आने वाली पीढ़ी मानव या मनुष्य कहलाए। मानव का अर्थ है वह जिसमें मन, जड़ और प्राण से कहीं अधिक सक्रिय है। कामायनी में जल प्रलय के उपरांत मनु का चित्रण देवताओं से इतर मानवीय सृष्टि के व्यवस्थापक के रूप में किया गया है। इस सन्दर्भ में प्रसाद जी के द्वारा कामायनी के आमुख में कही गई पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—''जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।''[4] देव चूँकि ऐश्वर्यशाली थे किन्तु उनकी विलासिता तथा उच्छृंखलता पूर्ण व्यवहार के कारण उनका सर्वनाश हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मानव-संस्कृति का विकास हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं कि ''यह इस बात का संकेत है कि जब देव-सभ्यता का अंत होता है, तब मानव-सभ्यता की सृष्टि होती है। कामायनी का नायक मनु प्रथम मानव है, उसी का आख्यान कामायनी में वर्णित है।''[5]

भारतीय संस्कृति में भी मानव-संस्कृति से पूर्व देव—संस्कृति के अस्तित्व का उल्लेख अनेक वैदिक और पौराणिक ग्रंथों में प्राप्त होता है। कामायनी में देव-संस्कृति का निरूपण केवल इसी नैतिक उपदेश के लिए किया गया है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत' अर्थात् देवों की अत्यधिक विलासिता, मिथ्या अमरता की भावना, पशु-यज्ञों की अधिकता, आत्मवाद की प्रबलता आदि उच्छृंखलताओं के कारण उनके ऊपर की नियामक शक्ति रूष्ठ हो उठी और उसने प्रलय के रूप में उस सृष्टि का नाश कर दिया। कामायनी में देव-संस्कृति के नष्ट हो जाने पर श्रद्धा और मनु के सहयोग से नवीन मानव-संस्कृति की स्थापना का संकेत प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही ग्रहण किया गया है।

कामायनी की कथावस्तु मनु, श्रद्धा एवं इड़ा के जीवन पर आधारित है। मनु इस सृष्टि का प्रथम मानव है जो कि जल-प्रलय के उपरान्त शेष रहता है। देव-सृष्टि के संहार के बाद भविष्य की चिन्ता

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

करते हुए बैठे मनु श्रद्धा की प्रेरणा से जीवन में फिर से रूचि लेने लगते हैं पर कुछ काल के बाद श्रद्धा से असंतुष्ट होकर उसे छोड़कर वे चले जाते हैं। अपने भ्रमण में वे सारस्वत प्रदेश जा पहुँचते हैं जहाँ की अधिष्ठात्री इड़ा थी। इड़ा के साथ वे एक नई वैज्ञानिक सभ्यता का नियोजन करते हैं, पर उनके मन की अधिकार लिप्सा अभी गई नहीं है। वे इड़ा पर अपना अधिकार चाहते हैं। फलस्वरूप प्रजा विद्रोह करती है, जिसमें मनु घायल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र मानव को लिए मनु की खोज में सारस्वत प्रदेश तक आ जाती है। जहाँ दोनों का मिलन होता है। मनु अपनी पिछली भूलों के लिए पश्चाताप करते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र कुमार (मानव) को इड़ा के संरक्षण में छोड़कर मनु को लेकर हिमालय की उपत्यका में चली जाती है। जहाँ श्रद्धा की सहायता से मनु आनन्द की स्थिति को प्राप्त होते हैं।

कामायनीकार प्रसादजी की दृष्टि सर्वव्यापक थी। उन्होंने अपनी इस संक्षिप्त कथावस्तु के माध्यम से मानव-सांस्कृति के विकास का स्पष्ट बिम्ब जनमानस के समक्ष प्रस्तुत किया है। फिर चाहे वह मानव की प्रकृति हो, मानसिकता हो अथवा आदिम युग से लेकर वर्त्तमान जीवन तक मानव-संस्कृति के विकास का अनेक रूप हो। कामायनी में मनु व श्रद्धा के माध्यम से न केवल सृष्टि का विकास होता है अपितु 15 सर्गों में विभाजित इस कथावस्तु के माध्यम से परोक्ष रूप में मानवों की समस्त वृत्तियों, व्यवहारों, भावनाओं आदि को प्रसाद ने वाणी प्रदान की है। कामायनी की कथा का आरम्भ देव-संस्कृति के विध्वंस के साथ होता है, जहाँ मानव-संस्कृति के विकास को लेकर मनु भविष्य की चिंता करते हुए कहते हैं—

**''चिंता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की उस सुख की,**
**उतनी ही अनंत में बनती जातीं रेखाएँ दुख की।''**[6]

चिन्ता मनुष्य की वह मूल वृत्ति है, जो उसे शेष प्राणिजगत से भिन्न और श्रेष्ठ पद प्रदान करती है। मानव को छोड़कर अन्य प्राणियों में यह शक्ति नहीं होती है। प्रसाद जी ने मानव की इसी प्रमुख विशेषता को लेकर चिंता सर्ग का निर्माण किया है मनु मन के प्रतीक हैं। व्याकरण में एक स्थान पर मनु और मन को एकरूप माना गया है 'मन्यते अनेन इति मनुः' अर्थात् जिसके द्वारा मनन किया जाए वही मनु है। मन से अभिप्राय यहाँ चेतना से है। चेतना या चिन्ता मनुष्य की मनुष्यता की सूचक प्रथम मौलिक वृत्ति है, इसीलिए वह कामायनी के प्रथम सर्ग में शीर्षक बनकर आई है। इस आत्म-चेतना या चिन्ता के पश्चात् मानव को जीवन क्षेत्र में आगे बढ़ाने वाली दूसरी वृत्ति आशा है। मनु के जीवन में श्रद्धा आशा का संचार करती है। 'कामायनी' के आशा सर्ग में मनु अपने जीवन को शुद्ध सात्विक और संयमित बनाने के लिए तपश्चर्या आदि में अपना समय व्यतीत करते दिखाई देते हैं—

**''मनु ने तप में जीवन अपना, किया समर्पण हो कर धीर।''**[7]

मानव-संस्कृति में याज्ञिक कर्मकाण्डों का तथा तप-साधना का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह मानव जीवन का वास्तविक आधार है। यही कारण है कि मनु अपने जीवन की पवित्रता को बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ-यज्ञादि कार्यों में रत दिखाई पड़ते हैं। जैसे— अग्निहोत्र, पाक-यज्ञ आदि। कामायनी में प्रसादजी ने मानव-समाज के व्यापक संस्कृति के इस कार्य को मनु के माध्यम से व्यक्त किया है। जहाँ मनु याज्ञिक कार्यों को करने के लिए शालियों आदि का प्रबन्ध करते दिखाई पड़ते हैं—

**''पाकयज्ञ करना निश्चित कर लगे शालियों को चुनने,**
**उधर वह्नि ज्वाला भी अपना लगी धूम-पट थी बुनने।''**[8]

मनु को श्रद्धा ही जीवन में प्रविष्ट कराती और कर्म की प्रेरणा देती है। वास्तव में जीवन का मूल तत्व श्रद्धा (हृदय) है। प्रसाद जी ने यहाँ श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक स्वरूप अंकित किया है और उसे नारी प्रतीक के रूप में भी उपस्थित किया है। मानव-संस्कृति का विकास नारी एवं पुरुष दोनों के सहभागिता एवं समानता से ही सम्भव है। कामायनीकार ने भी इस बात को बखूबी समझा है तथा मनु के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किए हैं—

**''नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में,**
**पीयूष स्त्रोत-सी बहा करो जीवन में सुंदर समतल में।''**[9]

नारी की गरिमा तथा उसका सम्मान व समाज में उसका उच्च स्थान युगों-युगों से हमारी संस्कृति में व्याप्त है, जिसकी गरिमा का बखान कामायनीकार ने भी किया है तथा उसे अपने काव्य में सर्वोच्च स्थान दिया है। कामायनी की नारी पात्र श्रद्धा ही मनु (मानव, पुरुष) के जीवन में आशा का संचार कर उसे सृष्टि के कर्म-क्षेत्र की ओर उन्मुख करती हुई कहती है—

**''काम-मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणम,**
**तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।''**[10]

श्रद्धा मनु को प्रवृत्ति का संदेश देती है, शक्ति-संचय कर जीवन में सफलता प्राप्त करने को प्रेरित करती है, क्योंकि जीवन के कर्मक्षेत्र की सफलता ही मानव-चेतना की सफलता है। मानव-जीवन का चरम उद्देश्य इसी चेतन तत्व का अधिकाधिक प्रसार और विस्तार करना है। इस प्रकार श्रद्धा मनु को न केवल कर्म में प्रवृत्त करती है बल्कि कर्म के माध्यम से उसे संसार में प्रविष्ट कर समन्वय भाव के द्वारा मानवता को विजयी बनाने का संदेश भी देती है—

**''बनो संसृति के मूल रहस्य, तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,**
**विश्व भर सौरभ के भर जाए सुमन के खेलो सुन्दर खेल।**
**शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं, हो निरूपाय,**
**समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाए।''**[11]

मानव की समस्त प्रगति, विकास और विस्तार वस्तुतः श्रद्धा द्वारा ही सम्भव है। श्रद्धा के रूप में प्रसादजी ने आज के युग का एक ज्वलंत प्रश्न उठाया है कि मानवता का विकास आत्मकेन्द्रित होने में है या आत्मविस्तार में? चूँकि मानवता का सर्वोच्च लक्ष्य आनन्द है। जब

मानव पशुता को छोड़कर मनुष्यता के स्तर पर नितान्त व्यक्तिवादी विचारों के ऊपर उठकर सबके सुख में ही अपने सुख की तृप्ति करेगा तभी वह स्वार्थ पूरित आत्मकेन्द्रिता के स्तर पर ऊपर उठकर आत्मविस्तार करेगा, जो कि मानव-सांस्कृति का महत्वपूर्ण पक्ष है। श्रद्धा 'बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त में विश्वास करती है। वे मनु को समझाते हुए कहती है कि—

**''अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,**
**यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।**
**औरों को हँसते देखो मनु- हँसो और सुख पाओ,**
**अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।''**[12]

प्रसादजी ने मानव-संस्कृति के विकास की एक पूरी प्रक्रिया को दर्शाया है, जिसमें मानव द्वारा कृषि कार्य में संलग्न होना, स्वरोजगार अर्थात् उद्योग-संस्था के माध्यम से अपनी जीविका निर्वाह के संसाधन तैयार करना आदि प्रमुख हैं। कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग में श्रद्धा द्वारा कोमल काले ऊन की नवपट्टिका बुनना, पशुओं के बाल से ऊन कातना तथा उनसे दूध निकालना, सुन्दर कुटिया का निर्माण करना इत्यादि कार्यों द्वारा इस संस्था के लघु रूप की झाँकी मिलती है—

**''कोमल काले ऊनों की नवपट्टिका बनाती रूचिर साज।''**[13]

मानव-संस्कृति वस्तुतः एक कर्मप्रधान संस्कृति है। जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है। कर्म से प्रसाद जी का अभिप्राय याज्ञिक या हिंसात्मक कर्म से है। वासना के उदय के पश्चात् मानव की अतृप्ति उसे अबाध कर्म की ओर प्रेरित करती है। व्यक्ति सब छोड़कर उसी में लग जाता है—

**''कर्म-यज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा,**
**इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा।''**[14]

किन्तु मानव के विकास चरणों की रेखाएँ सीधी नहीं होतीं। उनमें भौतिक उपलब्धियों की ध्वनियाँ हावी हो जाती है पूर्व में विशेष रूप से भारत में आंतरिक ध्वनियाँ तीव्र रही है। इसीलिए उसके सहधर्मी औदात्य प्राप्त कर सके। दर्शन, जिज्ञासा, समर्पण, मूल्य बनकर इस संस्कृति की आधारशिला बने जिसकी रचना मानव विकास के साथ स्वयमेव होती चलती है और अन्ततः अहंकार का रूप धारण करती है। अहंकार ही मानव की वह कृति है जो उसका सर्वनाश करती है जैसा कि कामायनी में मनु को अहं भाव जागृत होता है और उनमें 'मैं रहूँ' की भावना विकसित होती है जो अंततः उन्हें निराशा में ले जाती है, वे कहते हैं—

**''मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में!**
**मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ' शाश्वत नभके गानों में।''**[15]

वस्तुतः कामायनी में जयशंकर प्रसाद जी मनु और श्रद्धा के सहयोग से एक ऐसी संस्कृति, मानव-संस्कृति का निर्माण करना चाहते थे, जो कि सामंजस्य पर, समानता पर आधारित हो, जिसके द्वारा मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा पूरे विश्व में की जानी जाए। इस कारण यह कृति जितनी तत्कालीन समय में अपना महत्व रखती थी उतनी ही वर्तमान समय में भी तथा भविष्य में भी यह युगों-युगों तक मानव-समाज को अपनी मूलवर्त्ती अनेक संस्कृतियों का बोध कराती रहेगी तथा उन्हें मानवता के विकास की ओर अग्रसर करती रहेगी। अतः कामायनी समता व सामंजस्य पर आधारित है जैसा कि डॉ0 बच्चन सिंह कहते हैं—''देव-संस्कृति के ध्वस्त होने पर मानव-संस्कृति का विकास हुआ। दोनों ही उसके अवशिष्ट हैं। मनु पर उस संस्कृति के प्रबल संस्कार हैं किन्तु श्रद्धा नवीन संस्कृति-मानव-संस्कृति की सृष्टि करना चाहती है जो समता पर, सामंजस्य पर आधारित है।''[16] समाज में व्याप्त 'मैं हूँ' की भावना तथा वैषम्य को, जो बहिरंतर की समान समस्या है, को समता या सामंजस्य में परिणित करना ही कामायनी का प्रतिपाद्य है। इस मूलवर्ती समस्या को प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। कामायनी की समस्त संघटना इसी को संकेतित करती है।

जयशंकर प्रसाद का महाकाव्य 'कामायनी' अपना कालजयी महत्व रखती है। उसके इस महत्व का आधार दिक और काल का अतिक्रमण करने की इस शक्ति में निहित है कि वह प्रागैतिहासिक देशकाल, अपने समसामयिक परिवेश तथा भविष्य तीनों को एक साथ सम्बोधित करने वाली कृति है। आधुनिक सन्दर्भ में उसकी प्रासंगिकता इन तीनों का समन्वय करते हुए, मानव-संस्कृति के विकास से जुड़े सनातन प्रश्नों से दो-चार होने के सामर्थ्य में निहित है। 'कामायनी' में मानवीय संस्कृति के आधुनिक संकट को अच्छी तरह से पहचानने का प्रयास किया गया है। प्रसाद ने अति भौतिकता, अतियांत्रिकता एवं अतिबौद्धिकता से होने वाले विनाश की ओर संकेत किया है। उन्होंने मानव के सांस्कृतिक विकास की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करके उस संस्कृति के वर्तमान संकट के विश्लेषण में प्रवृत्त होकर विघटन के प्रतिकार का उपाय भी संकेतित करता है।[17] प्रसाद जी ने जिसका पूरा पालन किया है। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने व्यक्ति और समाज दोनों को अभिभूत किया है। विज्ञान मानव की भौतिक उन्नति करने में जितना समर्थ है उतना ही वह सारे विश्व को क्षण-भर में नष्ट करने में भी समर्थ है जिसकी चिन्ता प्रसादजी ने भी कामायनी में व्यक्त की है—

**''और कह रही किन्तु नियामक नियम न माने,**
**तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ-सा निश्चय जाने।''**[18]

यही कारण है कि प्रसादजी ने कामायनी में मानव-संस्कृति के विकास में हृदय व बुद्धि दोनों के संतुलन को आवश्यक बताया है, उन्होंने बुद्धि की एकाकी उन्नति का पूर्णतः निषेध किया है। आज जबकि मानव समाज संवेदनशीलता से दूर होता जा रहा है। वह केवल अपनी बुद्धि व तर्क के माध्यम से भौतिक उपलब्धियाँ हासिल करने में लगा हुआ है। ऐसे में प्रसादजी ने 'कामायनी' में हृदय व बुद्धि दोनों के संतुलित विकास को स्वीकार किया है। वास्तव में बुद्धि को श्रद्धा से

संयुक्त कर लोकमंगल के लिए नियुक्त करना ही 'कामायनी' का उद्देश्य है। कामायनी में श्रद्धा का संदेश है कि समस्त प्राणि जगत को बैर भाव व भेद-भावों को मूल कर सबको समान दृष्टि से देखना चाहिए। वह कहती है—

**''सब भेद-भाव भुलवा कर दुख-सुख को दृश्य बनाता,**
**मनव कह रे! यह मैं हूँ यह विश्व नीड़ बन जाता।''**[19]

जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में बुद्धि और हृदय में समरसता, आत्मा, परमात्मा और जगत की अद्वैतता, इच्छा, क्रिया और ज्ञान में समरसता, त्याग और भोग में समरसता इत्यादि के द्वारा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न किया। कामायनी की अन्तिम परिणति समरसता एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति है। यही 'कामायनी' का फल है। 'कामायनी' की समाप्ति इस छन्द से होती है—

**''समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,**
**चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥''**[20]

'कामायनी' में चिन्ता से आनन्द सर्ग तक की यात्रा के माध्यम से प्रसादजी ने मानव-संस्कृति के विकासक्रम को गहरी समझ तथा भावबोध के साथ प्रस्तुत किया है। यह प्राचीन समय से वर्तमान तक भविष्य में भी जन समाज का पथ प्रशस्त करती रहेगी। शायद यही कारण है कि डॉ0 नगेन्द्र 'कामायनी' पर डार्विन के विकासवाद का प्रभाव स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—''डार्विन के विकासवाद का कामायनी पर गहरा प्रभाव है। मानव मन के विकास के माध्यम से मानव सभ्यता के विकास-निरूपण के प्रसाद की कल्पना ने विकासवाद के सिद्धान्तों से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण की है।''[21]

ऐसे में यह कहना सर्वथा सार्थक है कि अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव-संस्कृति में मूलभूत तत्वों का विश्लेषण कर प्रसादजी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानव-संस्कृति के विकास से सम्बन्धित मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर संग्रह किया है। इसीलिए यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रसास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानव–प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। इस दृष्टि से यह मनुस्मृति के हजारों वर्ष बाद मानव-धर्म निरूपण का महत्वपूर्ण काव्य प्रयास है। वास्तव में कामायनी की कथा के मूल बिन्दु में मानव-संस्कृति के विकास की पूरी प्रक्रिया और मानवीयता के पाठ के साथ-साथ वर्तमान समय की विविध समस्याओं का समाधान भी उपस्थित है। ऐसे में कहना न होगा कि कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकता था। इसके लिए मानवीय वस्तु स्थिति से परिचय रखने वाली जिस मर्म-भेदिनी प्रज्ञा की आवश्यकता है, वह प्रसादजी को प्राप्त हुई।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—जयशंकर प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, संशोधित संस्करण-2007, पृ0 28
2. 'कामायनी'—जयशंकर प्रसाद, सरस्वती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद—211001, संस्करण—1997, पृ0-10
3. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' –डॉ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6, तृतीय संस्करण—1970, पृ0 35,
4. 'कामायनी'—जयशंकर प्रसाद, सरस्वती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद—211001, संस्करण—1997, पृ0-10
5. 'जयशंकर प्रसाद'—श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण—1976 ई0, पृ0-72
6. 'कामायनी'—जयशंकर प्रसाद, सरस्वती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद—211001, संस्करण—1997, पृ0-16
7. वही, पृ0—25
8. वही, पृ0—25
9. वही, पृ0—53
10. वही, पृ0—32
11. वही, पृ0—33-34
12. वही, पृ0-63
13. वही, पृ0—67,69
14. वही, पृ0-55
15. वही, पृ0—23
16. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास'—डॉ0 बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, सशोधित संस्करण—2007, पृ0—150
17. 'छायावाद और जयशंकर प्रसाद'—प्रो0 राजमणि शर्मा, सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर वाराणसी—221008, प्रथम संस्करण 2006 पृ0 58
18. 'कामायनी'—जयशंकर प्रसाद, सरस्वती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद—211001, संस्करण—1997, पृ0-95
19. वही, पृ0—141
20. वही, पृ0—143
21. 'कामायनी' के अध्ययन की समस्याएँ—डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6, तृतीय संस्करण—1970, पृ0 59


◆

# रामविलास शर्मा की दृष्टि में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा पद्धति

*ऋतम्भरा तिवारी* एवं प्रो0 बलिराज पाण्डेय***

हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल डॉ0 रामविलास शर्मा के आदर्श हैं। डॉ0 शर्मा ने अपनी आलोचना पद्धति का विकास आलोचना की प्रगतिविरोधी तथा प्रतिक्रियावादी परम्परा से इतर आचार्य शुक्ल की प्रगतिशील परम्परा के आधार पर किया है। उन्होंने शुक्ल जी को हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ घोषित करते हुए लिखा है—''हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है, जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द और निराला ने। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढ़िवाद को स्वीकार किया, न पच्छिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत् और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतन्त्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया।''[1] शर्मा जी के अनुसार सामन्ती संस्कृति, साम्राज्यवादी शोषण, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद के विरुद्ध संघर्ष शुक्ल जी के साहित्य चिन्तन के प्रमुख आधार हैं। उन्होंने अपनी समीक्षा पद्धति के विकास के लिये शुक्ल जी की इसी चिन्तन पद्धति को ग्रहण किया है।

हिन्दी आलोचना में शुक्ल जी की स्थापनाओं को लेकर जितना विवाद हुआ है शायद उतना वाद-विवाद किसी अन्य आलोचक को लेकर नहीं हुआ। नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी द्वारा की गयी क्रोचे और अन्य कलावादियों की कठोर आलोचना पर आपत्ति जाहिर करते हुए उन पर 'कुछ निजी रूचियों और आग्रह के पक्षपात का' तथा 'काव्य से ऊपर नीति का स्थूल शासन' मानने का आरोप लगाया। उन्होंने शुक्ल जी के विषय में अपना मत देते हुए लिखा है—''उनका दार्शनिक अनुसंधान, उनका काव्य-विवेचन और उनका सारा विचारात्मक साहित्य उनकी व्यक्तिगत रूचियों और प्रेरणाओं से ऊपर उठकर वैज्ञानिक श्रेणी में नहीं पहुँच सका।''[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति-आन्दोलन के उद्भव की परिस्थिति और उसके मूल स्रोतों के सम्बन्ध में शुक्ल जी का खण्डन करते हुए लिखा है—''कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है।''[3] इसी प्रकार शिवदान सिंह चौहान उन पर आरोप लगाते हुए लिखते हैं—''न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल जी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं।''[4] रांगेय राघव की भी शुक्ल जी से शिकायत है कि ''आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण से देखा है।''[5] कुछ लोग शुक्ल जी पर 'मध्यकालीन संस्कृति के हिमायती' होने का आरोप लगाते हैं। नामवर सिंह ने भारतीय सामन्तवाद का स्वरूप न समझने और निर्गुण की तुलना में सगुण मतावलम्बियों को अधिक तरजीह देने के कारण शुक्ल जी के 'लोकधर्म' को बहुत कुछ वर्णाश्रम-धर्म से सम्बन्धित बताया है। यशपाल और प्रो0 प्रकाशचन्द्र गुप्त ने नया पथ के जनवरी 1955 के अंक में शुक्ल जी की कटु आलोचना की है।

शुक्ल जी पर लगाए गए इन आक्षेपों से आहत हो डॉ0 शर्मा ने नया पथ (नवम्बर, 1954) में एक लेख लिखा। यह लेख उनकी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' की एक प्रकार से भूमिका निर्धारित करता है। पुस्तक की भूमिका में वे स्पष्ट लिखते हैं—''पिछले वर्षों में शुक्ल जी पर तरह-तरह के आक्षेप किए गए थे। इनसे शुक्ल जी के बारे में ही नहीं, साहित्य के सहज विकास के बारे में भी भ्रम फैलते थे। इन्हीं के निराकरण के लिये मैंने शुक्ल जी पर लेख लिखा था।''[6] रामविलास जी ने इस पुस्तक में शुक्ल जी के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने विन्दुवार विवेचन द्वारा शुक्ल जी के आलोचना पक्ष को रेखांकित किया है।

शुक्ल जी का आलोचना क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत रहा है। उनसे पूर्व आलोचना की परम्परा रीतिकालीन परम्परा का ही विस्तार थी, जो अविकसित दशा में थी। इसका उद्देश्य केवल लक्षण ग्रन्थों के अनुसार गुण दोष विवेचन था। आचार्य शुक्ल ने इस निर्जीव रूढ़िगत परम्परा का खण्डन करते हुए तथा बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आलोचना का स्वस्थ विकास किया। रामविलास जी लिखते हैं—''शुक्ल जी ने आलोचना के रूप पर विचार करते हुए अलंकार और रस-निरूपण वाली पद्धति की सीमाएँ बतलाईं, साहित्य की मार्मिक व्याख्या करने पर जोर दिया, आलोचना को गद्य-काव्य बनने से बचाकर उसे तर्क योजना के सहारे आगे बढ़ने का मार्ग दिखाया।''[7]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रसवादी आलोचक थे। काव्य-सम्प्रदायों में रस को महत्त्व देते हुए उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। रस को आनन्दस्वरूप मानकर उसे लोकोत्तर और अनिर्वचनीय मानने के पक्ष में आचार्य शुक्ल नहीं थे। उनका तर्क था कि—''मेरी समझ में रसास्वादन का प्राकृत स्वरूप 'आनंद' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

** पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित होता है।... इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।''[8] उनकी मौलिक मान्यता यह है कि साहित्य के भावों और जीवन के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं है। इस कारण क्रोध, भय, जगुप्सा और करुणा की अनुभूति जीवन में जिस प्रकार दुखात्मक होती है उसी प्रकार साहित्य में भी। साहित्य से आनंद मिलता है ऐसी विचारधारा के पोषक पूर्व और पश्चिम के भाववादी विचारकों से उनका विरोध है। रामविलास जी का मानना है कि—''शुक्ल जी ने शब्द तो पुराने लिये हैं लेकिन उनकी स्थापनाएँ उनकी अपनी हैं, मौलिक और क्रान्तिकारी है। लोकहृदय में लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है।''[9] उनके अनुसार शुक्ल जी पर आरोप लगाने वाले आलोचक उन पर आरोप लगाते समय यह भूल जाते हैं कि शुक्ल जी उसे ही स्वीकार करते हैं जो साहित्य के हित में है। अतः डॉ0 शर्मा का शुक्ल जी के विषय में यह कहना उपयुक्त है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित किया।

डॉ0 शर्मा शुक्ल जी द्वारा रचित हिन्दी साहित्य के इतिहास पर गहनता से विचार करते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ0 शर्मा आचार्य शुक्ल के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—''शुक्ल जी का महत्व, सबसे ज्यादा इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति कायम करने में है, अनुसंधान में नहीं। अनुसंधान से कुछ ग्रन्थों की तिथियों में हेर-फेर हो सकता है, कुछ ग्रन्थ जाली साबित हो सकते हैं, कुछ नये ग्रन्थ सामने आ सकते हैं लेकिन यह हर किसी रिसर्च स्कालर का काम नहीं है कि वह इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति भी कायम कर दे।''[10] शुक्ल जी ने इस व्यवस्था पद्धति में दो चीजों को मिलाने की कोशिश की है—एक तो कालक्रम और दूसरी किसी साहित्यिक धारा की विशेषताएँ। डॉ0 शर्मा का मत है कि उन्होंने साहित्येतिहास की जो व्यवस्था पद्धति कायम की थी वह आज भी उसी स्थिति में है। उनके आलोचक भी उनकी इस कायम की हुई सुदृढ़ व्यवस्था का अनुसरण किये बगैर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। वीरगाथाकाल के नामकरण और ग्रन्थों की प्रामाणिकता को लेकर प्रायः आचार्य शुक्ल पर आरोप लगाए जाते रहे। लेकिन इस सन्दर्भ में ''बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो आदि जो काव्य आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं''[11] यह कहकर शुक्ल जी ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने स्वयं ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध मानी थी। द्विवेदी जी ने भी आचार्य शुक्ल का अनुसरण करते हुए ग्रन्थों की प्रामाणिकता को संदिग्ध स्वीकार किया है। परन्तु द्विवेदी जी के अनुसरण किए हुए इस कार्य को मौलिक मान शुक्ल जी का खण्डन किया जाय यह डॉ0 शर्मा को मान्य नहीं है। वे अपने सुदृढ़ कर तर्क द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—''वीरगाथा काव्य हिन्दी की एक विशेष धारा है, इस धारणा के प्रतिनिधि ग्रन्थ अधिकतर अप्रामाणिक हैं, लेकिन उनसे एक वीरगाथा काव्य की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है, इनकी अप्रामाणिकता का बहुत स्पष्ट उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया था, आदिकाल के अन्तर्गत श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं ग्रन्थों की चर्चा की है जिनकी शुक्ल जी ने की थी और द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की स्थापनाओं को ही नहीं दोहराया, कभी-कभी उनके वाक्यों को भी दोहराया है।''[12]

साहित्य की जातीयता पर आलोचकों की दृष्टि कम ही गई है। डॉ0 शर्मा पहले आलोचक हैं जिन्होंने साहित्य के जातीय रूप की विधिवत व्याख्या की है। उनके अनुसार साहित्य का जातीय रूप हिन्दी भाषा है और उनका मानना है कि आचार्य शुक्ल पहले ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने इस जातीय भाषा अर्थात् खड़ीबोली के प्रसार के मुख्य ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख किया और साहित्य में उसके विकास की रूपरेखा तैयार की। उनके मनोबल को दृढ़ करने वाली प्रेरणा जातीय सम्मान की भावना थी। डॉ0 शर्मा के मतानुसार शुक्ल जी ने इस जातीय सम्मान की भावना से प्रेरित हो एक ओर दरबारी काव्य परम्परा और चमत्कार का कट्टर विरोध किया तो दूसरी ओर भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को विश्व साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का एक अंग बताया। इस सम्बन्ध में डॉ0 शर्मा लिखते हैं—''शुक्ल जी ने हिन्दी की अपनी प्रकृति पहचानना सिखाया, अंग्रेजी, संस्कृत या फारसी की बदौलत हिन्दी का लेखक बनने से सावधान किया, अंग्रेजी के गलत रूझानों से बचते हुए उसकी प्रगतिशील धारा से सम्बन्ध जोड़ना सिखाया, भारत की दूसरी भाषाओं से नकल न करके उनकी उपयोगी विशेषताओं से सीखने का मार्ग दिखाया और सबसे बड़ा काम यह किया कि अंग्रेजी भाषा और संस्कृत के दबाव के आड़े आकर हिन्दी के जातीय सम्मान की रक्षा की और अपनी रचनाओं से उसे और भी समृद्ध किया।''[13]

रामविलास जी आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का गहराई से विश्लेषण करते हुए उसकी विशेषताओं के साथ ही उसकी सीमाएँ भी रेखांकित करते हैं। भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में उनका मत है कि आचार्य शुक्ल को उसका स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं था इसका कारण वे प्राप्त ग्रन्थों व इतिहास लेखन की सीमाओं को बतलाते हैं। हिन्दी आलोचना में प्रायः कबीर को लेकर शुक्ल जी की आलोचना हुई है। कबीर उत्कृष्ट कवि नहीं हैं या शुक्ल जी ने उनमें लोक विरोध देखा था जैसे आरोप उन पर लगते रहे। परन्तु डॉ0 शर्मा का मानना है कि उनकी स्थापनाओं का खण्डन करने वाले आलोचक उलटबांसियों में फँस गए हैं और धर्म और नस्ल के आधार पर संस्कृति का मूल्यांकन करते हुए वैज्ञानिक आलोचना से दूर चले गए हैं। शुक्ल जी ने सन्त साहित्य का विवेचन धार्मिक संकीर्णता के आधार पर नहीं किया है वरन् वे हिन्दुओं-मुसलमानों को मिलाने वाली निम्न वर्गों में आत्मगौरव का भाव जगाने वाली उसकी भूमिका को पूरी तरह स्वीकार किया है। डॉ0 शर्मा के अनुसार कबीर पर लिखी सभी पुस्तकें एक ओर हो जाती हैं

जब शुक्ल जी इन तीन बिन्दुओं को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि—''इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ-पंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया।''[14] कबीर का साहित्य हिन्दी भाषी जनता के नवजागरण का साहित्य है, जिसने जनसाधारण को सामंती अत्याचारों के विरोध में खड़ा होना सिखाया और कबीर के इस कार्य की परख शुक्ल जी ने भलिभाँति की है।

शुक्ल जी द्वारा लिखित जायसी ग्रन्थावली की भूमिका को डॉ0 शर्मा ने उनकी बहुत सी शानदार आलोचना कृतियों में से एक माना है। वे लिखते हैं—''जायसी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक विचार, कलात्मक मूल्यों आदि का विवेचन हिन्दी के अनुसंधान साहित्य में एक नए अध्याय का सूत्रपात करता है।''[15] शर्मा जी के अनुसार वे जायसी की समीक्षा स्वाभाविकता और मानव सुलभ सहृदयता से करते हैं। परन्तु इसके साथ ही वे जायसी पर विदेशी प्रभाव भी स्वीकार करते हैं जो डॉ0 शर्मा के विचार से उनका एकपक्षीय दृष्टिकोण है। जायसी ने जहाँ कोरा चमत्कार दिखाया है वहाँ शुक्ल जी उन्हें दोषी भी ठहराते हैं। जायसी के मूल्यांकन के क्रम में शुक्ल जी द्वारा अपनायी गयी पद्धति का उल्लेख करते हुए शर्मा जी लिखते हैं—''यहाँ उनके तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति खुलकर अपनी विशेषता प्रकट करती है। कहीं अंग्रेज कवि और विचारक, कहीं यूनानी आलोचक और जर्मन दार्शनिक, कहीं फारसी के कवि और अरब के विद्वान्—शुक्ल जी इनकी सहज चर्चा करते हुए विषय-विवेचन करते हैं।''[16] शिवदान सिंह चौहान आदि जो आलोचक शुक्ल जी पर एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का आरोप लगाते हैं, उनके इस मत का खण्डन करने के लिये ही डॉ0 शर्मा जायसी की भूमिका में 'पद्मावत' के कलात्मक पक्ष के विवेचन का उदाहरण सामने रखते हैं।

डॉ0 शर्मा कबीर और जायसी के प्रसंग में जैसे शुक्ल जी की कतिपय असंगतियों की आलोचना करते हैं, वैसे ही वे सूरदास के मूल्यांकन के संदर्भ में भी जहाँ तहाँ शुक्ल जी की कुछ असंगतियों की ओर संकेत करते हैं। वे अपने सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति को शुद्ध आनंद की स्थिति से ऊपर उठाकर लोक-मंगल की उदात्त सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं। उनका विचार था साहित्य केवल आनन्द देने की वस्तु नहीं है, बल्कि उसे लोक-मंगल के लिये प्रयत्न भी करना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने तुलसीदास के साहित्य को सूरदास की रचना से श्रेष्ठ ठहराया, क्योंकि उनके विचार से तुलसी में सूर की अपेक्षा लोक-मंगल की भावना अधिक थी। शुद्ध आनन्द वाले साहित्य को वे 'लोक-मंगल' की सिद्धावस्था कहते थे और सामाजिक कल्याण वाले साहित्य को 'लोकमंगल की साधनावस्था।' डॉ0 शर्मा के अनुसार शुक्ल जी की मुख्य आपत्ति यह है कि सूरदास में तुलसी के समान 'लोक संग्रह का भाव' नहीं था। लेकिन डॉ0 शर्मा शुक्ल जी की इस अवधारणा से सहमत नहीं थे। उनकी मान्यता है—''उनका (सूर) कृष्ण से संयोग और वियोग दोनों मानव-प्रेम का जयगीत है जो सामंती समाज के जाति, वर्ण और सम्पत्ति के बन्धन तोड़कर प्रवाहित हुआ था। सूर श्रृंगार और वात्सल्य के ही कवि नहीं है, वह संसार में प्रेम के श्रेष्ठ-गायकों में से हैं। इस प्रेम को कुलकानि, लोक-धर्म, पाप-पुण्य की मर्यादा कुचलती है; उसका जयघोष सामन्ती व्यवस्था को ही एक चुनौती है। इस सामन्त विरोधी मानव-मूल्य को हम लोक-संग्रह से बाहर कैसे रख सकते हैं?''[17] डॉ0 शर्मा शुक्ल जी की इस सीमा का विवेचन करते हुए इसे भी स्वीकार करते हैं कि शुक्ल जी सूर के वात्सल्य और श्रृंगार रस के कायल थे और सम्भवतः भ्रमरगीतसार को ध्यान में रखकर उन्होंने यह बात कही हो। इसके साथ ही शुक्ल जी ने भक्ति का विकास दिखाकर लोकगीतों की परम्परा के सन्दर्भ में रीतिकालीन कवियों से भिन्न सूर के अध्ययन का जो मार्ग प्रशस्त किया है, उसकी वह सराहना भी करते हैं।

शुक्ल जी का छायावाद विरोध भी हिन्दी आलोचना में उनके विरोध का कारण बना। लेकिन डॉ0 शर्मा शुक्ल जी के छायावाद विरोध का कारण यथार्थ मानव जीवन के प्रति छायावादी कवियों की उदासीनता को मानते हैं। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं—''शुक्ल जी ने छायावाद का विरोध किया, इसके पीछे भी यथार्थ मानव-जीवन से उनका प्रेम था। वह साहित्य को परोक्ष-चिन्तन, रहस्यवाद, अटपटी और दुरूह शैली से बचाना चाहते थे; भाग्यवाद, निराशावाद और पच्छिमी कविता के पतनशील रूझानों से हिन्दी साहित्य की जातीय परम्परा की रक्षा करना चाहते थे।''[18] डॉ0 शर्मा का मत है कि जहाँ छायावादी कवि रहस्यवाद और निराशावाद से बचकर यथार्थ जीवन का चित्रण कर सके हैं, वहाँ शुक्ल जी ने बराबर उन्हें सराहा है, परन्तु जहाँ वे इन गलत रुझानों से प्रभावित हुए हैं, वहाँ उन्होंने उनका विरोध किया है।

डॉ0 रामविलास शर्मा की दृष्टि में आचार्य शुक्ल एक गम्भीर आलोचक हैं। इस मान्यता के पीछे वे मुख्य कारण शुक्ल जी का वस्तुवादी दृष्टिकोण, तर्क और चिन्तन पद्धति तथा उनके सामाजिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—''विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं। भारतीय दार्शनिकों और तार्किकों की लम्बी परम्परा में भी शुक्ल अपनी इस चिन्तन-पद्धति के कारण एक श्रेष्ठ विचारक ठहरते हैं।''[19] इस प्रकार डॉ0 शर्मा शुक्ल जी के आलोचकीय दृष्टिकोण को वस्तुवादी और उनकी तर्क पद्धति को द्वन्द्वात्मक सिद्ध करते हैं। शुक्ल जी ने कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, छायावाद आदि के विषय में जो स्थापनाएँ दी हैं उन्हें डॉ0 रामविलास शर्मा ने स्पष्ट करते हुए तथा उनके महत्त्व

को प्रतिपादित करते हुए दृढ़ता से स्वीकार किया है कि—''आज उनके (शुक्ल जी) वस्तुवादी दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति, वाल्मीकि-भवभूति-तुलसीदास के मूल्यांकन और काव्य में कलात्मक सौन्दर्य के महत्व के सिद्धान्त को आत्मसात् करके ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य आगे बढ़ सकते हैं।''[20]

**सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची**


1. डॉ0 रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, प्रथम संस्करण की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1955।
2. नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, 1940, पृ0 117
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, तीसरा खण्ड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 314
4. आलोचना, अक्टूबर, 1952
5. वही।
6. डॉ0 रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, प्रथम संस्करण की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1955।
7. वही, पृ0 190
8. वही, पृ0 32
9. वही, पृ0 33
10. वही, पृ0 170
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ0 17
12. डॉ0 रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1955, पृ0 177
13. वही, पृ0 183
14. वही, पृ0 58
15. वही, पृ0 63
16. वही।
17. वही, पृ0 93
18. वही, पृ0 159
19. वही, पृ0 204
20. वही, पृ0 46


◆

# जनपदीय धरती का कवि त्रिलोचन

*डॉ0 बृजबाला सिंह* *

कविता की दुनिया में त्रिलोचन का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब प्रगतिशील आन्दोलन पतनोन्मुख था। पतनशील काव्य-प्रवृत्तियों के प्रवक्ता शिखर की ओर उन्मुख थे। अपने समकालीन नागार्जुन एवं केदारनाथ अग्रवाल के साथ त्रिलोचन भी अत्याचार-अन्याय और जनविरोधी कला-सिद्धान्तों का सतत प्रतिरोध करते रहे। यह उत्तर छायावाद का काल था जिसमें एक ओर रूमानी गीतकारों की धूम थी तो दूसरी ओर प्रयोगवाद और नयी कविता के सप्तकों की आड़ में आधुनिकतावादी प्रवृत्तियाँ अपने चरम की ओर बढ़ रही थीं। त्रिलोचन सप्तक के कवि नहीं थे। उनका पहला काव्य संग्रह 'धरती' भी उपेक्षित रहा। उनका कविता संग्रह 'गुलाब और बुलबुल' आया तब तक दुष्यन्त कुमार की गजलों को कोई जानता भी नहीं था। कहने का आशय यह है कि हिन्दी-उर्दू को उन्होंने कभी शुद्धता के खाने में नहीं बाँटा। उनके जैसा काव्य अनुशासन उनके समकालीनों में भी नहीं मिलता। वस्तुतः त्रिलोचन भारतीय लोक जीवन की पहचान कराने वाले ऐसे विरल कवि हैं जो अपने संग रहने एवं रचने वालों में अलग पहचान रखते हैं। देखने में भी और रचने में भी। आधुनिकता में न तो वे खप सकते हैं और न ही उनकी कविता। 'लगभग यह मान लिया गया है कि त्रिलोचन एक अत्यन्त सहज-सरल कवि हैं—बहुत कुछ अपने व्यक्तित्व की तरह ही। इससे एक बहुत सीधा-सा निष्कर्ष यह निकाल लिया गया है कि उनके यहाँ आधुनिक बोध की जटिलता का एकान्त अभाव है। जो लोग ऐसा मानते हैं, उनसे मैं आग्रह करूँगा कि इस संकलन में छपी 'रैन बसेरा' कविता को ध्यान से पढ़ें। वस्तुतः त्रिलोचन एक समग्र चेतना के कवि हैं, जिनके अनुभव का एक छोर यदि 'चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती' जैसी सीधी-सरल कविता में दिखाई पड़ता है तो दूसरा 'रैन बसेरा' जैसी कविता की बहुस्तरीय बनावट में। वास्तविकता यह है कि त्रिलोचन की सहज-सरल सी प्रतीत होने वाली कविताओं को भी यदि ध्यान से देखा जाय तो उनकी तह में अनुभव की कई पर्तें खुलती दिखाई पड़ेंगी।'[1]

त्रिलोचन की कविता में प्रवेश करने के लिए भारतीय लोकमानस एवं भारतीय लोक रीति को परखने वाले मन के साथ जाना उचित भी है और आवश्यक भी। उनकी एक कम प्रसिद्ध किन्तु अधिक प्रशंसा पाने लायक कविता है 'फेरीवाला'। इस कविता का नायक सपने देखता नहीं सपने संजोता है, संचित करता है, फिर इन्हें घूम-घूमकर बेचता है 'गीतफरोश' की तरह। उसके सपनों की झोली में भूखा ग्रहलोक समाया हुआ है। नदी, समुद्र, जहाज, विमान, पर्वत और बादल तो इसमें हैं ही 'मुक्ति के विधान' भी हैं। काव्य नायक को इस बात की चिन्ता नहीं है कि उसके सपने कोरे रहेंगे या उनमें रंग भरेगा। वह तो यह बताना चाहता है कि उसके सपनों में अद्भुत ऊर्जास्रोत है, आत्मविश्वास है, जिजीविषा है। वह लोगों को आमंत्रित करता है —

**जिसका विश्वास टूट गया हो**
**साथ और कोई न हो**
**वह मेरे सपने ले**
**जिसका बल, अवसर पर धोखा दे जाता हो**
**वह मेरे सपने ले**
**जिसको कुछ करने की, भलीभाँति जीने की, इच्छा हो**
**वह मेरे सपने ले**
**जिसको इच्छा-मरण पसंद हो चला आये**
**वह मेरे सपने ले**[2]

यहाँ मुक्ति व्यक्तिगत स्तर पर भी है सामूहिक भी। अपने समय के रचनाकारों में त्रिलोचन ने सबसे अधिक लिखा है 1944 से 2004 तक अर्थात् लगभग साठ वर्ष का दीर्घ रचनात्मक जीवन। हर रचना में नयी स्फूर्ति, नई ऊर्जा है। अंतिम समय तक वे लिखते रहे और सोचते रहे। इस सुदीर्घ कविता यात्रा के मोड़-पड़ाव हैं। यहाँ गरीबी है, भोगी हुई भूख है, मंहगाई के चित्र हैं। फटेहाली, तंगी बेरोज़गारी के बीच जीवन भर व्यवसाय एवं पड़ाव बदलना और कविता में खरापन निखारना त्रिलोचन की कविता का आधार है।

उनकी एक कविता है 'आरर डाल' जिसमें नौकरी की अनिश्चितता का बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। नौकरी की कशमकश में किसी प्रिय की कभी याद ही नहीं आई। दिन भर मशीन पर काम करना, बासे में आकर थकेहाल सो जाना इस चिन्ता के साथ कि कमाई और खर्च में तालमेल कैसे बैठाया जाय फिर भूखे पेट उठकर रोटी बनाना —

**इस उस पर मन दौड़ाना। फिर उठ कर रोटी**
**करना। कभी नमक से कभी साग से खाना।**
**आरर डाल नौकरी है। यह बिल्कुल खोटी**
**है। इसका कुछ ठीक नहीं है आना जाना।**
**आये दिन की बात है। वहाँ टोटा टोटा**
**छोड़ और क्या था। किस दिन क्या बेचा-कीना।**
**कमी अपार कमी का ही था अपना कोटा,**
**नित्य कुँआ खोदना तब कहीं पानी पीना।**[3]

पानी पीने के साथ याद आ गया 'मुँहदुब्बर' जो रोटी खाने से पहले पानी से पेट भर लेता है। त्रिलोचन की कविता में आत्मालोचन है, आत्मविश्लेषण है। अन्तर की अनुभूति को बिना रंगे-चुने कागज पर उतार देने की स्वीकृति-ईमानदारी है। आत्मपरक कविताओं की संख्या

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

इनके यहाँ बहुत है। अनुभव के इस धरातल पर पहुँचने के लिए वे जिस कौशल का इस्तेमाल करते हैं वह खासतौर पर ध्यान देने योग्य है। वे अपनी आत्मपरक कविताओं में 'त्रिलोचन' का प्रयोग प्रायः अन्य पुरुष में करते हैं। इस प्रकार अपने आत्म से एक कलात्मक दूरी प्राप्त कर लेते हैं। अपने आत्म के प्रति यह गहरी निर्भय दृष्टि उन्हें एक ऐसी शक्ति प्रदान करती है जिसके चलते वे अपनी खिल्ली स्वयं उड़ाते हैं। 'भीख माँगते उसी त्रिलोचन को देखा कल', 'इधर त्रिलोचन सॉनेट के पथ पर दौड़ा', 'वही त्रिलोचन है, वह जिसके तन पर गन्दे कपड़े हैं', 'यही त्रिलोचन है, सबमें, अलगाया भी, प्रिय है आलोचन' और 'कच्चे ही हो अभी त्रिलोचन तुम' जैसी पंक्तियाँ उनकी कविता को नये क्षितिज से जोड़ती हैं।

त्रिलोचन का काव्य-संसार बहुत विस्तृत है। वह जितना प्रकाशित है उससे थोड़ा ही कम अप्रकाशित। 'धरती', 'गुलाब और बुलबुल', 'तुम्हे सौंपता हूँ', 'अरघान', 'ताप से ताये हुए दिन', 'दिगन्त', 'शब्द', 'उस जनपद का कवि हूँ' तथा अवधी में लिखा गया 'अमोला' कविता संग्रह। त्रिलोचन की कविताओं से गुजरते हुए यह आभास निरन्तर होता है कि त्रिलोचन विषम धरातल वाले कवि हैं। उनके रचनात्मक व्यक्तित्व में एक विचित्र विरोधाभास है। एक ओर यदि उनके यहाँ गाँव की धरती का सा ऊबड़-खाबड़पन दिखाई पड़ेगा तो दूसरी ओर कला की दृष्टि से एक अदभुत क्लासिकी कसाव या अनुशासन भी। सृजनात्मक अनुशासन का सबसे विलक्षण और रंगारंग रूप उनके सॉनेटों में दिखाई पड़ता है। 'उस जनपद का कवि हूँ' जिसकी रचनाओं की अवधि 1950-1954 है और प्रकाशन काल 1981 है के आरंभिक दो सॉनेट उनके जीवन परिचय के गवाह हैं। वे स्वयं अपने लिए लिखते हैं —

**वही त्रिलोचन है, वह– जिसके तन पर गंदे**
**कपड़े हैं. कपड़े भी कैसे – फटे लटे हैं,**
**यह भी फ़ैशन है, फ़ैशन से कटे कटे हैं.**
**कौन कह सकेगा इसका यह जीवन चंदे**
**पर अवलंबित है. चलना तो देखो इस का –**
**उठा हुआ सिर, चौड़ी छाती, लंबी बाहें,**
**सधे क़दम, तेजी, वे टेढ़ी मेढ़ी राहें**
**मानों डर से सिकुड़ रही हैं, किस का किस का**
**ध्यान इस समय खींच रहा है. कौन बताए,**
**क्या हलचल है इसके रुँधे रुँधाए जी में**
**कभी नहीं देखा है इसको चलते धीमे.**
**धुन का पक्का है, जो चेते वही चिताए.**
**जीवन इसका जो कुछ है पथ पर बिखरा है,**
**तप तप कर ही भट्ठी में सोना निखरा है.**[4]

अपना परिचय लिखने वाले त्रिलोचन अपने जनपद को भी कविता में रचते हैं। उनके जनपद में बहुत से पात्र-चरित्र हैं, उनकी जीवन शैली है। वे भूखे दूखे हैं। नंगे हैं। कला एवं संस्कृति की दुनिया से दूर बहुत दूर रहते हैं लेकिन रामचरित पढ़ते हैं धर्म कमाने के लिए ही सही पर पढ़ते हैं। रामचरित मानस के माध्यम से कविता ही। त्रिलोचन यहाँ अपनी स्थापनाएँ देते हैं। भूख, गरीबी, लाचारी चाहे जो भी जितनी भी हो कविता अपनी जगह रहेगी। उसे कोई हिला नहीं सकता उसकी जगह कोई नहीं ले सकता। त्रिलोचन ने अपने जनपद की एक तस्वीर रची है। खींची है :

**उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा दूखा है,**
**नंगा है, अनजान है, कला–नहीं जानता**
**कैसी होती है क्या है, वह नहीं मानता**
**कविता कुछ भी दे सकती है. कब सूखा है**
**उसके जीवन का सोता, इतिहास ही बता**
**सकता है. वह उदासीन बिलकुल अपने से,**
**अपने समाज से है; दुनिया को सपने से**
**अलग नहीं मानता, उसे कुछ भी नहीं पता**
**दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँची; अब समाज में**
**वे विचार रह गये नहीं हैं जिन को ढोता**
**चला जा रहा है वह, अपने आँसू बोता**
**विफल मनोरथ होने पर अथवा अकाज में.**
**धरम कमाता है वह तुलसीकृत रामायण**
**सुन पढ़ कर, जपता है नारायण नारायण.**[5]

कविता की आरंभिक पंक्तियाँ प्रगतिवादी कविता की याद दिलाती हैं। त्रिलोचन के जनपद में 'जिस काव्य को सक्रिय काव्य का दर्जा प्राप्त है वह तुलसीकृत 'रामचरितमानस' है क्योंकि अपनी पराजय के एकाकीपन में यहाँ के वासी इसे ही पढ़ते-सुनते हैं। यहाँ के रहने वाले उन विचारों को साथ रखे हैं जो बाकी समाज में अब नहीं रहे—यह भी अन्दाज लगाया जा सकता है कि वह कौन-सा समाज है जिसमें अब इन विचारों का अभाव है : वह है हमारा प्रभुतासम्पन्न तथाकथित साक्षर भारतीय मध्यवर्गीय समाज जो सिर्फ निरपेक्ष अखबारी भाषा समझने में दक्ष है, और उसे ही सम्पूर्ण समझ की तरह प्रस्तुत करने में। इस जनपद में आधुनिक संसार किसी जादूगर की तरह इसके अनजाने ही इसके जीवन के तमाम पहलुओं और विचारों को निस्सार कर गया है और इस तरह इस जनपद को दुख में डुबो गया है। लेकिन आधुनिक संसार की कविता का इसमें प्रवेश नहीं हो सका। ऊपर से देखने पर इस जनपद का दोष लग सकता है कि उसे आधुनिक कला-चेष्टाओं की खबर तक नहीं है। वह अपने दुख और अपनी रामायण में ही इतना रमा हुआ है कि उसे किसी और बात की फुर्सत ही नहीं है। लेकिन जैसा कि ध्यान से पढ़ने पर हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि यहाँ ऐसे जनपद के लिए व्यंग्य का भाव नहीं है बल्कि एक पारदर्शी करुणा अवश्य है। लेकिन यह करुणा किसी और के लिए भी है—कुछ-कुछ प्रश्नवाचक-सी करुणा : आधुनिक कूट-व्यवस्था के लिए जिसे कला और कविता इन दो उपाधियों से अभिहित किया गया है। क्यों है आधुनिक कूट-व्यवस्था के लिए यह करुणा? इसका कम-से-कम एक जवाब यह हो

सकता है कि इस जनपद में आधुनिक काव्य का सृजन होता अवश्य है लेकिन कोई भी उससे सम्बद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि यह नयी कूट-व्यवस्था 'रामचरितमानस' और इन जैसे काव्यों से अपना कोई नाता नहीं बना सकी है, उसी 'रामचरितमानस' से जिसके सहारे यहाँ के वासी कविता समझना सीखते हैं।'[6]

त्रिलोचन की कविताओं में नाटकीयता और बातचीत का एक अलग सुख है। उनका स्वर आशावादी है। चारों ओर की विषमता एवं नैराश्य में वे आगे बढ़ते हैं। उनका यह आशावादी मन लोक मन का प्रतीक है। कहा जाता है कि अपनी आशा और आस्था के बल पर लोक सदैव खड़ा रहता है। लोक त्रिलोचन की कविता का पुष्ट आधार है। उन्होंने अपने काव्य-नायकों का निर्माण इसी लोक से किया है। 'ताप के ताये हुए दिन' की लंबी कविताओं में लोक चरित्र आसानी से देखे जा सकते हैं। इसी संग्रह में एक लम्बी, सीधी-सादी और कथात्मक कविता है 'नगई महरा'। यह कविता समूचे ग्रामीण परिवेश के उस भाग पर फोकस करती है जिसमें जातियों से जुड़े अनेक मिथक बनते-बिगड़ते रहते हैं। जाति के स्तर पर भेद-भाव, ऊँची जाति का नीची जाति के मुँह न लगना, नीची जाति में रहते हुए भी जाति के बंधन को स्वीकार करना, ये सभी नाजुक प्रसंग इस कविता को सजाते हैं।

'नगई महरा' वस्तुतः एक वर्गीय चरित्र है जैसे होरी। होरी एक दलित मजदूर किसान है तो नगई कहार जो अपना गाँव लोकापवाद से छोड़कर चिरानीपट्टी में आ बसता है। जहाँ घने जंगल, आम, जामुन, चिलबिल, मकोय, रिसबर की बवरें, झड़बेरी की झाड़ियाँ हैं। बबूल और रेवाँ के सूखे पत्तों से वह भाड़ चलाने लगता है। उसका छोटा सा परिवार बहुत खुशहाल है जिसमें कभी टुन्न-फुन्न नहीं सुनाई देती —

**नगई का परिवार**
**छोटा था**
**घरनी और एक बच्ची**
**बच्ची गोहनलगुई थी**
**घरनी सेंदुर से मिली नहीं थी**
**धरौवा कर लिया था**
**घरनी फुर्तीली थी**
**चुस्त काम-काज में**
**बोल बात में हँसमुख**[7]

नगई का यह परिवार कहारों के जातिगत नियमों के आधार पर ही बना था फिर भी चर्चा कमजोर थी। यद्यपि जोड़ा बिछुड़ने के बाद दूसरे को लाने में बाधा नहीं थी फिर भी नीची जाति में भी कुछ मतभेद थे। कोई थोड़ी ऊँची तो कोई थोड़ी नीची होती और स्त्री-पुरुष यदि भिन्न शाखा के होते हैं तो और मुश्किल हो जाती। इस मुश्किल का समाधान पंचायत थी जो डाँड़-बाँध लगाती, भोज-भात देना पड़ता था। नगई का कसूर इतना था कि उसने छोटे भाई बैरागी की सास से नाता जोड़ घर में बैठा लिया था अर्थात् एक ही घर में माँ-बेटी जेठानी-देवरानी थीं। लोकापवाद से डरकर नगई बाप-दादों का कुटका छोड़कर चिरानीपट्टी में बस जाता है। जहाँ साँप रहते हैं। पास में डॅड़ियबा का मसान है। लेकिन नगई कर्म को अपना धर्म मानते हुए दिन भर खाँची बीनता है। सुतली कातता है और पैसे जोड़ता है। पंचायत द्वारा निर्धारित डाँड़-बाँध भोज-भात के लिए ताकि वह अपनी जाति-बिरादरी में शामिल होकर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। कई वर्ष बीत जाते हैं नगई बिरादरी को न्योता देता है। पंचायत बुलाता है। पाँच सौ के लगभग लोग पाँत में भोजन करते हैं। सब कुछ तैयार गाँजा, तमाखू, सुरती, बीड़ी और पान। भोज के उपरान्त पंचायत बैठी। नगई और लखमनी को बुलाया गया। दोनों ने पंचों के सामने हाथ जोड़कर अपना 'दोस' स्वीकार किया। पंचों का न्याय एवं दण्ड व्यवस्था इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

**पंचों ने कहा, दस रुपये का डाँड़ है, भात देना होगा**
**यह भी मंजूर है**
**फिर महरिन जल लायी, सबको दिया पीने को**
**नगई ने हुक्का पिया और बारी-बारी सबको दिया**
**पंचों ने हुक्म दिया अब तुम दोनों साथ रहो**
**पंचायत को मानो पंचपरमेसर है**
**नगई हाथ जोड़े अब खड़ा हुआ**
**बोला, जाति गंगा ने मुझे पावन कर दिया**
**धन्य हुआ**
**और फिर भोज हुआ**
**नाच और नाटक हुए**[8]

नगई 'जाति गंगा' में पवित्र हुआ किंतु 'भोज', 'नाच' और 'नाटक' ये तीन शब्द मानस में स्थिर हो गये। इन्होंने सोचने पर विवश किया कि दलितों की वर्ग विशेष में क्या स्थिति है? जाति सम्मिलन का यह महोत्सव कितना कठिन होता था बेचारे निर्धन व्यक्ति के लिए। आज जब जाति बंधन शिथिल हो रहे हैं तब यह कविता बहुत सारे सवाल खड़ा करती है। जाति चिंता भी उसी की है जिसका जीवन चिंताओं से घिरा हुआ है। 'नाच' समाज का नंगा नाच है तो नाटक चरित्र के खोखलेपन का संकेत है। नगई धर्म (रामायण सुनता है), कर्म (कठोर श्रम करता है) और नियम (सामाजिक) से बंधा एक ऐसा दलित चरित्र है जिसकी रचना त्रिलोचन ने किसी विमर्श के लिए नहीं बल्कि दलितों के जीवन का सच दिखाने के लिए किया है। उनकी कविता ऐसे ही चरित्रों को लेकर मौलिक पहचान बनाती है।

'भोरई केवट' और 'मंगल' त्रिलोचन के दो विशेष काव्य नायक हैं। ये गाँव में रहते हैं। गाँव को ढोते हुए जीते हैं। किसी प्रकार गंवई जन-समाज में रहते हुए ये नहीं समझ पाते कि फसल तो खूब हुई, अनाज-मंडियों की रौनक बढ़ती जा रही है किन्तु मजदूर दो जून की रोटी के लिए तरस रहा है। गाँव का भोला-भाला भोरई संभवतः इसीलिए तड़पकर कह उठता है कि अब तो धन, धर्म, जातिभेद की लड़ाई सही नहीं जाती। मंहगाई के बोझ से जीने का साहस भी वह छोड़ चुका है। अनपढ़, गँवई भोरई इसे अपना पूर्व जन्म का प्रसाद मानता है—

**इस अकारण पीड़ा का भोरई उपचार कौन-सा करता**
**वह तो इसे पूर्व जन्म का प्रसाद कहता था**
**राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति,**
**पूंजीपतियों की चालें**
**वह समझे तो कैसे!**
**अनपढ़ देहाती, रेल-तार से बहुत दूर**
**हियाई का बाशिन्दा**
**वह भोरई**[9]

त्रिलोचन का एक काव्य चरित्र 'मंगल' के रूप में भी है। गाँव में महुए के फूलों, फसलों के बीच जीने वाला है—बड़ी सहज भाषा में कहता है, 'गाँव को देखकर, अब ढहते हैं मन के मोहक महल तुम्हारे'। नागरिकों का मनगढ़ंत है फ़र्जी लेखा'। उनकी कविता के स्त्री पात्रों पर विचार किये बिना बात पूरी नहीं की जा सकती। दलित एवं स्त्री आज की शताब्दी के बड़े विमर्श बने हुए हैं। ऐसी दशा में त्रिलोचन की स्त्री-विषयक धारणा, स्त्री के मन में पुरुष के प्रति भाव-अभाव, कुभाव एवं प्रभावों की स्थिति को भी जानना चाहिए।

उनका एक संग्रह है 'तुम्हें सौंपता हूँ' जिसमें प्रेम को केन्द्र में रखकर कई उत्कृष्ट कविताएँ हैं। 'तुम्हें जब मैंने देखा' कविता का कवि सोचता है कि इस दृश्यमान जगत में 'सबसे पहले क्यों न तुम्हीं को मैंने देखा'। आज तक का सारा कुछ देखा हुआ व्यर्थ रहा। उनकी कविता में स्त्री-विषयक सम्बन्धों का आदर्श रूप भी देखा जा सकता है—

**बहू मिले तो ऐसी घर में शोभा आए**
**शांति, सुमति हो। दुःख कभी मन को न गरासे**
**बाहर का डर भीतर के खग को न तरासे**
**छोटे रहें चहकते, श्वसुर स्नेह भर लाये,**
**कहीं पतोहू पाये, कोई ऐसी पाए**
**साम दाम से रहे और मन में न हरासे।**[10]

त्रिलोचन के स्त्री पात्रों में 'चंपा' एवं 'प्रभा' दो विरोधी प्रकृति के चरित्र हैं। 'चंपा काले काले अच्छर नहीं चीन्हती' कविता की नायिका चम्पा नटखट, ऊधमी, अनपढ़ है। काले-काले अक्षरों से निकलने वाली ध्वनियों के प्रति उसमें कौतूहल है। उसे लगता है पढ़ना-लिखना कागज पर व्यर्थ है, यदि पढ़ना है तो जीवन को पढ़ो। इतनी गूढ़ बात को त्रिलोचन हँसी-हँसी में चम्पा के मुँह से कहलवाते हैं—उसे कुछ नहीं चाहिए। उसे कुछ नहीं जानना-सीखना है। कम-से-कम पोथी का ज्ञान तो बिल्कुल नहीं। उसे तो केवल प्रिय के साथ रहना है। कैसी चिट्ठी कैसी पत्री? और कलकत्ता कभी नहीं–काव्य नायक उसे बार-बार पढ़ने-लिखने के लिए कहता है ताकि वह परदेसी बालम को संदेशा दे सके। लेकिन निरक्षर देहाती बाला के पास जीवन्त तर्क है।

**चम्पा बोली : तुम कितने झूठे हो, देखा,**
**हाय राम, तुम पढ़-लिख कर इतने झूठे हो**
**मैं तो ब्याह कभी न करूँगी**
**और कहीं जो ब्याह हो गया**
**तो मैं अपने बालम को संग साथ रखूँगी**
**कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी**
**कलकत्ते पर बजर गिरे।**[11]

यह कविता कवि के पहले संग्रह 'धरती' में संग्रहीत है जो 1945 में प्रकाशित हुआ था। त्रिलोचन इस कविता को मंच पर जब सुनाते थे तो लोग इसमें हास्यरस का आनन्द लेते थे। आज स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में आई बेहिसाब गिरावट के युग में 'चम्पा' एक आदर्श चरित्र है। गिरावट का यह ग्राफ शिक्षितों में अधिक ऊँचा है। आजकल सब कुछ सबको चाहिए। तमाम भौतिक साधन एवं वस्तुएँ जुटाने में लोग जुटे रहते हैं। इस क्रम में पति छूटता है तो छूटे, बच्चा उपेक्षित होता है तो हो, अन्य सम्बन्धों की बात ही नहीं सोचना है। इसके विपरीत चम्पा को कुछ नहीं चाहिए न पैसा न नौकरी। उसे केवल 'बालम का संग साथ' चाहिए।

'फूल नाम है एक' नामक संग्रह में एक सॉनेट है जिसमें नायिका का पति छोड़कर चला जाता है लेकिन वह 'चम्पा' की तरह मुखर नहीं है। वह रोती-धोती रह जाती है। उसके पास ऐसे लोग सहानुभूति दिखाने आते हैं जो पहले कभी नहीं आये थे। त्रिलोचन इसे दुनिया की 'दया-माया' कहते हैं। किन्तु प्रभा की दशा का वर्णन भी करते हैं—

**वह जिसने पंचों के आगे बाँह गही थी**
**दग़ा दे गया, प्रभा रह गयी, उसका रोना**
**रहा, चेतना आँसू में डूबी, जो होना**
**था वह टाले नहीं टला, जो बात कही थी**
**अगलों ने, वह देख रही है, बहुत सही थी।**[12]

अर्थात् त्रिलोचन की दुनिया में यदि सहने वाले कमजोर नियतिवादी स्त्री चरित्र हैं तो बिंदास बोल्ड चरित्र भी। उनकी काव्य नायिकायें उनका ही संदेश देती हैं —

**पछताना क्या, पक जाना क्या**
**अलसाना क्या, भय खाना क्या**
**जब तक साँसा तब तक आसा**
**यह मंत्र सुनाती हूँ।**
**पथ पर चलकर जो बैठ गये**
**वे क्या देखेंगे प्रात नये**
**जीवन का अमृत मिला जिनको**
**मैं तुम्हें चलाती हूँ।**[13]

उनकी कविता में सबका अपना आकाश है। शब्द शक्तियों का सटीक उपयोग तथा उससे सजीव चित्रों की सर्जना में वे सबसे आगे निकल गये हैं। यहाँ तारों भरे आकाश में 'जुगनुओं की जुगजुगाती लय' तथा गीत गाता अलबेला चरवाहा है जिसकी आँखों में 'घर धरती परिवार है'। 'घरनी' शब्द का ईमानदारी से प्रयोग करने वाले त्रिलोचन अपनी कविता में प्रेयसी के अनगिनत रूप रचते हैं। 'परिचय की गाँठ',

'प्यार', 'आज मैं तुम्हारा हूँ', 'गीतमयी हो तुम', 'तुम्हें याद है' के साथ-साथ उनके संग्रह में बहुत सी प्रेम कविताएँ भी हैं।

उनकी कविता में आई प्रेयसी कभी सखी बनती है तो कभी सहचरी। वे स्मरण बिम्बों से अपनी प्रेम कविताएँ संजोते हैं। वे पुष्पा, लीला, कला, रागिनी, इला, माधुरी आदि नामों से प्रेयसी को संबोधित करके कहते हैं कि जो भी नाम तुम्हारा हो तुम भली से भली लगती हो आँखों को। उनकी प्रेयसी हँसती है तो उन्हें कली की याद आ जाती है :

**खिलो, खिलो, खुल खिलो; तुम्हारे खिलने से ही**
**मेरा मन खिलता है, किसी डाल पर हो तुम**
**सौरभ बन कर उड़ो पवन की लहरों पर तुम,**
**पास तुम्हारे आता हूँ इन लहरों से ही.**
**हास-विकास तुम्हारा नूतन सुन्दरता से**
**भर देता है जग को, इस की नीरव गाथा**
**प्राणों को पुलकित करती है. मैं सुनता था**
**मौनमयी वर्णों की भाषा, सहचरता से**
**अनिल धन्य था, जैसे संजीवनी लहर हो**
**नील गगन में प्राणवायु से रलीमिली सी**
**कली समान मनोज्ञ वृंत्त पर खिली खिली सी**
**प्राणोत्सव का जैसे पावन सजग प्रहर हो.**
**फूल, तुम्हारी सत्ता से ही मेरा जीवन**
**पोषित है, विकसित है, मुक्ति रूप है बंधन**[14]

'उस जनपद का कवि हूँ' संग्रह में बहुत सी कविताएँ प्रेम एवं प्रेम सम्बन्धों को लेकर लिखी गई हैं। वे मानव प्रेम के साथ-साथ प्रकृति प्रेम के भी कवि हैं। उनके काव्य में ऋतुओं का संगीत है। 'त्रिलोचन जितने मानव-संघर्ष के कवि हैं, उतने ही प्रकृति की लीला और सौन्दर्य के भी। इसीलिए प्रकृति बहुत गहराई तक उनकी कविता में रची-बसी है। प्रकृति के बारे में त्रिलोचन का दृष्टिकोण बहुत कुछ उस ठेठ भारतीय किसान के दृष्टिकोण जैसा है जो कठिन श्रम के बीच भी उगते हुए पौधों की हरियाली को देखकर रोमांचित होता है। निराला की तरह त्रिलोचन ने भी पावस के अनेक चित्र अंकित किये हैं और बादलों के कठोर संगीत को अपनी अनेक कविताओं में पकड़ने की कोशिश की है।'[15] 'बादल चले गये वे', 'आज का दिन बादलों में खो गया', 'बादलों में लग गई है आग दिन की', 'संध्या ने मेघों के कितने चित्र बनाये', 'बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है', 'मैं बादल हूँ, वह बादल जो बरस चुका है' जैसी अनेक उत्तम कविताएँ त्रिलोचन को बड़ा कवि सिद्ध करती हैं। उनकी कविता में बादल कभी वे स्वयं हो जाते हैं तो कभी पाहुन बनकर आते हैं :

**दो दिन दुख का**
**दो दिन सुख का**
**दुख सुख दोनों संगी जग में**
**कभी हास है**
**कभी अश्रु है**
**जीवन नवल तरंगी जग में**
**बादल चले गये वे**
**दो दिन पाहुन जैसे रह कर**[16]

उनकी कविता में आये बादल उनके अचेतन में बसे किसान को जगाने वाले हैं। उन्होंने लिखा भी है 'उठ किसान, ओ उठ किसान, बादल घिर आए'। उनकी कविता में किसान का जीवन, खान-पान, रहन-सहन दिखाई देता है। एक किसान दम्पति की कविता में उपस्थिति इस प्रकार है :

**कुछ सुनती हो,**
**कुछ गुनती हो,**
**यह पवन, आज यों बार बार**
**खींचता तुम्हारा आँचल है**
**जैसे जब तब छोटा देवर**
**तुम से हठ करता है जैसे**
**तुम चलो जिधर वे हरे खेत।**
**वे हरे खेत –**
**हैं याद तुम्हें? –**
**मैंने जोता तुमने बोया**
**धीरे-धीरे अंकुर आये**
**फिर और बढ़े**
**हमने तुमने मिल कर सींचा**[17]

त्रिलोचन की आत्माभिव्यक्तियों में अभावों के साथ-साथ अपने स्वभाव एवं मानसिक बनावट का भी जिक्र है। अपने जीवन के आर्थिक संघर्षों के बीच कैसे उन्होंने अपने को गढ़-गढ़, छील-छील कर बड़ा किया है इसके पर्याप्त संकेत हैं। त्रिलोचन की अनेक आत्माभिव्यक्तियाँ उनकी स्मृतियों के रूप में हैं—बचपन की, किशोर और युवा मन की प्रेम और दाम्पत्य की स्मृतियों के रूप में। ये विशिष्ट स्मृति बिम्ब खड़ा करना त्रिलोचन जैसे कवि से ही संभव हो सका है। उनके प्रायः सभी संग्रहों में प्रकृति की, गाँव की, किसान की, लोक की झाँकी मिलती है। एक कविता है :

**बैठ धूप में हरी मटर की घुँघनी खाना,**
**जाड़े का आनन्द यही है र स गन्ने का**
**ताज़ा ताज़ा पीना, कोल्हाड़ों में जाना,**
**इन उन बातों से मन बहलाना, बनने का**
**भाव न मन में आने देना, आवाजाही**
**का ताँता, रस का कड़ाह में पकना, झोंका**
**जाना गुलौर का, आलू ले कर मनचाही**
**संख्या में पकने के लिए पहुँचना, चोंका**
**किसी कमानी या पतली लकड़ी में, डाला**
**फिर कड़ाह में, कही सुनी सानंद कहानी**

**'सीत बसंत' 'संख राजा' की, मन में माला**
**नए नए स्वप्नों की, सुधि जानी-अनजानी,**
**ठाँव ठाँव का जीवन है कुछ नया, अनोखा,**
**कहीं सरल विश्वास है, कहीं केवल धोखा.**[18]

इस सॉनेट में जो गाँव का परिदृश्य है उसे जिये बिना नहीं रचा जा सकता। गाँव की शब्दावली घुँघनी, कोल्हाड़, कड़ाह, गुलौर, कमानी और सीत बसंत तथा संख राजा की कहानियाँ कविता को गाँव में ले जाकर छोड़ देती हैं। ये दृश्यावलियाँ शहरी लोगों को रसबोध नहीं करा पायेंगी। ये लोक जीवन का किसान जीवन त्रिलोचन की कविता का प्राण है। यही उनका अपना है, धन है, मन है, जीवन है। त्रिलोचन क्रांति, विद्रोह और उत्तेजना के कवि नहीं हैं। वे मूलतः राग के कवि हैं। लोक के सौन्दर्य में उनका गहरा लगाव है।

उनकी कविता में 'घिर आए बादल बसंत, में याद तुम्हारी आई', 'प्राणाधिके, बसंत आ गया गूँज रहा था', 'तुम्हें याद है, उस दिन बाबा के पोखरे में', 'चाँदनी रात है सन्नाटा है बैठा हूँ', 'खिली दृश्यता आज. शरद की ऋतु कुछ ऐसी', 'हरियाली के माथे पर बिंदी सी ऊषा', 'दूब, गर्मियों में देखा, भूरी भूरी थी', 'फूलों की चाँदनी नीम में जो आई है', 'यह शिरीष का फूल—स्वयं कोमलता जैसे', 'बाढ़ चाँदनी की आई है, देख रहा हूँ', 'संध्या ने मेघों के कितने चित्र बनाए—', 'झाँय झाँय करती दुपहरिया नाच रही थी', 'चाँद दूज का आए और अस्त हो जाए', 'कटहल के फूलों की लहरों ने रोका था', 'मुझको हरियाली पसंद है', 'फूल मुझे भाए बबूल के वूली जैसे', 'पात झड़ गये थे पाकड़ के, उसमें टूसे', 'दुपहर थी जेठ की हवा भी चल रही थी', 'नन्हीं सी गौरैया अपना चारा चुगती' जैसी पंक्तियों का अगला चरण उनके सॉनेट हैं। सॉनेट जैसे विजातीय छन्द को हिन्दी कविता में सफलता से उतारना, ढालना और बिम्ब खड़ा करना त्रिलोचन की काव्य रचना–शक्ति एवं लोक जीवन की गहन सूझ को प्रदर्शित करते हैं :

**गेहूँ जौ के ऊपर सरसों की रंगीनी**
**छाई है पछुआ आ आ कर इसे झुलाती**
**है, तेल से बसी लहरें कुछ भीनी भीनी**
**नाक में समा जाती हैं, सप्रेम बुलाती**
**है मानो यह झुक झुक कर समीप ही लेटी**
**मटर खिलखिलाती है, फूलभरा आँचल है,**
**लगी किचोई है, अब भी छीमी की पेटी**
**नहीं भरी है, बात हवा से करती, बल है**
**कहीं नहीं इसके उभार में। यह खेती की**
**शोभा है। समृद्धि है, गमलों की ऐयाशी**
**नहीं है, अलग है यह बिलकुल उस रेती की**
**लहरों से जो खा ले पैरों की नक्क़ाशी।**
**यह जीवन की हरी ध्वजा है, इस का गाना**
**प्राण प्राण में गूँजा है मन मन का माना।**[19]

नाटकीयता और बतकही का सुख साथ-साथ त्रिलोचन की कविता में देखा जा सकता है। उन्होंने गीत, गज़ल, सॉनेट तथा चार पंक्तियों की चतुष्पदियाँ लिखी हैं। उनके काव्य-संसार का ताना-बाना छोटी और बड़ी दोनों तरह की कविताओं से बुना गया है। छोटी कविताएँ छोटी होकर भी छोटी नहीं होतीं। 'छोटी और लंबी तो विशेषण भर है, लेकिन इधर 'छोटी कविता' और 'लंबी कविता' दो अलग-अलग संज्ञाएँ भी उभरी हैं। इन दोनों का अपनी शक्ति और सामर्थ्य के साथ होना और घटित होते रहना सच्चाई भी है। अच्छी छोटी कविता भी अपने आशय से बड़ी हो सकती है।'[20] 'गाय करती है घमौनी' और 'जीवन का खेल' जैसी कविताओं से बात स्पष्ट हो जायेगी :

**आँख मूँदे, पेट पर सिर टेक**
**गाय करती है घमौनी बँधी जड़ से**
**पेड़ की छाया खड़ी दीवार पर है**
**× × ×**
**मेमने कुदकते हैं**
**जाड़े की धूप को जीवन के खेल से**
**आँक आँक देते हैं**[21]

लम्बी कविताओं में 'भोरई केवट' के घर' और 'नगई मेहरा' बहुचर्चित हैं। लम्बी कविताओं में कई बार गद्यात्मकता आ जाती है। वर्णन का अति विस्तार अभिव्यक्ति की शिथिलता का कारण बनते हैं। फिर भी लंबी कविताएँ किसी दृश्य, व्यक्ति या परिस्थिति को विस्तार से जानने समझने का उत्तम साधन हैं परन्तु त्रिलोचन के सॉनेट ही अधिक प्रभावशाली हैं। लंबी कविता के लिए तो वे विख्यात भी नहीं हैं। त्रिलोचन ने गीत बहुत लिखे हैं। सन् 1987 में प्रकाशित उनका गीत संग्रह 'सबका अपना आकाश' छायावादी कविता के प्रभावों से रचा गया लगता है। इनकी भाव-भूमि छायावादी कवियों की है। 'गुलाब और बुलबुल' त्रिलोचन की गज़लों और रुबाइयों का संग्रह है। इस विधा में भी त्रिलोचन ने अपना अधिकार प्रमाणित किया है। उनकी गज़लों एवं रुबाइयों पर मीर एवं गालिब जैसे ख्यात शायरों का प्रभाव दिखाई देता है परन्तु इनमें भी त्रिलोचन का लोक जीवन और अपना भोगा हुआ जीवन उद्घाटित होता है :

**बिस्तरा है न चारपाई है,**
**ज़िन्दगी खूब हमने पाई है।**
**कल अंधेरे में जिसने सर काटा,**
**नाम मत लो हमारा भाई है।**[22]

उनकी गज़लों में कसक है। पीड़ा है। आत्मपरकता है। त्रिलोचन ने आत्मपरक कविताएँ बहुत लिखी हैं। पर उनकी ये आत्मपरक कविताएँ किसी भी स्तर पर आत्मग्रस्त कविताएँ नहीं हैं। यह उनकी गहरी यथार्थ दृष्टि और कलात्मक क्षमता का सबसे बड़ा प्रमाण है। त्रिलोचन अनुभव के इस धरातल पर पहुँचने के लिए जिस कौशल का

इस्तेमाल करते हैं वह खास तौर से ध्यान देने की बात है। वे अपनी आत्मपरक कविताओं में 'त्रिलोचन' का प्रयोग प्रायः अन्य पुरुष में करते हैं और इस तरह से अपने आत्म से एक कलात्मक दूरी प्राप्त करते हैं। अपने आत्म के प्रति यह गहरी निर्मम दृष्टि उन्हें एक ऐसी शक्ति प्रदान करती है जिसके चलते वे मानो अपनी ही धज्जियाँ उड़ाते हैं। उनके सॉनेट इसके गवाह हैं। 'वही त्रिलोचन है, वह-जिसके तन पर गंदे कपड़े हैं', 'देती है मिथ्याभिमान को यही त्रिलोचन', 'भीख माँगते उसी त्रिलोचन को देखा कल' जैसी पंक्तियाँ उनकी आत्म परकता की साक्षी हैं। 'गुलाब और बुलबुल' में वे लिखते हैं :

**अन्न-जल की बात है, हमने त्रिलोचन को सुना,**
**आजकल काशी में है, कुछ दिन इलाहाबाद था।**
**× × ×**
**कच्चे ही हो अभी त्रिलोचन तुम**
**धुन कहाँ वह सँभल के आई है।**[23]

त्रिलोचन भाषा के प्रति सजग रहने वाले रचनाकार हैं। उनकी कविता में भाषा के विविध धरातल दिखाई देते हैं। वे ठेठ अवध के कवि हैं। फलतः अवधी बोली की सर्जनात्मक क्षमता से खड़ी बोली को अधिक आत्मीय और अधिक व्यंजना सम बनाने के आग्रही भी। वे लोक बोली और पण्डितों की बोली में कोई सुविधा सेतु नहीं बनाते। उन्होंने अपनी भाषा का प्रेरक तुलसीदास को माना है :

**तुलसी बाबा, भाषा मैं ने तुम से सीखी**
**मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो।**
**× × ×**
**यज्ञ रहा, तप रहा तुम्हारा जीवन भू पर।**
**भक्त हुए, उठ गये राम से भी, यों ऊपर।**[24]

उनकी कविता में भाषा की लहरें हैं। कभी-कभी उनका काम शब्दों से नहीं चलता किन्तु शब्दों से नाद चित्र गढ़ना भी उन्हें खूब आता है। 'भादो की रात' कविता में बिजली के चमकने और बादल के बरसने का दृश्य अवलोकनीय है :

**तड़ तड़ तड़त्तड़ाड़ धाङ् धा धाङ धुङ धूहुम्**
**× × ×**
**रिमझिम रिमझिम – छक् छक् छक् छक् – सर् सर् सर् सर्**
**चम चम चमक – धमाके घन के, उत्सव निशि भर।**[25]

लय एवं तुक का सुन्दर निर्वाह उनके सॉनेट में दिखाई देता है। वस्तुतः समकालीन कवियों में त्रिलोचन ऐसे कवि हैं जिन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि 'मैंने जीवन की शराब पी है'। जीवन की शराब पीने वाले कवि ने जीवन के दुर्गम पथ को बड़ी सरलता से पार कर लिया। उन्हें राह में अनगिनत ऐसे चेहरे मिले जो उन जैसे ही थे। उनको लेकर वे अपना जीवन जीते हैं अपनी कविता के साथ :

**मैं इस जीवन की शराब को पीते पीते**
**वर्षों का पथ क्षण की छोटी सी सीमा में**
**तय करता चुपचाप आ रहा हूँ। अनजाने**
**और अपरिचित चेहरे अपने जैसे जीते**
**जीर्ण-शीर्ण मिलते हैं, मैं उनका कर थामे**
**देता हूँ जीवन, जीवन के मधुमय गाने।**[26]

अपने समकालीनों में त्रिलोचन का व्यक्तित्व बिल्कुल अलग है, उनकी कविता भी सबसे अलग। तथाकथित आधुनिकता में न तो वे खप सकते हैं और न ही उनकी कविता। उनका अपना मन और जीवन नितान्त अपना है। अपने लोक का है, इसलिए उनकी कविता को समझने के लिए संस्कार गढ़ना होगा। मिथक तोड़ने होंगे।

**संदर्भ सूची**


1. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, सं0 केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण 1985, पृ0 06
2. वही ,, ,, ,, पृ0 17
3. वही ,, ,, ,, पृ0 51
4. उस जनपद का कवि हूँ, त्रिलोचन, पृ0 11
5. वही ,, ,, ,, पृ0 17
6. उदयन वाजपेयी, कविता का जनपद, सं0 अशोक वाजपेयी, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1992, पृ0 108-109
7. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ0 52-53
8. वही ,, ,, ,, पृ0 64
9. वही ,, ,, ,, पृ0 74
10. फूल नाम है एक, त्रिलोचन शास्त्री, पृ0 55
11. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ0 66
12. फूल नाम है एक, त्रिलोचन शास्त्री, पृ0 38
13. सबका अपना आकाश, त्रिलोचन शास्त्री, पृ0 12
14. उस जनपद का कवि हूँ, त्रिलोचन, पृ0 35
15. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ0 6
16. ,, ,, ,, पृ0 87
17. ,, ,, ,, पृ0 97
18. उस जनपद का कवि हूँ, त्रिलोचन शास्त्री, पृ0 74
19. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ0 93
20. रचना प्रक्रिया से जूझते हुए, लीलाधर जगूड़ी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ0 84-85
21. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ0 92
22. वही ,, ,, ,, पृ025
23. वही ,, ,, ,, पृ0 44, 25
24. वही ,, ,, ,, पृ0114
25. वही ,, ,, ,, पृ0 81
26. वही ,, ,, ,, पृ0 31


◆

# निर्मल वर्मा के यात्रा संस्मरण में जीवन और संस्कृति की खोज

*डॉ0 सत्यपाल शर्मा**

निर्मल वर्मा अपने समय के चर्चित साहित्यकार हैं। इन्होंने यात्रा संस्मरण, कहानी आदि बहुत लिखा है लेकिन अभी तक इनके ऊपर कम लिखा गया है। एक तरफ इनके बड़े प्रशंसक भी हैं, दूसरी तरफ निन्दक भी। कुछ लोग इन्हें मार्क्सवादी लेखक कहते हैं जो कि उचित नहीं है। इनके साथ सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि भारत के लोग इन्हें यूरोपीय मिज़ाज वाला लेखक समझते हैं जबकि यूरोप वाले इन्हें पारम्परिक हिन्दू भारतीय कहते हैं।

निर्मल वर्मा की रचनाओं में यूरोपीय परिवेश तो है लेकिन उनमें भारतीयता खोजने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। जहाँ तक यूरोपीय परिवेश की बात है तो यह स्वाभाविक है क्योंकि उनकी शिक्षा यूरोप में हुई थी। उनका प्रसिद्ध यात्रा संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' में प्राग से आइसलैण्ड तक की यात्रा का संस्मरण है। अतः उसमें यूरोपीय जीवन और संस्कृति की खोज दिखाई देती है।

निर्मल वर्मा ने लिखा है कि 'संस्कृति ही जीवन है।' संस्कृति उसको कह सकते हैं जो प्रकृति और मनुष्य में साहचर्य स्थापित करती है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में नहीं हुआ। जीवन और संस्कृति को आधुनिक अर्थों में खोजना हो तो उसे यूरोप की व्यवस्था में देखा जा सकता है। लेकिन निर्मल वर्मा जीवन को यूरोपीय या आधुनिक सन्दर्भों में नहीं देखते बल्कि भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन को देखते हैं। भारतीय संस्कृति की यह मूलभूत विशेषता रही है कि उसने विभिन्न संस्कृतियों को अपने में पचा लिया। वस्तुतः निर्मल वर्मा में यह विशेषता दिखाई देती है। उनका स्पष्ट मानना है कि अतीत और वर्तमान के बीच जो अन्तर आया है, वह उन्नीसवीं शताब्दी की औपनिवेशिक चेतना का परिणाम है।

कहा जाता है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' साहित्य में समाज के जीवन और संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। निर्मल वर्मा के यात्रा संस्मरण में यह बात पूरी तरह चरितार्थ होती है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि उनके यात्रा संस्मरण में जीवन और संस्कृति की खोज ही उनका उद्देश्य है मगर इतना जरूर कहा जा सकता है कि जीवन और संस्कृति की खोज उसमें निहित है।

निर्मल वर्मा ने 'इण्डिया टुडे' की साहित्य वार्षिकी, 1997 में छपे अपने लेख में साहित्य के बारे में लिखा है-

''साहित्य वह 'घर' है - बिना दीवारों का घर - जहाँ। वह पहली बार अपने 'मनुष्यत्व' से साक्षात्कार करता है।... घर वह सिर्फ इस अर्थ में है कि वहाँ हम समस्त बाहरी सत्ताओं से छुटकारा पाकर अपने सत्य के पास लौटते हैं। अपना सत्य यानि समूची मनुष्यता का अखण्डित, अविभाजित सत्य।... अपने 'सम्पूर्ण' होने का जो बोध मनुष्य को साहित्य में होता है, वह एक समग्र अनुभव है, मनुष्य इसे एक स्मृति की तरह अपने भीतर संजोकर जीता है।''

निर्मल वर्मा इसी सम्पूर्णता और मनुष्यता की तलाश में हैं। यूरोप से आइसलैण्ड की यात्रा के बीच जो उनके अनुभव हैं, उन स्मृतियों को उन्होंने अपने प्रसिद्ध यात्रा संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' में संजोकर रखा है जिसके कुछ पहलुओं पर हम आगे विचार करेंगे।

पूरी किताब को पढ़ने के बाद दो तीन बातें जो खुलकर सामने आती हैं, जिसे लेखक को बताना नहीं पड़ता बल्कि हम खुद निष्कर्ष निकाल सकते हैं। जैसे- बीयर उनकी (यूरोप वालों की) जिन्दगी का अभिन्न अंग बन चुका है, मानों वह वहाँ की संस्कृति का प्रतीक हो गया है। मैंने यह देखा कि किताब के प्रथम पचास पृष्ठों में शायद ही कोई पृष्ठ बचा हो जिसमें बीयर, बार आदि शब्दों का प्रयोग न हुआ हो। इसी तरह लेखक को ठहरने के लिए होटल आदि की समस्या से गुजरना पड़ता है जिससे एक देश का दूसरे देश के प्रति अविश्वास झलकता है मगर किसी मित्र की सहायता से जब उसी होटल में रहने के लिए कमरा मिल जाता है तो लेखक को यह चमत्कार जान पड़ता है। जगह-जगह डांस पार्टी, नाइट क्लब, नाचते हुए लड़के-लड़कियाँ, कोई लिंग भेद नहीं, उन्मुक्त सेक्स आदि वहाँ के जीवन और संस्कृति का अंग है।

लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने मित्रों के साथ बातचीत के दौरान मित्रों के द्वारा ही वहाँ के जीवन और संस्कृति पर प्रकाश डाला है और जहाँ इससे बात नहीं बनती वहाँ लेखक सोचने लगता है, विचार करने लगता है या फिर किसी बड़े कवि की कविता या महान विचारक का कथन उद्धृत कर देता है और कहीं-कहीं भारतीय सन्दर्भों को भी जोड़ने लगता है।

किताब के प्रथम संस्मरण 'ब्रेख्त और एक उदास नगर' में उन्होंने यह दिखाया है कि द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव किस कदर वहाँ के जीवन पर अभी तक पड़ा हुआ है। लेखक के शब्दों में -

''लड़ाई को खत्म हुए मुद्दत बीती, किन्तु उसके मिटे-बुझे घाव जहाँ-तहाँ उभर आते हैं। हजारों ऐसे लोग हैं, जिनके घर पूर्वी बर्लिन में है और जो हर रोज काम करने पश्चिमी बर्लिन जाते हैं। अनेक ऐसे परिवार हैं जो इस विभाजित शहर का आईना हैं- आधा परिवार पूर्वी भाग में, आधा पश्चिमी भाग में।.... मैंने पूर्वी और पश्चिमी बर्लिन के लोगों में कोई भेद नहीं देखा, उनके राजनीतिक सिद्धान्त आध्यात्मिक मान्यतायें एक-दूसरे से कितनी ही भिन्न क्यों न हों।''[1]

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

निर्मल वर्मा ने बड़े अद्‌भुत ढंग से यह दिखा दिया कि राजनीतिक सत्य और समाज के सत्य में कितना अन्तर होता है। पश्चिमी जर्मनी पूँजीवादी देश था और पूर्वी जर्मनी कम्युनिस्ट देश। लेकिन लेखक के अनुसार पश्चिमी अपील की अमरीकी सिगरेटें, स्कॉच व्हिस्की आदि खरीदने हजारों लोग पूर्वी जर्मनी से आते हैं। इससे पता चलता है कि निर्मल वर्मा ने यूरोपीय जिन्दगी का यथार्थ खोजने का प्रयास किया है।

आइसलैण्ड के लोगों के व्यवहार के बारे में उन्होंने लिखा है- ''आइसलैण्ड के अलावा कोई दूसरा देश नहीं देखा, जहाँ लोग इतने खुले, मुक्त और आत्मीय ढंग से अपने सबसे महान लेखक के सम्बन्ध में बातचीत करते हों- आदर और स्नेह का प्रदर्शन भी एक मुक्त व्यंग्य भाव द्वारा किया जा सकता है- बिना बार-बार 'श्री' और 'जी' का इस्तेमाल किये- यह कोई उनसे सीखे।... अपनी भाषा के प्रति ललक और प्यार मैंने अपने देश में बंगालियों और यूरोप में आइसलैण्ड निवासियों से अधिक और कहीं नहीं देखा।''[2]

निर्मल वर्मा ने आइसलैण्ड के जीवन और संस्कृति की तरफ इंगित करते हुए भारत को भी याद कर लिया। 'रोती हुई मर्मेडका शहर' शीर्षक के संस्मरण में उन्होंने कोपनहेगन, अमस्टरडम, हैम्बर्ग के बारे में बताते हुए लिखा है कि उनके मित्र थोर्गियेर अपने जीवन में सात से अधिक घाटों का पानी पी चुके हैं। निर्मल वर्मा ने इसी में आगे लिखा है-

''नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड में परम्परागत नैतिक रूढ़ियाँ, यूरोप के अन्य देशों की तुलना में बहुत हद तक नष्ट हो चुकी हैं। स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध अधिक स्वच्छन्द और कुण्ठा-मुक्त हैं, रहन-सहन का स्तर न केवल भौतिक दृष्टि से ऊँचा है, बल्कि संस्कृति सम्पन्न है, अतः वेश्यावृत्ति की सामाजिक आवश्यकता, पुरुषों और स्त्रियों के लिए लगभग नहीं के बराबर रह गयी है।''[3]

आइसलैण्ड की संस्कृति के सन्दर्भ में निर्मल वर्मा ने लिखा है-

''मध्यकालीन यूरोप में सभी देशों में ज्ञान और शिक्षा के साधनों पर चर्च का आधिपत्य था, किन्तु आइसलैण्ड में चर्च और ईसाई संघों के नियन्त्रण के बाहर, एक शुद्ध धर्म निरपेक्ष संस्कृति का विकास हुआ।''[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्मल वर्मा वहाँ के जीवन के साथ-साथ वहाँ की संस्कृति की भी खोज करते हैं। आइसलैण्डी अपनी संस्कृति के प्रति बहुत गम्भीर हैं जबकि हम भारतीय सिर्फ गम्भीर दिखने की कोशिश करते हैं।

'चीड़ों पर चाँदनी' नामक यात्रा संस्मरण में तीसरा शीर्षक है- 'उत्तरीरोजनियों की ओर'। इसमें लेखक की भेंट एक लड़की से होती है जो डॉ. राधाकृष्णन की पुस्तक 'हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' पढ़ रही थी। बातचीत में वह अल्जीरिया के बारे में बताती है-

''गाँव के गाँव तबाह हो गये हैं वहाँ... हजारों आदमी बिना घर बार के, सड़कों पर भूखे और बीमार बच्चे। 'मानव उत्पीड़न' पहली बार मुझे इस शब्द के सही मायने पता चले... उससे पहले मैं सिर्फ अखबारों में पढ़ती थी, अल्जीरी शरणार्थियों के बारे में.... लेकिन जब तक हम आँखों से नहीं देखते, कभी नहीं जानते... इतना भयानक।''[5]

उस लड़की की बात में कितना बड़ा सत्य छिपा है कि जब तक हम आँखों से नहीं देखते, कभी नहीं जान पाते। यही कारण है कि जब वह लड़की हिन्दू दर्शन की बड़ाई करती है और लेखक से पूछती है तो लेखक का यही जवाब रहता है कि जब तक हम आँखों से नहीं देखते, कभी नहीं जान पाते। शायद यही कारण है कि संस्मरण के अगले शीर्षक 'सफेद रातें और हवा' के शुरू में ही लेखक लिखता है-

''हर शहर के दो चेहरे (या शायद ज्यादा) होते हैं, एक वह जो किसी 'पिक्चर पोस्टकार्ड' या 'गाइड बुक' में देखा जा सकता है; दूसरा उसका अपना निजी, जो दुलहिन के चेहरे सा घूँघट के पीछे छिपा रहता है।''[6]

लेखक आगे इन दोनों चेहरों में अन्तर बताता चलता है। आइसलैण्ड के नाम में ही उसे अंतर्विरोध दिखाई देता है। आइसलैण्ड के युवकों का वर्णन करते हुए लेखक कहता है—

''आश्चर्य इतना उनके ऊँचे कद में नहीं, जितना इसमें होता है कि इतने आकाश चुम्बी कद के लोग इतने विनम्र, शालीन और चुप्पे हो सकते हैं।... अंग्रेज जाति में शिष्टाचार का महज एक 'मैनरिज्म' प्रतीत होता है, आइसलैण्ड में वह सहज, निश्छल प्रकृति का अंग है। .... ऊपर से सनकी दिखनेवाले, ये लोग जीवन के कुछ तथ्यों के प्रति कितने 'नार्मल' हो सकते हैं, कम से कम अपने को 'सहिष्णु' कहने वाले हम भारतीय उनसे काफी कुछ सीख सकते हैं।''[7]

लेखक बताता है कि वहाँ नैतिकता जीवन पर थोपी नहीं गयी, वह जीवन क्रिया का अदृश्य अंग है। लेखक वहाँ की नैतिकता, शिष्टाचार की संस्कृति व व्यवहार के साथ अंग्रेज व भारत के सन्दर्भ को तो जोड़ता ही है, साथ ही अपनी कल्पना व बुद्धि शक्ति द्वारा उसके कारण को भी खोजता है। लेखक के शब्दों में-

''सोचता हूँ, पिछले हजार वर्षों से जो देश आस-पास की दुनिया से अलग सिर्फ समुद्र, ग्लेशियरों और ज्वालामुखी पर्वतों से घिरा रहा है, उसकी वीरानी और खामोशी की छाया यदि उसके निवासियों के भीतर कहीं छिपी रहे, तो क्या आश्चर्य की बात होगी।''[8]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्मल वर्मा अपने यात्रा संस्मरण में जीवन और संस्कृति की खोज तो करते ही हैं, साथ ही कहीं-कहीं उसके कारणों की भी खोज करने लग जाते हैं। लेखक के अनुसार आइसलैण्ड यूरोप में अकेला देश है, जिसकी अपनी कोई सेना नहीं। वहाँ तीस-चालीस वर्षों से चोरी या डाके की एक भी घटना नहीं हुई। साहित्य और लेखक के प्रति वहाँ के लोग इस तरह दिलचस्पी लेते हैं जितना, हमारे देश के युवक-युवतियाँ फिल्मी सितारों की जिन्दगी में। आइसलैण्ड की संस्कृति की विशेषता बताते हुए वर्माजी लिखते हैं—

''आइसलैण्ड में संस्कृति का अर्थ ही 'लोक संस्कृति' है—दैनिक रहन-सहन में सहज रूप से रची हुई मेंहदी की मानिन्द। किसी भी समय वह किसी वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं रही।''[9]

किसी भी देश के जीवन और संस्कृति को जानने के लिए लेखक ने जो तरीका अपनाया है वह निश्चित ही बहुत महत्वपूर्ण है। 'लिदीत्से : एक संस्मरण' नामक शीर्षक में लेखक ने इस तरीके पर प्रकाश डाला है-

''अक्सर सोचता हूँ, कौन सा सही तरीका है, किसी देश के जातीय गुण जानने का, शायद बहुत छोटी-छोटी बातों से जिनका कोई विशेष महत्व नहीं है किन्तु इन्हीं नगण्य घटनाओं के बीच कुछ मूक, अदृश्य संकेत मिल जाते हैं।''[10]

'बर्त राम का : एक शाम' नामक शीर्षक में लेखक एक सच्चाई को उद्घाटित करता है- ''सोचता हूँ।, जितना हम पाते हैं, क्या वह उससे कम नहीं है, जितना हम खो देते हैं....।''[11]

'पेरिस : एक स्टिल लाइफ' में लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में मित्र का जवाब है- ''यदि सिर्फ एक शहर को जीवित रखने का प्रश्न है, तो मैं पेरिस को चुनूँगा... यदि वह जीवित रहता है, तो मानव संस्कृति को अणु युद्ध के बाद पुनजीर्वित होने में ज्यादा समय नहीं लगेगा।''[12]

यहाँ लेखक को याद आता है कि यात्रायें हमें बाहर केवल स्पेस में ही नहीं ले जातीं, उन अज्ञात स्थानों की ओर भी ले जाती हैं, जो हमारे भीतर हैं। इससे स्पष्ट होता है कि लेखक के भीतर मानव संस्कृति की चिन्ता विद्यमान है। इसी शीर्षक में लेखक ने फ्रेंच लोगों के बारे में भी लिखा है-

''जितना मैंने फ्रेंच लोगों को अपने में निर्लिप्त देखा है- दूसरों की ओर से बिल्कुल उदासीन इतना शायद किसी देश में नहीं।''[13]

'वियना' शीर्षक में लेखक ने लिखा है कि ''उस भीड़ में बहुत से लोग थे- इराकी, अमरीकन और पोलिश। जब भाषा हमारा साथ नहीं देती थी, तो हम इशारों से बात करने लगते, जब इशारों से भी अर्थ समझ में नहीं आता था, तो सिर्फ हँसने लगते थे।''[14]

'चीड़ों पर चाँदनी' में प्रकृति का चित्रण मिलता है। इसमें प्रकृति का मानवीकरण जगह-जगह मिलता है। जैसे-

''पूरी रात होने से पूर्व... झील के दो चेहरे हो जाते हैं- एक हँसता हुआ , दूसरा सोया सा।''[15]

निर्मल वर्मा बड़े ही सतर्क साहित्यकार हैं। यही कारण है कि वे किसी भी देश के जीवन और संस्कृति की खोज करते समय वे यह खोजते हैं कि कहाँ भारतीयपन है। वे साहित्य, साहित्यकार, कलाकार, चित्रकला, मूर्तिकला से विशेष जुड़े हुए मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः वर्माजी इसके माध्यम से जीवन और संस्कृति की खोज करते हुए ही प्रतीत होते हैं। उनके यात्रा संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' में नोबल पुरस्कार विजेता लैक्सनेस से एक इण्टरव्यू भी है जिसमें लेखक के प्रश्न के जवाब में लैक्सनेस कहते हैं-

''वैसे मैं स्वयं एक ऐसा लेखक हूँ, जिसे लोग 'वामपंथी' या 'समाजवादी' कहते आये हैं। इसके बावजूद मैं सोचता हूँ कि अपने प्रतिगामी विचारों के रहते भी इलियट और काम्मू ने महान रचनाओं की सृष्टि की है।... गीतांजलि पढ़ते हुए मुझे आज भी आनन्द आता है... हालांकि युवावस्था में मुझे टैगोर की कवितायें ज्यादा आकर्षित करती थीं।''[16]

''गम्भीर साहित्य की ओर भला कितने लोग ध्यान देते हैं?... सस्ती फिल्में, रेडियो, टेलीविजन का गोरखधंधा लोगों के दिमाग पर इस कदर हावी है कि कुछ भी सोचने समझने का अवकाश उन्हें शायद ही कभी मिल पाता है। मेरे विचार में आज भी प्रत्येक छोटे-बड़े देश में राजनीतिज्ञों का ही बोलबाला है।''[17]

''देखिये, आप मुझे गलत न समझें। भारत के नेताओं के प्रति मेरे मन में हमेशा आदर भाव रहा है। वे अत्यन्त सुसंस्कृत और सजग हैं, किन्तु उनके और भारत के सर्वसाधारण लोगों के बीच मुझे गहरा अन्तर दिखाई पड़ता है।... वाराणसी के एक गाइड मेरे संग थे, सुशिक्षित युवक, साहित्य में एम.ए.। उन्होंने मुझे बताया कि लोग गंगा में नहाने नहीं, अपने पाप धोने आते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि गंगा के पानी में कीटाणु नहीं हैं।''[18]

आधुनिक भारतीय लेखकों के बारे में पूछने पर उन्होंने कहा कि आधुनिक भारतीय लेखक मुझे अधिक 'आधुनिक' नहीं जान पड़े। इस पर हम देखते हैं कि इण्टरव्यू के माध्यम से भारत के साहित्य, जीवन और संस्कृति के ऊपर प्रकाश पड़ता है। कहीं-कहीं आभास होता है कि निर्मल वर्मा का उद्देश्य ही संस्कृति की खोज है। 'समकालीन चेक साहित्य' शीर्षक में उन्होंने लिखा है-

''स्मरण रहे, हिटलर पहला जर्मन नहीं था जिसने चेक साहित्य और संस्कृति की स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने का बीड़ा उठाया था, वह तो केवल 'जर्मनीकरण' की उस प्रक्रिया को अन्तिम स्टेज तक ले जाना चाहता था जो तीन सौ वर्ष पहले से ही आरम्भ हो चुकी थी।''[19]

'देहरी के भीतर : चेखव के पत्र' में निर्मल वर्मा ने रसियन लेखक चेखव के पत्रों के द्वारा उनके व्यक्तित्व को जानने का प्रयास किया है। निर्मल वर्मा ने लिखा है- ''चेखव के पत्र पढ़कर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इतना अलमस्त मौजी व्यक्ति किस प्रकार अपनी कहानियों में अवसाद और तिक्तता के गहरे रंग भर देता है।... जिन्दगी की हर खूबसूरत चीज़ - अच्छे भोजन से लेकर स्त्रियों की रंगारंग पोशाक तक उन्हें आकर्षित करती थी। उनके पत्रों को पढ़कर लगता है कि वह अपनी जिन्दगी के हर क्षण को पूरी तरह निचोड़कर भरपूर जी लेना चाहते थे।''[20]

सुसंस्कृत व्यक्ति कौन होता है—इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने शराबी भाई को पत्र लिखा था—

''तुम योग्य व्यक्ति हो किन्तु तुममें एक चीज का अभाव है—संस्कृति एक सुसंस्कृत व्यक्ति के क्या लक्षण होते हैं?''

1. वे समझदार, सहिष्णु और विनम्र होते हैं?
2. वे दूसरों के सामने 'पोज' नहीं करते।
3. वे डींग नहीं मारते। आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्मल वर्मा ने चेखव के पद्यों में भी जीवन और संस्कृति के सन्दर्भों की खोज की। यह निर्मल वर्मा की अपनी विशेषता है कि उच्च कोटि के साहित्यकारों द्वारा जीवन और संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। किसी देश का वर्णन करते समय वहाँ के इतिहास पर चले जाते हैं। वैसे निर्मल वर्मा संस्कृति या समाज को खाँचों में नहीं बाँटते अर्थात् प्राचीन संस्कृति, आधुनिक संस्कृति को वे अलग-अलग करके नहीं देखते। इसी तरह वे ग्रामीण व शहर का विभाजन अपने साहित्य में नहीं करते। सम्भवतः यही कारण है कि उन पर आरोप लगाया जाता है कि उनकी रचनाओं में ग्रामीण यथार्थ नहीं पाया जाता। निर्मल वर्मा अपनी रचनाओं में 'मैं' या आत्म का जो प्रयोग करते हैं वह सिर्फ उनका प्रतीक नहीं होता बल्कि उसमें अन्य भी शामिल होते हैं।

निर्मल वर्मा की यह विशेषता है कि ये घटनाओं के लेखक नहीं हैं बल्कि उन घटनाओं की जो अनुगूँजें हैं, जो प्रभाव है और जो अनुभूतियाँ हैं उसका वर्णन करते हैं। यह असर लोगों पर अलग-अलग होता है। निर्मल वर्मा की रचनाओं, खासकर कहानियों में उनका द्वन्द्व, अस्पष्टता, कुलबुलाहट, बेचैनी झलकती है। दो विपरीत मार्गों के प्रति आकर्षण में व्यक्ति फँसा हुआ है। इन्हीं तरह की परिस्थितियों का वर्णन निर्मल वर्मा की रचनाओं में मिलता है। निर्मल वर्मा ने 'इण्डिया टुडे' की 'साहित्य वार्षिकी' (1997) में लिखा है—

''साहित्य वह लीला स्थल है, जिसमें इतिहास की छाया और मनुष्य के सत्य की द्वन्द्व क्रीड़ा चलती रहती है।''[21]

सम्भवतः यही द्वन्द्व उनकी रचनाओं में भी व्यक्त हुआ है। इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि निर्मल वर्मा के यात्रा संस्मरण में जीवन और संस्कृति की खोज दिखाई पड़ती है।

**सन्दर्भ-ग्रन्थ**

1. चीड़ों पर चाँदनी, निर्मल वर्मा, पृ. 14, 17, 19
2. वही, पृ. 14, 17
3. वही, पृ. 29
4. वही, पृ. 36
5. वही, पृ. 60
6. वही, पृ. 67
7. वही, पृ. 69, 71
8. वही, पृ. 70
9. वही, पृ. 93
10. वही, पृ. 98
11. वही, पृ. 111
12. वही, पृ. 120
13. वही, पृ. 130
14. वही, पृ. 135
15. वही, पृ. 151
16. वही, पृ. 159
17. वही, पृ. 160
18. वही, पृ. 162
19. वही, पृ. 168
20. वही, पृ. 187
21. इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1997, पृ. 9

◆

# भक्ति आन्दोलन की सामाजिक उपादेयता ( कबीर के सन्दर्भ में )

*संतोष कुमार गोंड* एवं डॉ0 बिपिन कुमार***

मानव की सबसे बड़ी जागीर सत्य है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही सभी धर्मों की स्थापना की गई है तथा सभी धर्मों का मुख्य उद्देश्य भी लोक कल्याण ही है। लोक कल्याण के लिए ही भक्त और भगवान की परिकल्पना की गई है तथा पाप-पुण्य जैसे विधान किए गए हैं। किन्तु जब मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए धर्म का प्रयोग करने लगता है तो इसमें विकृतयाँ आने लगती हैं। कालान्तर में शनैं-शनैं यह विकृतियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि इससे मनुष्य तंग होने लगता है तथा लोक कल्याण का उद्देश्य बाधित होने लगता है तो फिर इसके विरुद्ध तथा लोकरक्षा के लिए एवं मनुष्यता की प्रतिष्ठा के लिए किसी ना किसी व्यक्ति को आवाज़ उठानी पड़ती है। जब यह आवाज कई लोगों द्वारा उठने लगती है तो आन्दोलन का रूप धारण कर लेती है। यह आन्दोलन अपने सामयिक समाज, संस्कृति, धर्म और राजनीतिक परिस्थितियों के गर्भ से निकली ऐसी आवाज होती है जो उस व्यवस्था की खामियों को नकारती और उसके स्थान पर औचित्यपूर्ण खूबियों को लाने के लिए लालायित रहती है। जहाँ तक भक्ति आन्दोलन की बात है, यह एक ऐसा आंदोलन है, जो भारतीय संस्कृति के मूल स्रोतों का सम्यक विश्लेषण करता है और इसकी वैचारिकी में कुछ नया जोड़ने और पुराने को बदलने की आवश्यकता पर बल देता है। चूंकि किसी भी चीज में परिवर्तन या परिवर्धन की आवश्यकता का अनुभव साधारण स्थितियों में नहीं होता। ''जब व्यवस्था में आन्तरिक गुणात्मक विकास के कारण या बाहरी आघात या दबाव के फलस्वरूप परिस्थितियाँ इतनी बदल जाती हैं कि पुरानी दृष्टि और व्यवस्था उनकी नई चुनौतियों को स्वीकार करने में असमर्थ सिद्ध हो जाती है।''[1] तो नये विचार एवं संवेदना की आवश्यकता अपरिहार्य हो जाती है। भक्ति आन्दोलन भी इन परिस्थितियों का साक्षी रहा है। वह उस समय मानवीय गरिमा के विरुद्ध खड़ी अच्छी सी लगने वाली (जो होती नहीं है) जैसी तमाम षड्यंत्रकारी तत्वों को अलगाने का प्रयास किया। मानव के लिए क्या हितकर है? और क्या कमतर? इसका भी भान कराया है। जीवनानुभव के लिए शास्त्र की उपयोगिता कितनी है? और शास्त्रीयता के लिए जीवनानुभव का कितना महत्व? इसकी भी बखूबी पड़ताल की है भक्ति आन्दोलन ने। चूंकि किसी भी सभ्यता और संस्कृति को बनने में हजारों-हजार साल लग जाते हैं। अपने जीवन काल में वह सभ्यता और संस्कृति तमाम तरह के उतार-चढ़ाव से गुजरती है और इसका विकास निरंतर चलता रहता है। इस उतार चढ़ाव का वाहक या साक्ष्यक कोई न कोई होता ही है। कबीर भी भक्ति आन्दोलन के ऐसे वाहकों में से हैं। यहाँ वाहक कहने का तात्पर्य केवल कबीर ही नहीं अपितु भक्तिकालीन अन्य आंदोलन धर्मी भी। चूंकि कोई भी आन्दोलन समग्रता में होता है। इसलिए किसी एक व्यक्ति को पूरा श्रेय देना खुद के साथ और उसके साथ तथा समाज एवं परिस्थितियों के साथ नाइंसाफी है। चेतनात्मक स्तरीकरण और संवेदनात्मक विभेदीकरण के कारण कुछ लोग इन आंदोलनों में ज्यादा सक्रिय रहते हैं और कुछ लोगों के अंदर मात्रात्मक विभेद होता है, यह उनकी कविताई में देखा जा सकता है। ये आंदोलनधर्मी मानवीय गरिमा के विरुद्ध खड़ी षड्यंत्रकारी तत्वों को बेनकाब करते हैं तथा मनवीय समता का अलख जगाते हैं। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र पर अधिपत्य जमाये महारथियों से दस-दस बात करने पर आमाद है। इन आंदोलन के पहरुओं को अपने धन ऐश्वर्य की कोई लालसा नहीं है तथा भोग और विलास के सुखों की दरकार भी नहीं है। उनके संघर्षिक और काल्पनिक लोक में समता की आकांक्षा है, स्वतंत्रता की आकांक्षा है, तथा एक ऐसे लोक की परिकल्पना है, जहां सभी को भोजन एवं भजन की स्वायत्तता हो। कोई किसी का पीड़क न हो, क्योंकि उनके यहां 'पर' पीड़क से अधम कुछ भी नहीं है तथा 'परहित' के समान कोई धर्म नहीं है। उनके यहां मुल्ला-मौलवी का 'अजान' और 'कुरान' ही जीवन का संदर्भ नहीं है। पंडे-पुरोहितों की शास्त्रीयता ही ज्ञान नहीं है। उनके यहां ज्ञान का अर्थ प्रेम है, समरसता है, सहृदयता है, मनुष्यता है अर्थात् मानवीय गरिमा को समृद्ध बनाने वाले जितने अंगोपांग है, वह सब भक्ति आंदोलन में समाहित हैं। मनुष्यता की विराट आकांक्षा और जिजीविषा के सरोकार लिए इन आंदोलन धर्मियों को अपने अस्तित्व की कोई परवाह नहीं है। यही वजह है कि कबीर कहते हैं ''जो घर जालौ आपणा चलै हमारे साथि। भक्ति आंदोलन के संबंध में एम जार्ज ने कहा है, ''नैतिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनैतिक जीवन को भक्तों की जो महत्त्वपूर्ण देन है उसके ठीक-ठीक मूल्यांकन किये बिना हम भारतीय संस्कृति के मर्म को नहीं पहचान सकते।''[1] जार्ज ने ठीक कहा है कि किसी भी संस्कृति को उसके परिवर्तन के पक्ष में जाने बिना हम ठीक-ठीक कुछ कहने की स्थिति में नहीं होते। किन्तु तमाम तरह के मतवादों के कारण भक्ति का विकास कभी वेदों से, कभी उसके सूत्रों को प्रावैदिक सभ्यता से जोड़ा जाता है। आचार्य शुक्ल तथा बाबू गुलाब राय ने भक्ति आंदोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है।

पाश्चात्य विद्वानों में वेवर, कीथ, ग्रियर्सन तथा विलसन आदि ने भक्ति को इसाई धर्म की देन बताया है। एच0राम0 चौधरी, बाल गंगाधर तिलक आदि पाश्चात्य विद्वानों के उक्त मतों का खण्डन करते

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, का.हि.वि.वि. वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, का.हि.वि.वि. वाराणसी।

हुए भक्ति का मूल उद्‌गम प्राचीन भारतीय स्त्रोतों को सिद्ध करते हैं। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं कि ''समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।''[2] डॉ0 ग्रियर्सन ने लिखा है कि, ''बिजली के चमक का समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू नहीं जनता कि यह बात कहां से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता।''[3] कुछ विद्वान भक्ति का उद्‌भाव वेद से मानते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत, पुराण में और भक्ति के सिद्धान्त भरे पड़े हैं। इस प्रकार का साधन हमारे देश में बहुत प्राचीन है। इसी उपासना को भक्ति कहते हैं। भक्ति के लक्षण शांडिल्य सूत्र में भी मिलते हैं।[4] तमाम आलोचकों के दृष्टियों से देखने पर यह बात हास्यास्पद लगता है कि मुसलमान हिन्दू मंदिरों को नष्ट करने लगे तो निराश होकर लोग भक्ति भाव में जुट गये, क्योंकि भक्ति आंदोलन बिजली की चमक के समान भारतीय क्षितिज पर नहीं आया। अपितु सैकड़ों वर्ष से उसके मेध-मण्डल में एकत्र हो रहे थे। शिव तथा कृष्ण की उपासना की परम्परा अति प्राचीन है। अतः भक्ति का पूर्णतया भारतीय परिवेश होना पूर्णत्या सत्य है। 'वैदिक साहित्य' में इसकी पुष्टि के प्रमाण उपलब्ध है। आर्य लोग शिव व विष्णु की उपासना करते थे। इस पर विदेशी प्रभाव की पुष्टि करना उपहास का विषय होगा। वस्तुतः कमोवेश यह धारा दीर्घकाल से चली आ रही है।

''भक्ति आंदोलन को विकसित करने में सबसे अधिक योग आलावरों का है। उन्होंने पहली बार इसे सामाजिक स्तर पर लोकधर्म बना दिया। ईश्वर के चरणों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देने तथा ईश्वर के चरणों में पूर्ण रूप से अनुरक्त हो जाना भक्ति आंदोलन कहलाता है। इसके अलावा भक्ति आंदोलन का आरंभ उपनिषद काल से भी माना जाता है। आलवारों का समय ईसा की 5वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक है। वह आंदोलन कमोवेश चल ही रहा था कि 8वीं शताब्दी में शंकराचार्य के आर्विभाव से पुनः प्राचीनयुगीन भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन साहित्य में यह भावनात्मक एकता बड़े ही स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है और यह भक्ति आंदोलन की महती देन है। जिसने सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बांधकर अनेकता में एकता वाली संस्कृति के मूलभूत तथ्य को मध्ययुग में भक्ति आन्दोलन से सुदृढ़ किया है।''[5]

भक्ति आंदोलन विषम परिस्थितियों में, भारतीय चिंतन का स्वाभाविक विकास था। भावात्मक एकता तथा हिंदू संस्कृति के विकास में भक्ति आंदोलन का सर्वप्रमुख योग है। भक्ति आंदोलन का प्रवाह इतनी तीव्र गति से चला कि उसकी लपेट में साधारण जनता तथा बड़े-बड़े संत भी आ गये। इसने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में स्वर्णयुग का उद्‌घाटन किया।

भक्ति आंदोलन को एक विराट जन आंदोलन बनाने का श्रेय रामानन्द को जाता है। भक्ति धारा प्रवाहित होने से पूर्व जो जनता जादू-टोने, भेदभाव आदि में विश्वास करती थी तथा भगवान के प्रति श्रद्धाभाव से वंचित थी, भक्ति काल में वह भगवान के निर्गुण-सगुण रूप में विश्वास करने लगी और बाह्याडम्बर इस भक्ति भावना के कारण दूर हो गये। मध्ययुग में दक्षिण भारत में वैष्णव आंदोलन पराकाष्ठा पर पहुंचा था, जबकि उत्तर भारत पराधीनता की जंजीरों में जकड़ कर पतित धार्मिक अवस्था में था। ऐसे समय में सुधार की आवश्यकता थी। जब तेरहवीं-चौदहवीं सदी में परिस्थितियाँ बहुत विकृत हो गयी तो ऐसे समय में उन्होंने व्यापक जन आंदोलन को जन्म दिया। मध्ययुगीन उत्तर भारत (हिन्दी प्रदेश) की परिस्थितियों एवं वर्तमान काश्मीर तथा पंजाब की परिस्थितियों को कमोवेश एक ही तरह की बीमारियां घर कर गई थीं। अतः यह भी एक कारण, जो दक्षिण वैष्णव भक्ति आंदोलन का स्वाभाविक रूप से उत्तर में स्वागत हुआ। ये तो रहे सांस्कृतिक एवं धार्मिक कारण। दूसरी ओर मध्ययुगीन सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर देखें तो ज्ञात होता है कि उस समय उत्तरी भारत अपने भौगोलिक परिस्थितियों के कारण आसानी से विदेशी आक्रमणकारियों का अड्डा बन गया था। अरब, तुर्क इत्यादि तमाम विदेशी सिंध प्रान्त से होते हुए बहुत आसानी से भारतीय धरती पर प्रवेश कर जाते थे और लूटपाट कर अपने देश को समृद्ध बना रहे थे। इधर भारतीय शासकों और सामंतों में आपसी सामंजस्य न होने के कारण विदेशी आक्रमणकारी एक-एक करके सभी प्रांतपतियों को रौंदते जा रहे थे।

तीसरा कारण वर्ण व्यवस्थापरक भारतीय समाज। भारतीय समाज में सामंतवाद जोरो पर था। इसमें स्त्री और शूद्रों के प्रति तथा सम्पति के प्रति सामंतों का दृष्टिकोण बहुत कठोर था। ये सामंत अपने से निम्न वर्ग से दासों व गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। कृषक या श्रमिक वर्ग को अपनी प्रत्येक आवश्यकता पूर्ति के लिए इन्हीं सामंतों पर निर्भर रहना पड़ता था। समाज की इस शोचनीय दशा ने भी उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के फैलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा निर्गुणिया संतों की सामाजिक विसंगति पर विद्रोह भी महत्त्वपूर्ण कारकों में से थे। इस सामाजिक भेदभाव ने समाज के हित चिंतकों को चिंतित बना दिया, क्योंकि उच्चवर्ग सारे अन्याय व अत्याचार धर्म की आड़ लेकर करता था इसलिए यह आवश्यक हो गया था, कि धर्म पर से इस वर्ग का एकाधिकार हटा दिया जाय। इस एकाधिकार के विद्रोह में जो विद्रोही स्वर ऊपर उठा वहीं कालान्तर में भारतीय भक्ति आंदोलन का जन्मदाता कहलाया। दक्षिण में जो भक्ति व्याप्त थी जिसका आधार शास्त्र और शास्त्रीय था, रामानन्द के हस्तक्षेप से बहुत परिवर्तित हो गया था। अब उसमें शास्त्रीय ही नहीं बल्कि अनुभवी लोगों को भी तरजीह दिया जाने लगा था। जब रामानन्द ने अनुभव को तरजीह दीया तो उनके भक्त मण्डली में बहुत सारे लोग जिनका श्रम से संबंध था वे भी जुड़ गये। इसमें धन्ना, पीपा, सेन, कबीर आदि प्रमुख थे। इन लोगों ने अनुभव के आधार पर शास्त्रीय उदण्डता को चुनौती दी। उनकी अनुभव चेतना

ने समाज के बहुसंख्यकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करवाया, जिससे बहुसंख्यकों में एक अलग प्रकार की निराकार, निर्गुण भक्ति की लहर दौड़ पड़ी, जो सदियों से शास्त्रीयता के मानदंडों पर खड़ी नहीं उतर रही थी, वह थोड़ा सा सम्बल पाकर सरपट दौड़ पड़ी। इसने पूरे उत्तर भारत सिंध से लेकर बंगाल तक, दक्षिण में कन्याकुमारी तक भक्ति के पारम्परिक फार्मेटो में परिवर्तन ला दिया। अब शास्त्रीय की कोरी कल्पना को अनुभवी ज्ञान ने ऐसी पटखनी दी, जिससे उनकी कमर टूटते-टूटते बची। इस अनुभवी प्रहार से उनकी कमर टूटने से बच गई, परन्तु उनके अक्खड़पन में बहुत लोच आ गयी। अब शास्त्रीय लोग भी अनुभव को तरजीह देने लगे, परन्तु उनकी शास्त्रीयता में पूर्ण रूप से परिवर्तन नहीं आया। नतीजा साफ था, भक्ति अब दो पन्थों सगुण और निर्गुण धारा में विभक्त हो गई। निर्गुण धारा में वे लोग सम्मिलित थे जो श्रमिक थे, या वे जो श्रम को महत्त्व देते थे तथा सगुण धारा में वे लोग जो बैठे ठाले रहा करते थे, जिनका संबंध कर्मकाण्ड से था। निर्गुण धारा जो समाज के बहुसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जो ज्यादा अनुभव परक और तर्कशील थी। इसने सगुणधारा के फार्मेट में भी परिवर्तन करने को बाध्य कर दिया। अब सगुण धारा भी समाज में अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए मानव के करीब आगे का प्रयास करने लगी थी। इनको भी अब मानवहित की चिंता सताने लगी थी। ये भी अब जनता के सामने बहुत लचीले रूप में प्रस्तुत होने लगीं थीं। इस प्रकार भक्ति आंदोलन में दो धाराएं अपने-अपने तरीके से सामाजिक विसंगतियों दूर करने में लग गयी थीं। अब दोनों का उद्देश्य समाज कल्याण हो गया था। दोनों अपने-अपने तरीके से समाज कल्याण करने का जिम्मा अब उठाने लगे थे। इसलिए भक्तिकाल को स्वर्णयुग की संज्ञा दी गई।

निर्गुण धारा में कबीर प्रतिनिधि व्यक्ति थे वे समाज के उथल-पुथल को भलि-भांति भांप रहे थे। उनकी चेतना सामाजिक विसंगतियों को दूर करने के लिए प्रतिबद्ध थी। वे भक्ति के माध्यम से लोगों को जगाने का कार्य करने लगे। मानव के बीच खाई पैदा करने वाले धर्म को भी उन्होंने आड़े हाथों लिया तथा उनकी कमियों को उजागर करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। जो जनता तमाम तरह के अंधविश्वासों में उलझी हुई थी, अब वह भक्ति में विश्वास करने लगी। जिसके परिणाम स्वरूप कई तरह के बाह्याडम्बर अब समाप्त होने लगे। इस व्यापक स्तर पर सुधार व जागरण का सम्पूर्ण श्रेय युगद्रष्टा कबीर को जाता है। उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के विकास में कबीर को आधार माना जाता है। रामानन्द ने भक्ति में सुधार की थी, इनके आने से भक्ति की अक्खड़ता कम हुई थी। कबीर ने इस भक्ति को समाजसुधार के साथ जोड़कर एक व्यापक जनआंदोलन का रूप दे दिया। उन्होंने शैवों तथा शाक्तों के आपसी द्वेष तथा हिन्दू-मुस्लिम के पारस्परिक द्वन्द्व को समूल नष्ट करने हेतु अथक व सफल प्रयास किये। उनकी वाणी में तत्कालीन रूढ़ियों, मिथ्याचारों, धार्मिक बाह्याडम्बरों की कटु व तीक्ष्ण आलोचना दृष्टिगोचर होती है।

''कबीर ने अपनी वाणी में हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्म में तज्जन्य मिथ्या अंधविश्वावसों की निडर भाव से निंदा की है। उन्होंने उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना की प्रेरणा दी, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार राम, हरि, गोविन्द, गोपाल नामों से पुकार सकते हैं। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संकलित कबीर की रचना को यदि हम विभिन्न स्तर पर देखें तो भी भक्ति आंदोलन की मूल-भूत बातों अथवा सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाता है। कबीर के मूलभूत सिद्धान्तां में उग्र प्रस्तुत तथ्यों को महत्त्व दिया गया है। कबीर पंथी इन्हीं बातों को अपना मूल मंत्र मानते हैं—1. माया का त्याग, 2. एकेश्वरवाद की स्थापना, 3. नम्रतापूर्ण व्यवहार, 4. संतों की संगति, 5. जाति-पाति का विरोध, 6. लोभ, अहं का त्याग, 7. कीर्तन करना।''[6] कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मों के लोगों की कर्मकाण्डी भावनाओं तथा मूर्तिपूजा तक सीमित धर्म के तथाकथित अंधानुकरण पर तीव्र प्रहार किया है—

**काँकर-पाँथर जोरि के मस्जिद लई चुनाय।**
**ताँ चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।**

यही नहीं उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम के धर्म के नाम पर होने वाले झगड़े के कारण पर भी कुछ टिप्पणियाँ की—

**हिन्दू कहि मोहि राम पिआरा,**
**तुरक कहे रहिमाना।**

राम-रहीम के झगड़े पर भी उन्होंने प्रहार किया और अपने राम को दशरथ पुत्र राम से भिन्न बताया। साधु किसी के मोह में नहीं पड़ता। कबीर ने साधु पुरुषों के लिए अपना मत स्पष्ट कर दिया है—

**साधु गांठ न बांधई, उदर समाता लेय।**
**आगे पीछेहरि खड़े, जब मांगे तब देय॥**

कबीर ने कोरे संन्यास धर्म की खिल्ली उड़ाई तथा कर्म के महत्त्व को प्रतिपादित किया है एवं ऊँच-नीच के भेद को मानवकृत बताया। कबीर की नजर में सभी ईश्वर की संतान है। किसी में जातिगत-धर्मगत कोई भेद नहीं है।

कबीर अपनी बातों से रस चाहे न पैदा कर सके हों किन्तु प्रत्येक सत्य को लेकर शिव की भावना से सुन्दर समाज बनाने के लिए प्रत्येक दशा में प्रतिबद्ध नजर आते हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं-''उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दानों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम-रहीम की एकता को समझकर हृदय को शुद्ध और प्रेमरूप करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना के विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।''[7] कबीर अपने काव्य में कई बार दुःख, संत्रास,

पीड़ा, चोट की बात करते हैं, उन्हीं पदों में हम रहस्यवाद आरोपित कर देते हैं, किन्तु थोड़ा ही ध्यान देने से हमें ज्ञात हो सकता है कि ये पद अपने युग के सामाजिक सन्दर्भों का ही उल्लेख कर रहे होते हैं।

यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि ''उन्होंने रोग का ठीक निदान किया है या नहीं उसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध निर्वाचन में और अपथ्य वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान रूप से भगवान् में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है कि ब्राह्याचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव। कबीरदास ने इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं की है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।''[8]

इस प्रकार देखा जाय तो भक्ति आंदोलन में कबीर की भूमिका क्रांतिकारी, गतिशील एवं सार्थक है। जिसकी सामाजिक उपादेयता अनन्य है। भक्ति आंदोलन का इतिहास या कबीर वाणी का अध्ययन एक दूसरे के संदर्भ के बिना अधूरे है। उसकी सार्थकता को मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन से लेकर आधुनिक कालीन काव्य एवं कवियों पर भी इसका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कबीर के काव्य व उसके काव्यात्मक महत्व को केवल एक युग तक सीमित नहीं रखा जा सकता।

## संदर्भ सूची


1. भक्ति आंदोलन और साहित्य : एम0 जार्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978, पृ0 282
2. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : हजारी प्रसाद द्विवेदी, यू0जी0 कपूर एंड संज, दिल्ली 2009, पृ0 54
3. मध्ययुगीन भारतीय साहित्य : चौबे, कन्हैयालाल श्रीवास्तव, भारत प्रकाशन, अलीगढ़, 1973, पृ0 4
4. वही, पृ0 5
5. कबीर : सं0 डॉ0 वासुदेव सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद-2004, पृ0 66
6. वही, पृ0 70
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग पुस्तक सदन, पृ0सं0 46
8. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1990, पृ0 172
9. प्रस्तुत लेख में उद्धत किये गये 'साखी' माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित कबीर ग्रंथावली, संस्करण-2008, साहित्य भवन पब्लिकेशन, इलाहाबाद से लिया गया है।


◆

# जयशंकर प्रसाद और उनका ब्रजभाषा काव्य

*डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी* *

आधुनिक हिन्दी साहित्य के छायावादी कवियों में बाबू जयशंकर प्रसाद का नाम कनिष्ठिकाधिष्ठित है। वे ऐसे विरल महाकवि तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी कलाधर हैं जिनकी समता हिन्दी में अन्य किसी भी कवि से नहीं की जा सकती। युग जीवन की संवेदनाओं को काव्य, नाटक, निबंध, उपन्यास तथा कहानी आदि विविध विधाओं के माध्यम से जिस गहन सूक्ष्मता एवं दार्शनिकता के साथ उन्होंने अभिव्यक्त किया वह अन्यतम है। दुःख-दग्ध संसार के लिए आनंद और मंगल-कामना की भावना उनकी सभी रचनाओं में देखी जा सकती है। अद्वैत वेदांत, शैवदर्शन तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन आदि का प्रभाव उनके मानस पर सहज ही दिखाई पड़ता है। कम लोग जानते हैं कि छायावाद के अधिकांश कवि ब्रजभाषा से होते हुए खड़ीबोली में आये थे, इनमें प्रसाद और महादेवी जी मुख्य हैं। प्रसाद ब्रजभाषा में 'कलाधर' उपनाम से कविताएँ लिखा करते थे आरंभ में उन पर रीतिकालीन कवियों का प्रभाव था, किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपना पथ अलग कर लिया।

जयशंकर प्रसाद ने साहित्य को सांस्कृतिक चेतना तथा राष्ट्रीय अस्मिता के साथ जोड़ने में जिस शैली का उपयोग किया वह अप्रतिम है। वैदिक और उपनिषद साहित्य से लेकर इतिहास कल्पना के साथ पुरातन कथानकों की पृष्ठभूमि में वे वर्तमान युग की समस्याओं को उठाते हैं। प्रो0 विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा कि ''प्रसाद ही एक ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने केवल विधाओं का ही स्वांगरूप स्वीकार नहीं किया वरन् भाव और विचार के क्षेत्र में भी विस्तृत आयाम का क्षितिज फैलाकर जातीय अस्मिता का आकर्षक चित्र अंकित किया।''[1] ''दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य के भेदोपभेद की जैसी श्लाध्य और भव्य निर्माण-शक्ति उनमें थी वैसी वस्तुतः किसी अन्य में नहीं पायी जाती।''[2] ''नवीन युग की हिन्दी कविता की बृहत्त्रयी के रूप में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रानंदन पंत की प्रतिष्ठा मानी जाती है... इनमें भी ऐतिहासिक दृष्टि से श्री जयशंकर प्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेषता समन्वित है।''[3] प्रसाद ही एकमात्र ऐसे छायावादी चतुष्टय कवियों में हैं जिन्होंने 'कामायनी' जैसे महाकाव्य लिखने का उद्योग किया, जिसे छायावाद की सर्वश्रेष्ठ कृति होने का गौरव प्राप्त है। प्रसाद के प्रतिभा की प्रशंसा न केवल समीक्षकों ने की बल्कि उनके समकालीन कवि भी उन्हें अतिशय सम्मान की दृष्टि से देखते थे। छायावाद के 'सुकुमार कवि' पंत ने उनके व्यक्तित्व एवं काव्य-प्रतिभा के विषय में लिखा कि—''उनके व्यक्तित्व में जो संतुलन, गांभीर्य तथा बोधिसत्वों का सा निःसंग सौम्य ओज था, उनमें जो शील, सौजन्य, सौहार्द, सुहृदों के प्रति सहज स्नेह तथा उनके व्यवहार में जो अकुण्ठित स्वाभाविकता और उनके स्वभाव में जो विनोदप्रियता, जीवन के उपभोग करने की क्षमता थी वह उन्हें छायावादी चतुष्टय में एक विशिष्ट महानता, सम्माननीयता तथा सर्वाधिक लोकप्रियता प्रदान करती है। प्रसाद जी निश्चय ही हम सबके अग्रणी तथ शीर्षस्थ महाकवि थे।''[4] इस प्रकार हम पाते हैं कि कवि ''प्रसाद गंभीर जीवन-द्रष्टा थे। उन्होंने समकालीन आंदोलन से दूर हटकर अपने युग के राजनीतिक, सामाजिक जीवन का अत्यंत गहन अध्ययन किया था। तत्वद्रष्टा होने के कारण उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण को कभी प्रश्रय नहीं दिया, पर अपने परिवेश की समस्याओं का जैसा तात्विक विवेचन-विश्लेषण उनके साहित्य में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।''[5] प्रभाकर माचवे के अनुसार — ''प्रसाद की कोई सामाजिक महत्वकांक्षा नहीं थी, न उन्हें साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष पद मिला, न प्रेमचंद की तरह उन्होंने 'जागरण' या 'हंस' निकाला।''[6] अपितु इन सबके बावजूद भी वे एक महान स्रष्टा और लोकप्रिय कवि के रूप में स्थापित हो गये।

अपने गंभीर साहित्यक जीवन-काल में प्रसाद ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनकी प्रारंभिक कविताएँ 'इन्दु' और 'जागरण' पत्रिकाओं में निकलती थीं। प्रसाद की काव्य-कृतियाँ कालानुसार क्रमशः इस प्रकार है—'उर्वशी' (1909 ई0), 'वन मिलन' (1909 ई0), 'प्रेमराज्य' (1909 ई0), 'अयोध्या का उद्धार' (1910 ई0), 'शोकोच्छवास' (1910 ई0), 'ब्रभ्रूवाहन' (1911 ई0), 'कानन कुसुम' (1913 ई0), 'प्रेमपथिक' (1913 ई0), 'करूणालय' (1913 ई0), 'महाराणा का महत्त्व' (1914 ई0), 'झरना' (1918 ई0) दूसरा सं0 1927 ई0), 'आँसू' (1924 ई0), 'लहर' (1933 ई0) और 'कामायनी' (1935 ई0)। इस प्रकार प्रसाद ने मुक्तक काव्य, खण्डकाय, आख्यानक काव्य, कथानक काव्य, नाट्य काव्य, चंपू काव्य एवं महाकाव्य आदि सभी कुछ लिखे हैं। 'उर्वशी' और 'ब्रभ्रूवाहन' उनके 'चंपू काव्य हैं जो संस्कृत की (गद्य-पद्य-मिश्रित) शैली के अनुकरण पर लिखे गये हैं। अयोध्या का उद्धार' और 'महाराणा का महत्त्व' आख्यानक कविताएँ हैं, इसी प्रकार 'प्रेम पथिक' और 'आँसू' खण्डकाव्य हैं। 'करूणालय' नाट्यकाव्य है तो 'लहर' स्फुट कविताओं का संग्रह हैं। 'कामायनी' प्रसाद के 15 सर्गों वाला महाकाव्य है जो उनके काव्य-यात्रा का चरम बिन्दु है जो 'हिमगिरि के शिखरों' से शुरू होकर अंत में उसी में जाकर 'समरसता' के साथ समाप्त भी हो जाता है। 'कामायनी' साहित्य दर्शन और मनोविज्ञान की त्रिवेणी है। उसे छायावाद का 'गौरव-ग्रंथ' होने का सौभाग्य प्राप्त है। प्रसाद जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं, एक कवि के साथ-ही-साथ एक गंभीर चिंतक भी थे, 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' पर आचार्य शुक्ल के विरोध में वैदिक और वैदिकोत्तर साहित्य से उठाकर उनके दिये तर्क इस बात के प्रमाण हैं, जिसमें उन्होंने शुक्ल जी के तर्कों का विद्वतापूर्वक खण्डन किया है। 'काव्य और कला तथा

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

अन्य निबंध', में संग्रहीत उनके अन्य निबंध भी उनकी सूक्ष्म, मर्मभेदिनी, तर्कणाशक्ति का परिचय देते हैं।

मन संकल्प-विकल्पवान होता है। प्रसाद ने काव्य को अपने ढंग से परिभाषित किया है। उन्होंने लिखा कि—''काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभ्य प्रेम और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।''[7] आगे प्रसाद ने 'संकल्पात्मक अनुभूति' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा कि—''संकल्पात्मक अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।''[8] पुनः आगे इसी निबन्ध में एक अन्य स्थल पर प्रसाद ने लिखा कि—''काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है।''[9] वस्तुतः प्रसाद अद्वैत में ही आनंद की स्थिति के पृष्ठ पोषक थे, वह अद्वैत ही भिन्न-भिन्न नाम-रूपों से जगत में अपने को अभिव्यक्त करता है। साहित्य में वे आनंदवाद के तो दर्शन में अद्वैतवाद के पोषक थे, आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में इन दोनों का ही योग हो जाता है। प्रसाद 'आनंद' को ही काव्य का प्रयोजन मानते थे। 'कवि और कविता' शीर्षक निबंध में वे लिखते हैं कि —''सच्चे कवि की कविता ही अलौकिक आनंद प्रदान करती है, क्योंकि यह उसकी सृष्टि .... उसकी प्रतिभा अपना मधुर प्रकाश जब मनुष्य हृदय पर डालती है तब उसका अंधकारमय उज्ज्वल हृदय भी आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।''[10] प्रसाद की उक्त परिभाषा में 'संकल्पात्मकता' के अर्थ के विषय में प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र का भी कहना है कि -''संकल्पात्मकता का संबंध आर्यों की उस धारा से है जो 'आनंद पथ' यानी रहस्यवाद को प्रधान मानती है।''[11] निश्चित रूप से काव्य का आनंद लौकिक न होकर अलौकिक होता है और रहस्यमय का होना अलौकिकता का स्वभाव कहा जा सकता है यही कारण है कि 'कामायनी' का समापन प्रसाद श्रद्धा और मनु (हृदय + मन) के मिलन के साथ आनंदवाद में कराते हैं। जहाँ पहुँचकर भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है।

प्रारम्भ में प्रसाद ब्रजभाषा में कविता किया करते थे बाद में वे खड़ीबोली में कविता करने लगे, इसलिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही उनके द्वारा लिखित कवित्त-सवैये मिलते हैं। आरंभ में वे 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में कविता करते थे। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा कि—''प्रसाद कवि-जीवन का आरम्भ करते हैं भारतेन्दु की तरह ब्रजभाषा से। इस समय उनके यहाँ भक्ति और रीतिकालीन संस्कारों के अवशेष हैं। यद्यपि बीच-बीच में कुछ नये विषय झाँकते दिख जाते हैं—कवित्त, सवैया और पदों का व्यवहार चल रहा है।''[12] निश्चित रूप से प्रसाद ने जब कविता करना शुरू किया था, तब तक हिन्दी कविता पूर्णतः रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त न हो सकी थी, द्विवेदी युगीन कविता अभी तक रीतिकालीन कविता-संस्कारों के पालने में ही झूल रही थी, अतः प्रसाद के किशोर मन पर प्रेम, भक्ति, श्रृंगार और सौन्दर्यमूलक वृत्तियों का प्रभाव पड़ना स्वभाविक था।

प्रसाद जी जन्मजात कवि थे। उनके सुपुत्र श्री रत्नशंकर प्रसाद द्वारा संपादित 'प्रसाद ग्रंथावली' (खण्ड-1, जिसमें प्रसाद का संपूर्ण काव्य संकलित है) में 'आदिछन्द' शीर्षक से एक सवैया संकलित है। संपादक के अनुसार यही प्रसाद की प्रथम कविता है, जिसका रचनाकाल 1901 ई0 है। यह ब्रजभाषा में रचित है तथा प्रसाद ने इसे केवल 12 वर्ष की उम्र (कहीं-कहीं नौ वर्ष मिलता है) में लिखा था। इसे वे अपने गुरु 'रसमय सिद्ध' के समक्ष प्रस्तुत किये थे, यथा—

**''हारे सुरेश, रमेश, धनेस, गनेसहु, शेष न पावत पारे।**
**पारे हैं कोटिक पात की पुंज, ''कलाधर'' ताहि छिनो लिखि तारे॥**
**तारेन की गिनती समनाहिं, सुजेते तरे प्रभु पायी विचारे।**
**चारे चले न बिरंचिहू के, जो दयालु ह्वै शंकर नेकु निहारे॥''[13]**

उल्लेखनीय है कि प्रसाद प्रारम्भ में 'कलाधर' (शायद कवित्त-सवैया के बीच में अपना छोटा नाम रखने के लिए ही) नाम से कविताएँ किया करते थे। कहा तो यह भी जाता है कि प्रसाद ने काफी मात्रा में ब्रजभाषा में रचनाएँ की थीं, किन्तु किन्हीं कारणों से उन्होंने इसे नष्ट कर दिया था। इस क्रम में 'कलाधर' नाम से शिवस्तुति के उक्त छन्द समेत कुल 4 सवैया छन्द प्राप्त होते हैं। जैसे—

**''किन्ही कठोरता जो हमते तऊ छाय की हूक हिए रहि जायगी।**
**दीठि बचाय के फेरत जो रूख तो कबहूँ तो कबौं मिलि जायगी॥**
**नीके बिचारिले ये मनमाहि 'कलाधर' हूँ की कला घटि जायगी।**
**प्रेमी के राह को छोड़िबे की सिलतेरी निसारी हिये धरि जायगी॥''[14]**

यही नहीं, कभी-कभी सभा-गोष्ठियों में वे समस्यापूर्तियाँ भी किया करते थे। एक बार ऐसी ही एक गोष्ठी में प्रसाद ने ''अँखियाँ अब तो हरजाई भईं' समस्या की पूर्ति भी की थी, जो इस प्रकार है—

**''भई दीठ फिरे चल चंचल ह्वै, यह रीति 'प्रसाद' चलाई नई।**
**नई देखि मनोहरता कबहूँ, थिरता इनमें नहिं पाई गई॥**
**गई लाज स्वरूप सुधा छविकै, न तबौ इनकी कुटिलाई गई।**
**गई खोजत और न ठौर तुम्है, आँखियाँ अब तो हरजाई भई॥''[15]**

प्रसाद जब सत्रह वर्ष के थे तभी 1906 में उनकी प्रथम रचना 'भारतेन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई, जिस पर रीतिकालीन कवियों का भाव-बोध एवं उनकी कविता का संस्कार साफ झलकता है—

**''सावन आए वियोगिन को तन, आली अनंग लगे अतितावन।**
**तावन हीय लगी अबला, तड़पै जब बिज्जु छठा छवि छावन॥**
**छावन कैसे कहूँ मैं विदेस, लगे जुगनु हिय आग लगावन।**
**गावन लागे मयूर 'कलाधर' झाँपि के मेघ लगे बरसावन॥''[16]**

सन् 1909 में जब प्रसाद की प्रेरणा से पं0 अम्बिका प्रसाद

गुप्त ने 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन किया तो उसमें प्रसाद की कविताएँ धारावाहिक रूप में प्रकाशित होती थीं। इसी क्रम में उनकी रचनाएँ 'माधुरी' और जागरण' में भी निकलती थीं।

'चित्राधार' (1918 ई0) प्रसाद की आरंभिक कृतयों का संकलन है जिसमें गद्य और पद्य दोनों तरह की रचनाएँ संकलित हैं। इससे प्रथम संस्करण (1918) में कुल दस रचनाएँ संग्रहीत थीं। दस वर्ष पश्चात (1928 ई0) में जब इसका द्वितीय संस्करण निकला तो उसमें दो चंपूकाव्य (उर्वशी, बभ्रुवाहन), तीन आख्यानक काव्य (अयोध्या का उद्धार, 'वन-मिलन', प्रेम राज्य'), दो कथाएँ (ब्रह्मर्षि' और पंचायत') तथा तीन निबंध ('भक्ति', प्रकृति-सौन्दर्य' तथा 'सरोज') नाम से रचनाओं का संकलन किया गया था। इसके अतिरिक्त कुछ मुक्तक कविताएँ 'पराग' और 'मकरंद बिन्दु' शीर्षक से भी संग्रहीत थीं, जिनमें 'मकरंद बिन्दु' के अंतर्गत तेईस कवित्त, तीन सवैया तथा चौदह पद सम्मिलित थे। इनमें से अधिकांश का प्रकाशन 'इन्दु' से पहले ही हो चुका था। कुल मिलकार 'चित्राधार' में वर्णनात्मक और भावात्मक दो प्रकार की रचनाएँ संकलित हैं। ये प्रारम्भिक सभी कविताएँ ब्रजभाषा में हैं।

'चित्राधार' के पश्चात 'कानन कुसुम' (1913 ई0) प्रसाद का दूसरा काव्य-संकलन है, जिसमें ब्रज और खड़ीबोली दोनों की रचनाएँ हैं। इसमें 40 के लगभग स्फुट रचनाएँ हैं, जिनमें कुछ कवित्त-सवैये भी शामिल हैं। 'कानन कुसुम' के दूसरे संस्करण (1918 ई0) में केवल कुछ रचनाएँ ही नवीन हैं। इसका तीसरा संस्करण 1929 ई0 में प्रकाशित हुआ, जिसमें रचनाओं को संशोधित करके प्रकाशित करवाया गया है। इसी प्रकार 'प्रेम-पथिक' (1913 ई0) 'इन्दु' में खड़ीबोली में प्रकाशित होने के लगभग आठ वर्ष पहले ब्रजभाषा में प्रकाशित हुआ था। 'करूणालय' गीतिनाट्य है जिसका प्रकाशन फरवरी 1913 ई0 है। इसमें पौराणिक कथादर्श द्वारा करूणादर्श का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार 'चित्राधार', 'कानन कुसुम' और 'करूणालय' प्रसाद के आरंभिक रचनाओं के संग्रह हैं। ये कविताएँ रीतिकालीन एवं द्विवेदी युगीन भाव-बोध से अनुप्राणित हैं। इन पर भारतेन्दु, रत्नाकर, श्रीधर पाठक, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद इस समय तक काव्य के चौराहे पर खड़े होकर अपना मार्ग खोज रहे थे।

'महाराणा का महत्त्व' (जून 1914 ई0 में) 'इन्दु' (कला-5, खण्ड-1, किरण-6) में प्रकाशित हुआ। संभवतः यही प्रसाद की पहली रचना है जो अतुकांत छन्द में है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार— ''महाराणा का महत्त्व' और 'प्रेमपथिक' (सं0 1970) अतुकांत रचनाएँ हैं जिसका मार्ग पं0 श्रीधर पाठक पहले दिखा चुके थे।''[17] यही नहीं प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' पर श्रीधर पाठक का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। 'झरना' (1918 ई0), 'कानन कुसुम के बाद खड़ीबोली का दूसरा काव्य-संग्रह है। 'झरना' 'समर्पण', 'अतिथि', 'स्वप्नलोक' आदि इसमें कुल 25 कविताएँ संकलित हैं। इसके दूसरे संस्करण में कुल 54 कविताएँ थीं। यहीं पर आकर प्रसाद के कवि-जीवन का प्रथम चरण पूरा होता है, अब तक उनकी प्रतिभा पूरी तरह से परिपक्व हो चुकी थी। 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' उनकी प्रौढ़ कालीन काव्य कृतियाँ हैं जिन्होंने प्रसाद को सदैव के लिए एक अमर कवि के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया।

प्रसाद के कवि-कर्म का चरम निदर्शन 'कामायनी' (1935 ई0) में दिखाई पड़ता है। इस अंतिम काव्य-कृति ने कामायनीकार को युग के शिखर कवि के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया। भाव, भाषा-कला सभी दृष्टियों से यह छायावाद की सर्वोत्कृष्ट रचना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, रामधारी सिंह दिनकर एवं मुक्तिबोध ने अपने-अपने दृषिकोण से इस काव्य को देखा है। इसमें श्रद्धा और मनु के पौराणिक अख्यान के द्वारा एक प्रकार से मानवता के रामागात्मक इतिहास को प्रस्तुत किय गया है। आचार्य शुक्ल ने भी इस काव्य को अत्यंत रमणीय, चित्रमयी कल्पना एवं अभिव्यंजना की विशद् एवं मनोहारी पद्धति से युक्त माना है। उनके अनुसार—'यह काव्य बड़ी विशद् कल्पनाओं और मर्मिक उक्तियों से पूर्ण है।'[18] रचना की ऐसी विराट् दृष्टि संसार के प्रख्यात महाकाव्यों में मुश्किल से मिलती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा कि —''अपनी मर्म ग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव-प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसाद जी ने 'कामायनी' काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टिकोण से पहचान कर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रभाव भी है।''[19] यह तो हुई प्रसाद के काव्यात्मक विकास की बात। अब हम उनके काव्य में कवित्त-सवैया के स्थिति की विवेचना करेंगे। प्रायः जो ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

जैसा कि हम पूर्व में ही कह आये हैं कि प्रसाद ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही कवित्त-सवैये लिखे हैं। 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन', 'प्रेम-राज्य', 'पराग' और 'मकरंद बिन्दु' जैसी 'चित्राधार' संग्रह की रचनाएँ ब्रजभषा में हैं तो 'झरना' उत्कष्ट खड़ीबोली की कविताओं का संग्रह है।

प्रसाद द्वारा कवित्त-सवैया में लिखे गये विषयों को सर्वथा नवीन नहीं कहा जा सकता, उन पर रीतियुगीन और द्विवेदी युगीन कवियों के संस्कार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। अतः वर्ण्य विष्य प्रायः प्रेम, श्रृंगार, वियोग, प्रकृति, प्रवास, स्मृति, बसंत, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर आदि मुख्य हैं, जो कि परम्परा से काव्य के विषय के रूप में चले आ रहे थे। प्रसाद के कवित्त-सवैयों में सर्वाधिक वर्णन 'प्रकृति एवं प्रेम' का ही है। प्रसाद 'प्रेम और सौन्दर्य के कवि' हैं। प्रसाद ने प्रेम को 'काम' के स्थूल जैविक धरातल पर पहचाना है जो 'भूख-प्यास' जैसा है और उसे उस व्यापक 'काम' के रूप में संसार की समस्त क्रियाओं के भीतर आकांक्षा, करूणा, भक्ति, मानवता, दया, विद्रोह आदि में निहित है।''[20]

'चित्राधार' संग्रह के 'पराग' खण्ड में कुल 22 कविताएँ हैं जिनमें केवल छः कविताओं में ही कवित्त-सवैये का प्रयोग मिलता है।

ये हैं—'उद्यान लता', 'प्रभात कुसुम', 'शरद पूर्णिमा' 'नीरव प्रेम', 'विस्तृत प्रेम' और 'मकरंद विन्दु' कविताओं के शीर्षक से स्पष्ट है कि ये प्रकृति एवं प्रेम परक कविताएँ हैं। 'उद्यानलता' में दो सवैया हैं, इसमें उद्यान का मानवीकरण कर उसे एक अभिसारिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यथा -

**''सुमनावलि सों लदि मोद-भरी।**
**पतियाँ सु-लखात नवीन हरी॥**
**भरि अंक अहौ तुम भेंटति को।**
**तरु के हिय दाह समेटति को॥**
**तकलाइ सबै दृग फूल नते।**
**मकरन्द भरे अँसुवा-कनते॥**
**तुम देखति हौ केहि आस-भरि!**
**नहिं बोलत हौ तरू-पास खरी॥''[21]**

इसी प्रकार 'प्रभात-कुसुम' कविता के दो सवैयों में शीतल, मंदर समीर तथा मकरंद पूर्ण सुवासित वातावरण के साथ प्रभात काल का वर्णन है और ऐसे में वियोगिनियाँ अपने प्रवासी पतियों के आगमन की आश लगाये बैठी हैं, तथा पथ को निरख रही हैं—

**''धरे हिय माहिं असीम अनन्द।**
**सने सुचि सौरभ सो मकरंद॥**
**समीरन में सुखमा भरि देत।**
**प्रभातिक फूल हियो हरि लेत॥**
**मनो रमनी निज पीय प्रवास।**
**फिरी लखि कै निज बैठि निवास।**
**निरेखत अश्रु-भरे निज नैन।**
**अहौ इमि राजत फूल सचैन॥''[22]**

प्रसाद का यह प्रकृति-वर्णन युग-परम्परा से प्रभावित होने के उपरांत भी नई ताजगी से युक्त है। प्रकृति का मानवीकरण इस रूप में यहाँ हुआ है जो पूर्व में होता आया है, मध्यकालीन और रीतिकालीन कवियों ने भी अनेक स्थलों पर इस प्रकार का वर्णन किया है। हमारा संस्कृत काव्य तो इसका अद्वितीय उदाहरण है, जहाँ शकुंतला के पति-गृह जाने पर जड़-जंगम सभी दुःखी हैं। प्रसाद ने 'ऋतु वर्णन' पर भी अनेक कविताएँ लिखी हैं जो कालिदास के 'ऋतुसंहार' से प्रभावित हैं, वस्तुतः प्रसाद ही नहीं प्रकृति-वर्णन के संदर्भ में कालिदास का प्रभाव सभी परवर्ती कवियों पर दिखाई पड़ता है। 'शरद-पूर्णिमा' कविता में वर्षा ऋतु के बाद मेघों के आकाश में टूटने, आकाश के नीरभ्र होने तथ चन्द्रमा की कांति के बिखरने का बड़ा ही मनोरम दृश्य दो सवैये में प्रस्तुत किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य होगा—

**''सु पूरब मोहि उग्यो छबि धाम।**
**कल बिखरावत है अविराम॥**
**अकास विभासत पूरन चन्द।**
**समीरन डोलती मंदहिं मन्द॥**
**न बोलत है कहूँ कोकिल कीर।**
**सबै चुप साधि रहे धरि धीर॥**
**कबौं हिलिजात अहै द्रुम पात।**
**समीर जबै तिन में सरसात॥''[23]**

इसी प्रकार से 'नीरव प्रेम' और 'विस्मृत प्रेम' कविताओं में प्रकृति के माध्यम से अतीतकाल से जुड़े प्रेम की स्मृति का वर्णन है। इस प्रकार 'पराग' में एक ओर जहाँ परंपरित ब्रजभाषा का प्रयोग है, दूसरी ओर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक वर्णन शैली का भी और तीसरी ओर कविताओं को नये ढंग के शीर्षक दिये गये हैं, तथा कुछ नये प्रयोग यहाँ झलक मारते दिखई देते हैं।''[24] डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है कि—''पराग खंड का अध्ययन आधुनिक भाषा और संवेदना के विकास को समझने के लिए असाधारण महत्व का है।''[25]

'पराग' के अतिरिक्त 'मकरन्द-बिन्दु' प्रसाद की प्रारम्भिक कविताओं में अपना असाधारण महत्व रखती है। इसमें कुल 23 कवित्त एवं 3 सवैया छन्द का प्रयोग हुआ है। इसका विषय स्फुट है। पूरी की पूरी कविता में प्रकृति-प्रांगण में मानव-जीवन के विविध दृश्य दिखाये गये हैं। प्राचीन ब्रजभाषा और छन्द के साथ ही इस पर रीतिकालीन कविता का संस्कार भी स्पष्ट है। मंजरी, कुमुदनी, चकोरी, मलयानिल, पिक, चातक, वन, सरिता, कूल, संध्या, रजनी, गिरि-शिखर, झरने आदि पुराने उपमान भी प्रयुक्त हैं, किन्तु कहीं-कहीं कवि ने नवीन भाव-व्यजनाएँ भी की हैं। उदाहरण के लिए प्रथम कवित्त को ही ले लीजिए, जिसमें प्रकृति आलम्बन के साथ मनुष्य हृदय की संवेदना साकर हो उठी है—

**''पात बिन कीन्हो जिन्हैं पतझर रोष करि।**
**तिन सब दुमन सुमन परि कीने तू॥**
**शारद कुमोदिनी के बिरह बिहाल अलि,**
**सहकारी मंजरी सौ मोदभरी दीने तू॥**
**नगर बनाली कोकिला की ककली से, भर्‌यो,**
**सुखद 'प्रसाद' रसरंग केलि भीने तू॥**
**छोह छरि लीने मन और करि दीने,**
**रे बसन्त रसभीने, कौन मन्त्र पढ़ि दीने तू॥''[26]**

चातक का प्रेम साहित्य में उपमान के लिए प्रसिद्ध है। एक अन्य कविता में कवि ने इसी बात को दुहराते हुए जनम-जनम के प्यासे चातक (प्रेमी जन) के लिए संत-स्वभाव वाले बादलों से दया कर कुछ बूँद बरसाने का अनुरोध किया है, कालिदास के विरही यक्ष ने भी प्रिया के पास संदेश-प्रेषण के लिए बादलों से अभ्यर्थना की थी और रीतिकालीन स्वच्छंद कवि घनानंद ने भी ''परकाजहिं देह कौ धारे फिरौ'' कहकर उसे संत-स्वभाव वाला परोपकारी बताया था। इसी प्रकार से आधुनिक काल में भारतेन्दु ने भी बादलों को साधु-स्वभावी कहा है। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मकरंद विन्दु' कविता के विषय में लिखा कि—''यहाँ परम्परित शैली में बिना शीर्षक दिये हुए-कवित्त-सवैया और पद संकलित हैं। जहाँ भक्ति और रीति-परम्परा के अवशेष मात्र नजर आएँगे। 'मकरंद बिन्दु' की भाव-भूमि में प्रसाद अपने पूर्ववर्ती कवि भारतेन्दु के नजदीक है।''[27] इस प्रकार 'पराग' खण्ड की कविताएँ जहाँ

शीर्षक-युक्त हैं वहीं, 'मकरन्द बिन्दु' की कविताएँ शीर्षक-विहीन हैं। अनेक कवितों का निर्माण तो 'समस्यापूर्ति' और लोकधुनों की तर्ज पर हुआ है। अस्तु, 'चित्राधार की समस्त कवितायें, भाषा और शैलीगत मान्यतायें, प्राचीन परम्परा एवं तद्युगीन प्रभाव लेकर रची गई हैं किन्तु जिनमें भाव और भाषा का कुछ नवीन चिंतन भी दिखाई पड़ता है।''[28]

'चित्राधार' की ब्रजभाषा की कविताओं के अतिरिक्त 'झरना' संग्रह की खड़ीबोली की कविताओं में भी प्रसाद ने कवित्त-सवैये लिखे हैं। 'झरना' संग्रह में मुझे केवल दो कविताएँ (1) 'अनुनय' और (2) 'तुम!' मिली हैं। 'अनुनय' में एक और 'तुम' में पाँच कवित्त हैं। 'अनुनय' में प्रिय के प्रति निवेदन का भाव है तो 'तुम'! शीर्षक कविता का भाव अध्यात्म और रहस्यवादी है। ब्रह्माण्ड के कण-कण में जो शक्ति है, उसका जो, नियंता है, कवि ने उसे ही 'तुम' शब्द का सम्बोधन कर ये कवित्त लिखे हैं। यथा—

**''जीवन जगत् के विकास विश्ववेद के हो,**
**परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्ण काम हो!**
**विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम,**
**खेद भय रहित अभेद अभिराम हो।**
**कारण तुम्ही थे, अब कर्म हो रहे तुम्हीं,**
**धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो।**
**रमणीय आप महामोदमय धाम तो भी,**
**रोम-रोम रमि रहे कैसे तुम राम हो?''[28]**

प्रसाद वैदिक साहित्य और उपनिषदों के गंभीर अध्येता थे। 'ईशावास्योपनिषद' में जिसमें 'सर्वंयद किंचन् जगत्यांजगत्' कहा गया है, कबीर ने उसे 'पुहुप बास से पातरा' बताया है, वेदों ने उसे नेति-नेति कहा है। शंकराचार्य के अनुसार उसका निषेध भी स्वीकार है, 'य एव हि निराकर्त्ता तदेवतस्य रूपम्' क्योंकि उसका निषेध ही संभव नहीं है। प्रसाद के निम्न कवित्त में यही भाव अभिव्यक्त हुआ है—

**''सुमन समूहों में सुहास करता है कौन?**
**मुकुलों में कौन मकरन्द-सा अनूप है,**
**मृदु मलयानिल-सा माधुरी उषा में कौन,**
**स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।**
**मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा, यह,**
**'नहीं नहीं' करना भी 'हाँ' का प्रतिरूप है,**
**घूँघटकी ओट में छिपा है, भला कैसे कभी,**
**फूटकर निखर बिखरत जो रूप है।''[30]**

'गद्यपद्यमयंकाव्यंचम्पूपरित्य भिधीयते।' संस्कृत में गद्य-पद्य मिश्रित रचना को चम्पू कहा गया है तथा उसे दृश्यकाव्य न मानकर प्रायः श्रव्यकाव्य ही माना गया है। प्रसाद ने 'इन्दू' (कला-2, किरण-1, सं0 1967) में 'चम्पू' शीर्षक से एक निबंध ही लिखा है जिसमें नरहरि से लेकर दर्पणकार एवं अग्निपुराणाकार तक की परिभाषाओं का विश्लेषण कर चम्पू काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। प्रसाद ने भी चम्पू को दृश्य काव्य न मानकर श्रव्य काव्य ही माना है, अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि—''चम्पू में गद्य और पद्य समभाग से होना चाहिए, और भाषा उच्च होनी चाहिए और चरित्र उज्ज्वल तथा मनोहारी होना चाहिए। उसके विभागों का नाम स्तवक, उच्छ्वास और परिच्छेद होता है, जैसा कि श्रव्य काव्यों की प्रणाली है।''[31] स्पष्ट है कि प्रसाद चम्पू को श्रव्य काव्य ही मानते हैं, दृश्य काव्य नहीं।[31]

प्रसाद ने 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' नाम से दो चम्पूकाव्य भी लिखें हैं। 'उर्वशी' प्रसाद का नाट्य चम्पू है जो पुरूरवा-उर्वशी की प्रसिद्ध प्रणय-कथा पर आधारित है, इसमें कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। कथा का आधार पौराणिक है तथापि कवि ने अपनी कल्पना एवं प्रतिभा से इसे सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है। उर्वशी के सौन्दर्य-चित्रण, प्रणय एवं प्रकृति-दृश्यों का वर्णन प्रायः पद्य में ही किया गया है। इसमें कुल पाँच परिच्छेद हैं, प्रसाद ने इसमें कवित्त-सवैया के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, रोला, त्रोटक, बरवै जैसे अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है। 'उर्वशी के प्रथम परिच्छेद में 1 कवित्त, 4 सवैया, द्वितीय में 8 सवैया, तृतीय में 1 कवित्त, 2 सवैया एवं चतुर्थ में 2 कवित्त और 2 सवैया छन्द का प्रयोग हुआ है। पाँचवे परिच्छेद में कोई कवित्त-सवैया नहीं है। इस प्रकार से इसमें कुल 4 कवित्त एवं 16 सवैयों का प्रयोग हुआ है। एक उद्धरण पर्याप्त होगा, जिसमें 'भौहें को काम कमान-सी चढ़ाई हुई' सुंदरियों की सुंदरता का वर्णन है—

**''ओछे उरोज पै चम्पई कंचुकी,**
**तोरति अंग किये अरसो हैं।**
**गोल कपोलन में अरुनाई,**
**अमन्द छटा मुख की सरसो हैं॥**
**दीरघ कंज से लोचन भाते,**
**रसीले उनीदे कछुक लजो हैं।**
**छूटत बान धरे खरसान,**
**चढ़ी रहै काम कमान-सी भौंहें॥''[32]**

'बभ्रुवाहन' प्रसाद का दूसरा चम्पू काव्य है जो चार परिच्छदों में विभक्त है। 'बभ्रुवाहन' की कथा का आधार ''महाभारत' है। इसके प्रथम एवं द्वितीय परिच्छेदों में अर्जुन और चित्रांगदा के प्रणय और परिणय की कथा का चित्रण है तथा अंतिम दो परिच्छेदों में अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन के बुद्धि-चातुर्थ एवं शौर्य का वर्णन है। 'उर्वशी' की भाँति इसमें भी प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-वर्णन एवं विविध भाव-प्रसंगों में पद्य का प्रयोग हैं। 'बभ्रुवाहन' के प्रथम परिच्छेद में 1 एवं तृतीय में भी एक, कुल मिलाके 2 सवैयों का प्रयोग हुआ है। एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

**''रहे बनवास सहे बहु कष्ट।**
**कियो निज बैरिन के मद नष्ट।**
**लयो सुखराज मिले सब भ्रात।**
**नहीं हिय माहि अनन्द समात॥**
**व्यतीत भये बहु बासर जात।**
**न पारथ पूछत हैं इक बात॥**

**सुधीरज हाय धरैं किमि प्रान।**
**लियो नहिं खोज अहो सुखदान॥''[33]**

प्रसाद के काव्य-संपदा का एक बड़ा भाग उनके द्वारा लिखे गये नाटकों में भी फैला है। उनके कुछ नाटकों के गीत जैसे—'अरूण यह मधुमय देश हमारा' (चन्द्रगुप्त) अथवा 'आह वेदना मिली विदाई' (स्कंदगुप्त'), बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके नाटकों का कथानक भारतीय इतिहास के स्वर्णिम गुप्त युग से लिया गया है। जहाँ तक कवित्त-सवैया का प्रश्न है तो उनके नाटकों में केवल 'राज्यश्री' में ही मात्र 1 सवैया मिला है, जो नाटक के तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य में आया है। इसे सूरमा नामक एक मालिन गाती है, यथा—

**''जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी,**
**तब क्यों फिर बात बनाने लगे।**
**सब रीति प्रतीति उठी पिछली,**
**फिर भी हँसने-मुसकाने लगे।**
**मुख देख सभी सुख खो दिया था,**
**दुख मोल इसी सुख को लिया था।**
**सर्वस्व ही तो हमने दिया था,**
**तुम देखने को तरसाने लगे।''[34]**

प्रसाद एक प्रयोगधर्मी साहित्यकार थे और उन्होंने काव्य का सभी विधाओं में नवीन प्रयोग किये। यह प्रयोग केवल भाव और भाषा में ही नहीं छन्द प्रयोग के स्तर पर भी दिखाई पड़ता है। प्रो0 सत्यप्रकाश मिश्र ने 'प्रसाद ग्रंथावली' की भूमिका में लिखा है कि—''जयशंकर प्रसाद अपने समय के प्रयोगधर्मी रचनाकार थे। भारतेन्दू युगीन खुमारी से मुक्त हेकर नाट्य और कविता के क्षेत्र में ही नहीं कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने प्रयोग किया है।''[35] काव्य में छन्द के स्तर पर उनका यह प्रयोग परम्परागत छन्दों के साथ, परिवर्तन एवं अभिनव छन्दों के निर्माण तक में दिखाई पड़ता है। कवित्त-सवैया के क्रम में कवित्त छंद को तोड़कर उसे नये रूप में प्रस्तुत करने का कार्य उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'प्रलय की छाया' में किया है। जिस घनाक्षरी (कवित्त छन्द) को तोड़कर निराला ने 'जुही की कली' द्वारा मुक्त छन्द का प्रवर्तन किया, उसके प्रारंभिक लक्षण प्रसाद की इस कविता में देखे जा सकते हैं। 'प्रलय की छाया' का कथानक इतिहास और कल्पना पर आधारित है जिस समय चित्तौड़ की रानी पद्मिनी के आत्म बलिदान की गौरव-गाथा साहित्य में गायी जा रही थी उसी समय प्रसाद ने कमला को काव्य का विषय बनाकर जीवन सौन्दर्य, पतन और मृत्यु का विश्लेषण किया है। इसमें प्रसाद ने 31 वर्ण वाले कवित्त छन्द को तोड़कर उसे अभिनव रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

**''थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की (16 वर्ण)**
**सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में। (15 वर्ण)**
**और उस दिन तो, (7 वर्ण)**
**निर्जन जलधि-बेला रागमयी सन्ध्या से – (16 वर्ण)**
**सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ। (15 वर्ण)**
**दूरागत वंशीरव – (8 वर्ण)**
**गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से (15 वर्ण)**
**मेरे उस यौवन के मालती कुसुम में– (15 वर्ण)**
**रंध्र खोजती थी, रजनी की नीली किरणें।'' (15 वर्ण)**

उक्त कविता में प्रसाद द्वारा प्रयुक्त छन्द कवित्त को ही तोड़कर बनाया गया मालूम पड़ता है। यदि बीच की आधी पंक्तियाँ (7+8 वर्ण-15 वर्ण) मिला दी जाँय तो कवित्त का अष्टक पूरा हो जाता है। इस पूरी कविता का निर्माण ही इसी छन्द में हुआ है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद ने केवल परम्परागत रूप में ही कवित्त-सवैये का प्रयोग नहीं किया, बल्कि उसकी जकड़न खत्म कर उसे नये रूप में भी प्रस्तुत किया है। 'सौन्दर्य का समाधि-लेख : प्रलय की छाया' इसका उत्तम उदाहरण है। कविता में मानसिक द्वन्द्व को उभारने, मृत्यु का बोध कराने, जीवनासक्ति का चित्रण करने, पतनोन्मुख होने, कल्पना, प्रणय एवं वेदना को उभारने, द्वन्दों को तीव्र करने' आदि की दृष्टि से कविता में प्रयुक्त प्रसाद का यह प्रयोग अत्यन्त सार्थक एवं सफल बन पड़ा है, जहाँ मृत्यु भी रोमानी रंग में रंगकर सम्मोहक और कमनीय दिखाई पड़ने लगती है। 'पेशोला की प्रतिध्वनि' तथा 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण' जैसी कविताएँ भी बहुत कुछ इसी छन्दभूमि में लिखी गई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी के कवित्त-सवैयों में भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से रीतिकालीन और द्विवेदी युगीन कवियों का गहरा प्रभाव है, कलात्मकता की दृष्टि से भी उन पर प्राचीन संस्कार हावी हैं किन्तु प्रसाद इसके बावजूद भी दोनों युग के कवियों से अलग हो जाते हैं। क्योंकि उनके कवित्त-सवैयों में रीतिकालीन कवियों के स्थूल वर्णनात्मकता एवं चित्रात्मकता के स्थान पर सूक्ष्म बिम्बात्मकता, प्रतीकात्मकता मिलती है तथा ऐतिहासिक, मानसिक द्वन्द आदि अधिक मिलते हैं। रीतिकालीन कवि प्रकृति के बाह्य परिवेश को अधिक उद्घाटित करता है तो प्रसाद अंतर्मन में उठने वाली हलचलों को। रीतिकालीन कवित्त-सवैयों में कला प्रधान है तो प्रसाद के यहाँ भाव, रीतिकवियों का विषय सीमित है अपेक्षाकृत प्रसाद का व्यापक, रीति कविता में प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण अधिक है तो प्रसाद में उद्दीपन रूप का। इसी प्रकार द्विवेदी युगीन कविता की इतिवृत्तात्मकता, नीरसता एवं शुष्कता के स्थान पर अपने कवित्त-सवैयों में प्रसाद ने मधुर और कोमलकांत पदावली का प्रयोग किया है, यही कारण है कि दबे मन से उनकी प्रशंसा करने वाले युग के सबसे बड़े समीक्षक आचार्य शुक्ल को भी लिखना पड़ा कि—''प्रसाद जी में ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति (अभिव्यंजना की लाक्षणिक पद्धति) का अपने ढंग से बहुत ही मनोरम विकास किया। संस्कृत की कोमलकांत पदावली का जैसा सुंदर चयन बंगभाषा के काव्य में हुआ वैसा अन्य देश भाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन में पद-लालित्य की जो गूँज प्रसाद जी के मन में समाई वह बराबर बनी रही।''[37] छायावाद के सबसे

संघर्षशील और विद्रोही कवि निराला ने 'आदरणीय प्रसाद के प्रति' शीर्षक कविता में लिखा कि—

**''हिन्दी के जीवन हे, दूर गगन के द्युतर**
**ज्योतिर्मय तारा से उतरे तुम पृथ्वी पर,**
**अन्धकार कारा यह, बन्दी हुए मुक्तिधन,**
**भरने को प्रकाश, करने को जनमन चेतन,**
**किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर,**
**पिया गरल पर किया, जाति-साहित्य को अमर॥''**[38]

छन्द का चयन एक गहरे कवि-कौशल एवं कला-नैपुण्यता की अपेक्षा रखता है। प्रसाद ने इस दिशा में वैविध्यमय कुशलता का परिचय दिया है। प्रारंभ में वे ब्रजभाषा के साथ वर्णिक छन्दों को लिखते रहे, पर जैसे-जैसे ब्रजभाषा छोड़ खड़ीबोली में लिखना आरम्भ किया, वैसे-वैसे वर्णिक वृत्तों की जगह मात्रिक छन्दों का प्रयोग करना शुरू किया। उनकी कविताओं में विविध भाषाओं के छन्दों का अपूर्व समन्वय देखा जाता है। उनके यहाँ जहाँ संस्कृत के द्रुत विलम्बित, रूपमाला, मालिनी, वंशस्थ, त्रोटक और बसन्ततिलका जैसे छन्द मिलेंगे, वहीं बँगला के छन्द 'पयार' और 'त्रिपदी' का प्रयोग भी मिल जायेगा। उर्दू छन्दों से प्रभावित हो प्रसाद ने कुछ गज़ल रूप की भी सृष्टि की। हिन्दी के छन्दों में कवित्त-सवैया के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, छप्पय, बरवै, चौपाई, अरिल्ल, गीतिका, हरिगीतिका, तोमर, ललित, वीर (आल्हा) उल्लाला, पद्धरि, लावनी आदि का व्यापक प्रयोग प्रसाद ने किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीतों में अनेक लोकछन्दों का भी अत्यन्त कुशलता एवं मृदुता के साथ प्रयोग कर अपनी छन्द प्रतिभा का विशद् रूप से परिचय दिया है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि खड़ीबोली के साथ ही साथ प्रसाद का ब्रजभाषा काव्य भी उनके कवि-व्यक्तित्व के विकास को समझने के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है।

## संदर्भ-सूची


01. डॉ0 कमलकिशोर गोयनका (संपादक) : 'हिन्दी अनुशीलन : जयशंकर प्रसाद विशेषांक' अंक—1, 2, 3 और 4 वर्ष 31, प्रो0 विजयेन्द्र स्नातक का लेख : 'आधुनिक युग संदर्भ और प्रसाद का काव्य' पृ0 49
02. पुरूषोत्तम दास मोदी (संपादक) : 'अंतरंग संस्मरणों में जयशंकर प्रसाद', श्री केशव प्रसाद मिश्र का लेख —'कर्ता प्रसाद', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2001 ई0, पृ0 65
03. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : 'रचना और विचार', स्वराज प्रकाशन, 21 ए रोड दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004 ई0, पृ0 17
04. डॉ0 शांति जोशी (संपादक) : 'सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली' (सात भागों में), राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1993 ई0 पृ0 84
05. डॉ0 अर्जुन शतपथी, मधुसुदन साहा (संपादक) : जयशंकर प्रसाद : परिप्रेक्ष्य एवं परिदृश्य', पराग प्रकाशन 3/114 कर्णगली, विश्वासनगर, शाहदश, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989 ई0, पृ0 33
06. वही, पृ0 33
07. श्री रत्नशंकर प्रसाद (संपादक) : 'प्रसाद ग्रंथावली' (चार भागों में) लोक भारती प्रकाशन, 15 ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1989 ई0, खण्ड-4, पृ0 471
08. वही, पृ0 472
09. वही, पृ0 475
10. वही, (इन्दु : श्रावण 1867 संवत् : कवि और कविता ) पृ0 442
11. वही, पृ0 23
12. डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिंदी काव्य संवेदना का विकास', लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण 2003 ई0 पृ0 163
13. श्री रत्नशंकर प्रसाद (संपादक) : 'प्रसाद ग्रंथावली' (खण्ड-1) वही, पृ0 1
14. वही पृ0 5
15. ऊषा मिश्र : 'प्रसाद का पूर्ववर्ती काव्य', प्रकाशन साहित्य भवन (प्रा0लि0), इलाहाबाद-3, प्रथम संस्करण 1970 ई0, पृ0 4
16. वही, पृ0 4
17. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी 32 वाँ संस्करण, संवत् 2054 वि0, पृ0 367
18. वही, पृ0 370
19. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : 'हिन्दी साहित्य : रचना और विचार', वही, पृ0 87
20. डॉ0 कमलकिशोर गोयनका (संपादक) : 'हिन्दी अनुशीलन : जयशंकर प्रसाद विशेषांक', डॉ0 प्रभाकर श्रेतिय का लेख : 'प्रेम के विरल कवि जयशंकर प्रसाद', वही, पृ0 30
21. श्री रत्नशंकर प्रसाद (संपादक) : 'प्रसाद ग्रंथावली' (खण्ड-1), चित्राधार', वही, पृ0 49
22. वही, पृ0 50
23. वही, पृ0 58
24. डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिंदी काव्य संवेदना का विकास', लोकभारती प्रकाशन 5 ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1 ; प्रथम संस्करण 2003, पृ0 166
25. वही, पृ0 136
26. श्री रत्नशंकर प्रसाद (संपादक) 'प्रसाद ग्रंथावली' (खण्ड-1) 'चित्राधार', वही, पृ0 73
27. डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिन्दी काव्य संवेदना का विकास', वही, पृ0 167
28. ऊषा मिश्र : 'प्रसाद का पूर्ववर्ती काव्य', वही, पृ0 33
29. श्री रत्नशंकर प्रसाद (संपादक) 'प्रसाद' ग्रंथावली' (खण्ड-1), वही पृ0 274
30. वही, पृ0 275
31. वही, पृ0 434
32. वही, पृ0 434
33. वही, पृ0 408
34. वही, पृ0 138
35. वही, पृ0 09
36. वही, पृ0 381
37. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', वही, पृ0 367
38. डॉ0 नंदकिशोर नवल (संपादक) : 'निराला रचनावली (भाग-2), राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1 बी. नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण 1989 ई0, पृ0 44।


◆

# गद्यकार महादेवी वर्मा की सामाजिक प्रतिबद्धता

*डॉ0 अखिलेश कुमार दुबे* *

''छायावादी कहे जाने वाले कवियों में महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं। उस अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भाव-केन्द्र है, जिससे अनेक प्रकार की भावनायें छूट-छूटकर छलक मारती रहती हैं। वेदना से इन्होंने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है; उसी के साथ वे रहना चाहती हैं उसके आगे वे मिलन सुख को भी कुछ नहीं गिनती, वे कहती हैं कि 'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।' इस वेदना को लेकर उन्होंने हृदय की ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखी हैं, जो लोकोत्तर हैं। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना, यह नहीं कहा जा सकता।''[1]

आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में महादेवी जी के बारे में उक्त टिप्पणी की है। उनकी टिप्पणी महादेवी जी के कवयित्री रूप के संबंध में बिल्कुल सटीक है। आचार्य शुक्ल ही नहीं अन्य दूसरे आलोचक व इतिहासकार भी उनके कवि-व्यक्तित्व को लगभग इसी निष्कर्ष के साथ देखते हैं। महादेवी जी अपने गीतों में अपनी साहित्यिक, सामाजिक प्रतिबद्धता की दृष्टि से बहुत मुखर नहीं है। ऐसी पंक्तियाँ उनके काव्य संसार में दुर्लभ नहीं तो विरल अवश्य हैं, जिसमें वे खुलकर कहती हों कि मैं समाज के उस हिस्से की वाणी हूँ, जो चिर उपेक्षित और सामाजिक न्याय से वंचित है।[2] लेकिन ऐसा अकारण नहीं है। गीति-विधान में स्पष्टता की बहुत अधिक संभावना नहीं होती है और दूसरे छायावादी युग का घनघोर प्रभाव या दबाव उन पर था और तीसरे वे अपने पारम्परिक स्त्री-संस्कारों से संघर्ष कर रही थीं। पारम्परिक स्त्री-संस्कार से आशय, उन संस्कारों से है जो परम्परा व समाज, जाने अनजाने स्त्री के व्यक्तित्व-निर्माण के समय उसे सौंपता है। इसी अर्थ में पूरी तरह न खुलना, स्त्री व्यक्तित्व का एक ख़ास पहलू है। उक्त सभी कारणों ने महादेवी के कमिटमेन्ट को कविताओं में व्यक्तिनिष्ठ बनाया।

क्रमशः महादेवी का रचनाकार प्रौढ़ होता गया और उनका साहित्यिक दर्शन भी। अपने गीतों में वे जितनी व्यक्तिनिष्ठ हैं, अपने गद्य में वे उतनी ही समाजोन्मुखी दिखाई पड़ती हैं। उन्होंने साहित्य के दर्शन को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि—''मेरे विचार में जीवन के विविध सौंदर्य या वैषम्य की तीव्र अनुभूति ही आत्मा का पर्व स्नान है। साहित्य की जो विधा इसे मनुष्य के लिए सुलभ कराती है, वह सार्थक है।''[3]

महादेवी जी को जो संस्कार मिले थे, माँ, पिता और परिवार से वे व्यक्तिनिष्ठा के संस्कार न होकर समाज-निष्ठा के संस्कार थे। अपने परिवार के इस उदात्त दाय को उन्होंने प्रायः रेखांकित किया है—''बाबू जी उसके अनरूप को देखकर विस्मय—विमुग्ध हो गये। हँसते-हँसते पूछा—यह किस लोक का जीव ले आये हैं धर्मराज जी? माँ के कारण, हमारा घर अच्छा खासा 'जू' बना रहता था। बाबू जी जब लौटते, तब प्रायः कोई लंगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खंजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक कुरता पहनकर आंगन में चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी कोई वृद्ध ब्राह्मणी भंडार-घर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।''[4]

महादेवी जी की माँ का जैसा चरित्र हमारे सामने दिखाई पड़ता है, वह दीनों, उपेक्षितों और पीड़ितों को गहरी सहानुभूति देने वाला व उन पर करुणा करने वाला चरित्र है। महादेवी की माँ पति को अपने तर्कों से सहमत कर उनकी भी मुहर अपने पाल्यों पर लगवा लेती थीं। 'रामा' ऐसा ही पाल्य था, जो भूख से मरणासन्न उनकी ड्योढ़ी पर आया था और जिसके कुल-शील का कोई ज्ञान नहीं था। उसे भी उनकी माँ ने जीवन देकर अपने परिवार का आत्मीय हिस्सा बना लिया था :—''बाबू जी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की, पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे। रामा को भी उन्होंने क्षण भर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं—मैंने खास अपने लिए इसे लाकर रख लिया है।''[5]

उक्त उद्धरण यह सिद्ध करता है कि रचनाकार महादेवी का व्यक्तित्व जिन संस्कारों से निर्मित है, वे सहज मानवीय हैं। करुणा, सहानुभूति, उदारता और ममता जैसे मानव-मूल्य उन्हें विरासत में मिले थे। यही विरासत महादेवी के रेखाचित्रों, संस्मरणों व वैचारिक सिद्धान्तों में तथा सघन रूप में भक्तिन, रामा, घीसा, लछमा, दद्दा, सुभद्रा के संदर्भ में पुष्ट आकार ग्रहण करती है। महादेवी के रचे चरित्र चाहे मनुष्य-लोक के हों, पशु लोक के हों या पक्षी-लोक के, सबमें एक विशेष बात दिखाई पड़ती है, वे सभी मानवीय गुणों से युक्त हैं और संघर्षशील भी। निठल्ले और अपनी दीनता को भुनाने वाले नहीं हैं। 'नीलकंठ' नामधारी मोर उनकी ऐसी ही सर्जना है जो पक्षी होकर भी अत्यन्त मानवीय है और जो खतरों की परवाह न करते हुए दूसरे पशु-पक्षियों की रक्षा के लिए साँप से लड़ता है और खरगोश के बच्चे को साँप के मुँह से निकालता है और घायल खरगोश को अपने बच्चे की तरह पंखों में छुपा लेता है—''एक दिन उसके अत्यन्त स्नेह का हमें ऐसा प्रमाण मिला कि हम विचलित हो गये। कभी-कभी खरगोश, कबूतर

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0 पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

आदि साँप के लिए आकर्षण बन जाते हैं और यदि जाली के घर में पानी निकालने के लिए बनी नालियों में से कोई खुली रह जाये तो उसका भीतर प्रवेश पा लेना सहज हो जाता है। ऐसी ही किसी स्थिति में एक साँप जाली के भीतर पहुँच गया।

सब जीव-जन्तु भागकर इधर-उधर छिप गये, केवल एक शिशु खरगोश, साँप की पकड़ में आ गया। निगलने के प्रयास में साँप ने उसका आधा पिछला शरीर तो मुँह में दबा रखा था, शेष आधा जो बाहर था, उससे चीं-चीं कर स्वर भी इतना तीव्र नहीं निकल सकता था कि किसी को स्पष्ट सुनाई दे सके। नीलकंठ दूर ऊपर झूले में सो रहा था। उसी के चौकन्ने कानों ने उस मंद स्वर की व्यथा पहचानी और वह पूँछ-पंख समेटकर सर्र से झपट्टे में नीचे आ गया। संभवतः अपनी सहज चेतना से ही उसने समझ लिया होगा कि साँप के फन पर चोंच मारने से खरगोश भी घायल हो सकता है।

उसने साँप को फन के पास पंजों से दबाया और फिर चोंच से इतने प्रहार किए कि वह अधमरा हो गया। पकड़ ढीली पड़ते ही खरगोश का बच्चा मुख से निकल तो आया परन्तु निश्चेष्ट सा.....वहीं पड़ा रहा।

.....नीलकंठ जब साँप के दो खण्ड कर चुका, तब उस शिशु खरगोश के पास गया और रातभर उसे पंखों के नीचे रखे ऊष्णता देता रहा।''

उद्धृत प्रसंग कितना मार्मिक है, पक्षी नीलकंठ खरगोश की रक्षा के लिए साहस करता है और साँप से लड़ते हुए भी इस बात का ध्यान रखता है कि शिशु खरगोश को चोट न लगे और उसका शिथिल खरगोश को अपने पंखों के नीचे रखकर उसे अभय करना कैसा स्पृहणीय भाव है जो मनुष्यों में भी आजकल दुर्लभ है। ऐसे ही चित्र महादेवी जी के दूसरे रेखाचित्रों 'सोना' और 'नीलू' में भी सहज सुलभ है। 'सोना' फ्लोरा नाम की कुतिया के बच्चों की चिंता करती है और बच्चों की सुरक्षा में सतर्क भाव से डटी रहती है। 'नीलू' कुत्ता, जिसे स्वभाव से ही हिंसक और लालची होना चाहिए वह उनके यहाँ अद्‌भुत मानवीय रूप वाला है।

'नीलू' को पक्षी-शावकों के कुशल क्षेम की कितनी चिंता है? वह महादेवी जी के यहाँ पल रहे सभी पशु-पक्षियों के अघोषित संरक्षक की मुद्रा में अक्सर दिख जाता है। लेखिका 'नीलू' के ममत्व भाव को बहुत बार हार्दिक रूप से स्मरण करती है।

आज हम ऐसे समाज में रह रहे हैं, जहाँ मनुष्य को मनुष्य के संकट में काम आने वाली बात व्यर्थ लगती है। हम अमानवीय समाज का संकट भोग रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'नीलू', 'सोना', 'नीलकंठ' मानों हमें अपने कर्तव्य की याद दिला रहे हों। ये कितने कर्तव्यपरायण और परदुखकातर हैं।

महादेवी जी जिन चरित्रों पर लेखनी उठाती हैं, वे प्रायः नितान्त दीन और उपेक्षित हैं, लेकिन अत्यन्त तेज-सम्पन्न हैं। समाज ने उन्हें न्याय नहीं दिया है, फिर भी वे समर्पण करने वाले नहीं हैं। वे सभी कर्मठ और अपनी-अपनी नियति से संघर्ष करने वाले हैं। उनके सभी चरित्र हमें अपने ओज से आकर्षित करते हैं। वे भाग्य-हत कहलाना नहीं चाहते, बल्कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी स्पष्ट पहचान वाले हैं। महादेवी जी उन्हें नायक भी इसीलिए स्वीकार करती हैं। भक्तिन, पर्वतपुत्र जंगबहादुर, गुंगिया, रामा, घीसा व लछमा ये सभी अपनी पाठकों को चमत्कृत करते हैं। ये सभी समाज के निहायत छोटे, दीन व घोर उपेक्षित जीव हैं, लेकिन इनमें मानवीय गुणों की प्रचुरता सभ्य व सुसंस्कृत कहे जाने वाले समाज के प्राणियों से कहीं अधिक है।

भक्तिन का जीवन समभूमि पर विकसित नहीं हुआ था। समाज और परिवार ने उसे कोई सहानुभूति नहीं दी थी, लेकिन फिर भी वह दुःखियों के प्रति सजग और दूसरों के कष्ट से प्रभावित थी। तभी तो वह आजादी के संघर्ष के दौरान जेल जाने वाले कम उम्र के बच्चों के लिए दुःखी होती है और इस जघन्य घटना को प्रलय के कारण के रूप में देखती है।

'घीसा' उल्लेखनीय पृष्ठभूमि के साथ पैदा नहीं हुआ है। जन्म के साथ ही वह नियति-ग्रस्त है। समाज की क्रूरता झेलता है, लेकिन इन सबके बावजूद वह विषैला नहीं है। उसका व्यक्तित्व तेजस्वी और मानवीय है—''उसका सब हिसाब ठीक था। जलखई वाले छन्ने में दो जलेबियाँ लपेटकर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा ली। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी संकोच भरी आँखें झुक गई—होंठ कुछ हिले, पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। ये तो गुरू साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।''[6]

घीसा, महादेवी जी द्वारा अपने खाने के लिए मिली हुई जलेबियाँ अकेले न खाकर अपनी माँ, अपने पाले हुए पिल्ले की भी चिंता करता है। एक कम उम्र का बच्चा, जिसे जलेबी आकर्षित करती होगी, अपने हिस्से में से औरों की भी सोचता है, यह बात कितनी प्रेरणादायी है? अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। 'घीसा' एक बार बहुत बीमार होकर भी सांप्रदायिक दंगे के खबर सुनकर महादेवी जी (गुरू साहब) की सुरक्षा के बारे में चिंता करता हुआ नदी तट तक भागता आता है और उनसे इस पार (जहाँ वह थीं) ही रुकने का आग्रह करता है। यह प्रसंग भी महादेवी जी अत्यन्त आत्मीय व करुणा भाव से याद करती हैं।

महादेवी जी के गद्य-संसार में धवल चरित्रों की कोई कमी नहीं है। एक से बढ़कर एक चरित्र है, उनके यहाँ। 'पर्वत-पुत्र' शीर्षक रेखाचित्र का 'जंगबहादुर' अत्यन्त सामान्य होते हुए भी अपने व्यक्तित्व की दृष्टि से अद्वितीय है। घोर स्वार्थी युग में अपने बीमार चचेरे भाई की देखभाल की बात निश्चित करते हुए वह किसी तरह के संशय का शिकार नहीं है।

महादेवी के रचे चरित्रों में अधिकतर बेहद साधारण कुलशील वाले हैं। विचित्र भी हैं, लेकिन उनमें गहरी मनुष्यता है। साथ ही उनके यहाँ कुछ असाधारण चरित्र भी हैं, जो अपनी निर्मिति में निहायत सादे व संघर्षशील हैं। इतना ही नहीं ये लोक-संग्रही हैं। इसी आधार पर महादेवी जी के सुभद्रा, निराला और पंत ऐसे ही बड़े नायक हैं, जिनका जीवन लोक-संग्रह की अनूठी मिसाल है और जिनके व्यक्तित्व को समाज ने सहर्ष कुछ नहीं दिया है। 'दद्दा' का जीवन सरल नहीं है। उन्होंने अपने जीवन में बहुत संघर्ष किया था। अपने बच्चों की अर्थी उन्होंने स्वयं उठाई थी। परिवार को ऋणग्रस्तता से स्वयं उबारा था लेकिन समाज व राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पित करने वाले थे—''यदि अपने आप अत्यंत साधारण जीवन व्यतीत करने वाले पुत्र के लिए पूर्वजों के ऋण की छाया कष्ट है तो गुप्तजी इस कष्ट के अंगारपथ को पारकर चुके हैं। यदि अपनी नौ-नौ संतानों को अपने हाथ से मिट्टी को लौटा देना, पिता का दुःख है, तो गुप्तजी इस दुःख के समुद्र को तैर आये हैं।''

महादेवी जी 'दद्दा' को उनकी उदात्त मनुष्यता के लिए व मानव-कल्याण के 'रोल-मॉडल' के रूप में स्मरण करती हैं। दद्दा, स्व0 श्री मैथिलीशरण गुप्त जी को वे लोक-संग्रही मानती हैं। तभी तो वे कहती हैं कि ''गुप्त जी स्वभाव से लोक-संग्रही कवि हैं, अतः उनके स्वभाव के तल में ऐसी गंभीरता आवश्यक है, जिस पर हास और विनोद की सौ-सौ चंचल लहरें बनने के लिए मिट सकें और मिटने के लिए बन सकें।''[7]

महादेवी जी ने 'निराला' जैसे महाकवि पर भी लिखा है। 'निराला' पर लिखते हुए उन्हें निराला जी के चरित्र की भव्यता, उनकी सामाजिक-प्रतिबद्धता याद आती है। वे ऐसे विलक्षण निराला को स्मरण करती हैं, जिसे समाज ने कुछ नहीं दिया है, बल्कि उनका सर्वस्व बिना अहसान प्रकट करते हुए ले लिया है। इस प्रकार महादेवी जी जो असाधारण चरित्र ग्रहण करती हैं, वे भी सहज मानवीय व समाज के लिए प्रतिबद्ध चरित्र हैं। निराला और मैथिलीशरण बड़े व्यक्तित्व हैं, इसलिए वे महादेवी के लिए स्मरणीय नहीं हैं। वे स्मरणीय इसलिए हैं कि उनके चरित्र में उदात्तता, मानवीयता और समाजोन्मुखता है।

स्वर्गीया श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नहीं था। महादेवी जी इसीलिए समाज व राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाली नेत्री को आत्मीयता से चित्रित करती हैं। कोई किरदार अपनी समाजोन्मुखता की वजह से ही बड़ा होता है। यह सत्य महादेवी जी के लिए 'मोटो' की तरह है। इसलिए वे साधारण—असाधारण सभी चरित्रों को इसी कसौटी पर कसकर देखती हैं और उत्तीर्ण होने पर ही उस पर लेखनी चलाती हैं।

महादेवी जी अपने गद्य में 'समाज' के दोहरे चरित्र को भी उजागर करती हैं। वे समाज की क्रूर कर्मनिष्ठा और उनकी असहायों व गरीबों के प्रति निर्मम दृष्टि को भी रेखांकित करती हैं। धार्मिक पाखण्ड भी उनकी नजर से बच नहीं पाया है। भारतवर्ष के सर्वाधिक महत्व के तीर्थ स्थलों की व्यवस्था, वहाँ फैले पाखण्ड पर तीखा व्यंग्य करती हैं। 'गुंगिया' शीर्षक रेखाचित्र में महादेवी जी ने तथाकथित धर्मगुरुओं के छद्म को बखूबी उजागर किया है। भोले-भाले गरीब लोगों के कठिनाई से अर्जित हुए धन पर जीने वाले बाबाओं की आज भी कोई कमी नहीं है। महादेवी जी ने ऐसे ही एक ठग का चित्र उपस्थित किया है। बहुत थोड़ा बाबा जी के बारे में लिखकर भी वे धार्मिक आडंबर व धर्म के नाम पर किये जाने वाले शोषण के स्वरूप को पूरी तरह स्पष्ट कर देती हैं।

महादेवी जी के गद्य में 'पर्यावरण-संरक्षा' के सवाल भी उठाये गये हैं। ये पर्यावरण असंतुलन की स्थिति से परिचित थीं और इससे होने वाले नुकसान से भी। सच पूछा जाय तो महादेवी का समूचा जीवन ही पर्यावरण व प्रकृति के प्रति अटूट प्रेम का निदर्शन है। पशु-पक्षी बेचने वाले मियाँ जी से शिकारियों द्वारा घायल किये गये पशु-पक्षियों को लाना और अपने घर को ऐसे उपेक्षित जीवों का अभयारण्य बना देना इसी बात का परिचायक है।

गद्यकार महादेवी जी के सरोकारों की बात तब तक अधूरी रहेगी, जब तक कि उनके 'स्त्री-मुक्ति' संबंधी दृष्टिकोण की चर्चा न कर ली जाये। अपने गद्य में महादेवी जी ने बहुत सारी ज्वलंत सामाजिक समस्याओं पर बेबाक टिप्पणियाँ की हैं। वर्तमान में 'स्त्री-विमर्श' आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर चुका है, लेकिन जब महादेवी जी लिख रहीं थीं, उस समय कभी-कभार स्त्री-मुक्ति की बात भले हो जाती थी, यह आंदोलन की स्थिति में नहीं था। ऐसे समय में उन्होंने इसे सम्यक् तरीके से उठाया। 'शृंखला की कड़ियाँ' (1948) के निबंध इस बात के साक्षी हैं। अपने संस्मरणों व रेखाचित्रों में भी वे इस मुद्दे पर बहुत मुखर हैं। महादेवी जी के लिए 'स्त्री-मुक्ति' का प्रश्न मनुष्य की मुक्ति का प्रश्न है न कि स्त्री-स्वच्छंदता, जैसा कि आजकल 'टॉपलेस' घूमने की आजादी को कुछ लोग 'स्त्री-मुक्ति' मान रहे हैं। महादेवी जी ने समाज व व्यवस्था द्वारा स्त्री पर लगाये गये प्रतिबंधों को स्त्री के खिलाफ होने वाले षड्यन्त्र के रूप में देखा था। वे इन निर्मम और अमानवीय स्थितियों का विरोध करती हैं, निडर भाव से। 'लछमा' शीर्षक रेखाचित्र में वे भारतीय स्त्री की बेबसी को मार्मिक अंदाज में प्रस्तुत करती हैं।

'स्त्री की मुक्ति' की राह में कैसे-कैसे रोड़े हैं? बहुत बार स्त्रियाँ भी स्त्री के दुःख को बढ़ाने का कार्य सफलतापूर्वक करती हैं—''एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने को उतारू हो जाता है एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ उसके अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाये बिना नहीं रहती।''[8]

महादेवी जी के निबंधों में बहुत सारे ऐसे उल्लेख हैं, जहाँ स्त्रियों की परवशता, समाज के उपेक्षा भाव आदि को मार्मिक तरीके से व्यंजित

किया गया है। कई बार इस मामले में वे विद्रोही रूप में भी सामने आती हैं। व्यभिचार से पैदा हुई सन्तान की माँ को समाज जब सहन नहीं कर सका और अबोध नारी को धोखा दिया जाता है तो वे विद्रोही भाव में दिखाई पड़ती हैं—''यदि ये स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि बर्बर! तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी, तो इनकी समस्यायें तुरन्त सुलझ जायें।''[9]

महादेवी जी ने स्त्री होने की वजह से स्त्री का पक्ष लिया ऐसा नहीं है। वे निर्विवाद रूप से समाज और व्यवस्था द्वारा पीड़ित मनुष्यता की वाणी हैं। उन्हें तो तुलसी के भगवान श्री राम की तरह 'खिन्नजन' परमप्रिय हैं और वे हर हाल में उनकी लड़ाई लड़ना चाहती हैं।

**संदर्भ**


1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 388
2. मेरे हँसते अधर नहीं, जग की आँसू लड़ियाँ देखो
   मेरे गीले पलक छुओ मत, मुरझाई कलियाँ देखो।''
   महादेवी साहित्य समग्र, एक, पृ0 186
3. स्मारिका, पृ0 9
4. वही, पृ0 98
5. वही, पृ0 98-99
6. स्मारिका, पृ0 114
7. स्मारिका, पृ0 30
8. स्मारिका, पृ0 126
9. महादेवी के रेखाचित्र, गोपाल कृष्ण कौल, महादेवी, सम्पादक, इन्द्रनाथ मदान, पृ0 220


◆

# मीरां के काव्य में संगीत-तत्त्व

*शिखा त्रिपाठी* एवं डॉ0 आभा गुप्ता ठाकुर***

जीवन के लक्ष्य अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए मन, वचन और कर्म से भगवान् की भक्ति आवश्यक है। भगवान् के प्रति अनन्य समर्पण की भावना को ही 'भक्ति' कहते हैं। 'भक्ति' नौ प्रकार की बताई गई है, जिसमें से भगवान् के गुणों का गान अर्थात् कीर्तन सहज और श्रेष्ठ है। ज्ञान के अधिक संवेदनशील होने पर माधुर्य भाव अथवा सत्व का उद्रेक होता है। सत्वोद्रेक से चित्त क्रमशः शांत होता है और विराग उत्पन्न होता है। ऐसे विराग के अनुकूल राग हो, राग के अनुकूल छंद हो, छंद के अनुकूल शब्द हो और शब्दों के अनुकूल लय हो तो मन का अखण्ड लय (समाधि) होता है।

भगवान् का प्रत्येक नाम एक मंत्र है। स्वर और लय के आधार से मंत्र की शब्द या चेतन-शक्ति जाग्रत रहती है। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, मीरां, गोस्वामी तुलसीदास, नरसी मेहता, स्वामी हरिदास, विद्यापति, जयदेव इत्यादि संत भक्तों ने स्वर और शब्द की चेतन शक्ति से ही भगवान् का अनन्य प्रेम उपलब्ध किया तथा जगत् को सत्य का संदेश दिया। इन भक्त कवियों का अभीष्ट मानव हृदय को केवल आनंद प्रदान करने वाला काव्य नहीं था अपितु उन सभी के समक्ष एक ही लक्ष्य था और वह था भक्ति काव्य के माध्यम से जन-कल्याण।

ईसा की 14वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक का काल भक्ति साहित्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था। इस काल में भक्ति आंदोलन अपने चरम पर था और इसी समय निर्गुण संत-भक्ति, प्रेममार्गी सूफी भक्ति, प्रेमलक्षणा कृष्ण भक्ति तथा मर्यादामार्गी राम भक्ति की प्रेरणा से ही हिन्दी के सर्वोच्च साहित्य का निर्माण हुआ जिसके प्रभाव स्वरूप शिल्प, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को भी पूर्ण विकसित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

भक्ति और संगीत का घनिष्ठ संबंध है। संगीत को स्फुरित और आह्लादित करने वाली वह भावना भक्ति ही थी जिससे प्रेरित होकर भक्त कवियों ने भक्तिपरक पदात्मक गीतों की रचना की थी। भक्ति में भाव-विह्वलता होती है और भाव-विह्वलता संगीत को जन्म देती है। इसलिए भक्त कवियों ने संगीत की साधना की। भक्ति के संबंध में मीरां उन्मुक्त रूप से यह घोषणा करती हैं कि—

**खरच-न खोटै, चोर न लूटै**
**दिन-दिन बढ़त सवायो।**

संगीत कला उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव जाति। कंठ मानव की सहज एवं स्वाभाविक देन है। संगीत मानव की भौतिक सृष्टि व यश के अतिरिक्त सुख-संतोष का भी साधन माना जाता रहा है। भारतीय ऋषि-मुनियों, योगियों तथा भक्तों के अभ्यास मनन् तथा सतत् साधना से ही संगीत का स्वरूप स्थिर हुआ। जिसके द्वारा संगीत का विशिष्ट लक्ष्य ईश्वर की पूजा, मोक्ष प्राप्ति तथा परम सत्य की उपलब्धि रहा है। डॉ0 उमा मिश्र के कथनानुसार—

''संगीत आध्यात्मिक विधान मस्तिष्क के प्रसार एवं जीवन के सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की मार्मिक अभिव्यक्ति है।''[1]

संगीत आत्मा का विकास करने वाली एक ऐसी सरस और मधुर साधना है जो मानव मन को आनंदानुभूति के उच्च स्तर पर पहुँचाकर उसे तन्मय कर देती है।

संगीत की गरिमा का वर्णन करते हुए डॉ0 रामकुमार वर्मा कहते हैं कि—

''संगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमें ज्ञान होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग 'मंदाकिनी' की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हैं।''[2]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी स्वीकार किया है कि संगीत में ईश्वर का साक्षात्कार करने की अद्भुत क्षमता है—

**''जानि आमि एइ गानेर बले**
**बसि गए तोमारि सम्मुखे।''**

आरंभ से ही भारतीय संगीत कला, धर्म का आधार लेकर चली और उसी के संरक्षण में विकसित भी हुई। सृष्टि के स्वर्णिम विहान से लेकर प्रलय की काली छाया तक संगीत का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जिसे संगीत शून्य कह दिया जाए।

भावुक व्यक्ति प्रकृति के कण-कण में संगीत के निहित होने की अनुभूति करता है। स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा-परमात्मा का स्वरूप। जिस प्रकार आत्मा का संबंध परमात्मा से माना जाता है, उसी प्रकार स्वर का संबंध भी आत्मा से है। इस युक्ति से संगीत और आत्मा का संबंध भी सुदृढ़ होता है।

संगीत जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि रोना व गाना सभी को आता है। जो व्यक्ति अपने तपोबल से संगीत के स्वरों की साधना एवं ताल पर अपना अधिकार अथवा नियंत्रण कर लेते हैं वे संगीत के शास्त्रीय रूप के ज्ञाता, विद्वान समझे जाते हैं तथा समाज में आदर के अधिकारी भी होते हैं। किन्तु संगीत में मुग्ध कर लेने की वो क्षमता है जिससे साधारण व्यक्ति भी अछूते नहीं हैं। अर्थात् जो गायक कहलाने के पात्र नहीं होते वे लोग भी गाते हैं। इन लोगों के जीवन का संबंध भी संगीत से प्रचुर मात्रा में होता

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

है। गाँव में गाए जाने वाले लोकगीत, पशु चराते समय ग्वालों का संगीत, घोड़ागाड़ी चलाने वाले व्यक्ति का गीत भी इस कथन की पुष्टि स्पष्ट रूप से करते हैं। प्रकृति स्वयं में संगीतमय है।

जीवन-पथ अर्थात् जीवन के किसी भी मोड़ पर यदि हम ठहर कर देखेंगे तो सर्वत्र ही हमें संगीत की व्यापकता तथा प्रभाव परिलक्षित होगा। दुःख से सुख तक, रूदन से हास तक, जन्म से मृत्यु तक सर्वत्र ही हमें संगीत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। संगीत में मन को आकर्षित करने की वो शक्ति होती है जिससे संसार का कोई भी तत्व अछूता नहीं है।

संगीत का प्रभाव सर्वव्यापी है। मानव मन ही नहीं, पशु-पक्षी एवं जड़-जगत् तक इससे प्रभावित हो उठते हैं। संगीत का मधुर स्वर पशु-पक्षियों को भी मंत्र-मुग्ध कर लेता है। इसका प्रमाण हमें सावन मास में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। सावन में श्वेत-श्याम मेघ मालाओं से प्रस्फुटित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का रिमझिम-रिमझिम राग सुनते ही कोयल कूक उठती है, पपीहे गा उठते हैं, मोर नाचने लगते हैं, मँजीरें बोल उठते हैं।[3] वे अपने सभी दुःख-दर्द, राग-द्वेष को भूलकर उन्मुक्त रूप से संगीत की उन स्वर लहरियों का आनंद लेते हैं। पेड़-पौधे तक इसके प्रभाव से आनंद-मग्न हो जाते हैं, नदी की धारा स्थिर हो जाती है और हवा मन्द पड़ जाती है।

काव्य एवं संगीत का अन्योन्याश्रय संबंध है। काव्य में रचनाकार अपने मनोभावों तथा अनुभूतियों को शब्द और अर्थ के द्वारा व्यक्त करता है। संगीत वह कला है जिसमें संगीतज्ञ अपने मनोभावों एवं रागात्मक अनुभूतियों को शब्द और स्वर के माध्यम से व्यक्त करता है। संगीत की अभिव्यक्ति स्वर, लय और ताल द्वारा होती है तथा काव्य की अभिव्यक्ति शब्द, अर्थ तथा भाव के द्वारा की जाती है। इस प्रकार संगीत काव्य को अत्यधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक होता है और काव्य संगीत के रूप को व्यक्त करने में। संगीत काव्य का एक प्रमुख तत्व है क्योंकि काव्य के बिना संगीत अधूरा है।

संगीत एवं काव्य दोनों का मानव-जीवन से गहरा संबंध है और दोनों का क्षेत्र भी बहुत कुछ समान है। यदि कुछ अंतर है तो वह अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र का, अन्यथा काव्य एवं संगीत दोनों ही की अभिव्यक्ति अखंड है।

भारतवर्ष में जातीय जीवन की अभिव्यक्ति कलाओं के द्वारा ही अधिक हुई है। भारत की कलाओं का जीवन से सदैव घनिष्ठ संबंध रहा है। कवि, गायक एवं अन्य कलाकारों ने युग-युग से मानव-जीवन की भावनाओं एवं चित्तवृत्तियों का संस्कार किया है। अतः व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से काव्य एवं संगीत का क्षेत्र बहुत कुछ समान हो जाता है।

काव्य और संगीत में इतना अधिक सामंजस्य है कि अनेक पाश्चात्य विद्वान कविता की परिभाषा उद्धृत करते समय उसकी संगीतात्मकता का भी उल्लेख करना अनिवार्य समझते हैं—एडगर एलेन पो का कथन है कि 'संगीत जब आनंददायक विचारों से युक्त होता है तब उसे कविता कहते हैं।' 'कारलाइल' ने भी कविता को संगीतमय विचार कहा है।

भारतीय विद्वानों ने यद्यपि स्पष्ट रूप से संगीत का सहारा लेकर कविता की परिभाषा नहीं की, तथापि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दृश्य-काव्य के संबंध में कहा है—

**''मृदुललित पदार्थ गूढ़शब्दार्थ हीनं,**
**बुधजन सुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्**
**बहुरस कृतमार्ग संधिसन्धानमुक्तं,**
**भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।''[4]**

अर्थात् मृदुललित शब्दार्थ से युक्त, गूढ़ शब्दार्थ से हीन, बुद्धिमानों को सुख देने वाला, बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा किए हुए नृत्य से मुक्त श्रृंगारादि अनेक रसों की शैली से युक्त, संधियों के संधान से सम्पृक्त नाटक जगत् में दर्शकों के योग्य होता है।

काव्य और संगीत एक-दूसरे के पूरक ही नहीं, वरन् पूर्णता प्रदान करने वाले भी हैं। संगीत से युक्त होकर काव्य श्रेष्ठतम् रूप धारण करता है और संगीत काव्य के संयोग से निखर उठता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल काव्य में संगीत का समन्वय आवश्यक मानते हैं। ''बिम्ब-विधान के लिए जिस प्रकार कविता चित्रकला की प्रणाली अपनाती है उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिए संगीत-कला का सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर बसी रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही प्रसन्नचित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।''[5]

अनेक विद्वानों ने संगीत और काव्य को एक-दूसरे का पर्यायवाची भी माना है। परंतु संगीत और काव्य एक नहीं। ये एक-दूसरे से सम्बद्ध अवश्य हैं, कुछ अंश तक अभिन्न भी हैं, अन्योन्याश्रयी भी। दोनों के प्रभाव में साम्य है, व्यापकता है परंतु दोनों के तत्व भिन्न हैं और आधार भी।

मीरां का संपूर्ण काव्य गीति-काव्य के रूप में उपलब्ध है। गीति-काव्य की यह परंपरा अति प्राचीन है। गीतिकाव्य की पूर्ववर्ती परंपरा में मीरां का काव्य एक सच्ची भक्त आत्मा की वेदना, व्याकुलता, तल्लीनता, मिलन के उल्लास और विरह के उन्माद को पूर्णतः ज्ञापित करता है। मीरां मूल रूप से भक्त थीं। उन्होंने अपने हृदय के भावों एवं उद्‌गारों को अपने काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मीरां के संपूर्ण काव्य में गीति-तत्व के अपेक्षित गुण सहज रूप से उपस्थित हैं—आत्माभिव्यंजकता, अनुभूति की तीव्रता, काल्पनिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता तथा सहज और सुकुमार भाषा। मीरां की भावनायें अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति अत्यन्त सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है। उनके

संपूर्ण काव्य में उनकी स्वानुभूति परिलक्षित है। अर्थात् उन्होंने जो अनुभूति की, उसी को अपने काव्य के द्वारा प्रस्तुत किया। यह स्वानुभूति लहरों के समान निर्बाध गति से काव्य के रूप में बहने लगी। मीरां का संपूर्ण काव्य ही उनकी आत्माभिव्यक्ति है।

संगीत, गीतिकाव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। काव्य संगीत का सान्निध्य पाकर अखण्ड आनंद प्रदान करता है। अर्थात् उस अनादि-अनंत ब्रह्म का साक्षात्कार करवाने में समर्थ होता है। मीरां का तो संपूर्ण काव्य ही संगीतमय है, संगीत में डूबा हुआ है। उनके सभी पद गेय हैं। उनके पदों में शास्त्रीय संगीत का रूप सर्वत्र परिलक्षित होता है। शास्त्रीय संगीत के साथ ही साथ उनके पदों में लोक-संगीत का भी समावेश है।

काव्य में अनुभूति की तीव्रता सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। क्योंकि गहन अनुभूति के अभाव में काव्य सुन्दर तो हो सकता है परंतु अंतर्मन को उद्वेलित व प्रभावित नहीं करता है। अर्थात् वह आत्मा तक नहीं पहुँच सकता। मीरां के पदों में अनुभूति की गहन तीव्रता समाहित है-

**म्हाराँ री गिरधर गोपाल दूसराँ णाँ कूयाँ,**
**दूसराँ णाँ कूयाँ साधाँ सकल लोक जूयाँ।।टेक।।**[6]

गीति-काव्य में अनुभूति की तीव्रता के साथ ही साथ संक्षिप्तता अपरिहार्य है। मीरां ने अपने काव्य में पदों में संक्षिप्तता का निर्वाह अत्यधिक कुशलता के साथ किया है। अपने अंतर्मन के असीम तथा व्यापक भावों को छोटे-छोटे पदों में बड़े ही सरल व सहज रूप में अभिव्यक्ति किया।

गीति-काव्य की विशेषता है सरल और सुकुमार भाषा शैली। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भाषा के संदर्भ में कहते हैं—''भावना से भाषा बनती है।''

अर्थात् मीरां के भाव, उनकी भावना इतनी कोमल एवं मधुर थी कि उसी के अनुरूप भाषा ने अपना रूप ग्रहण कर लिया। अर्थात् जितने सुन्दर, कोमल एवं मधुर भाव उतनी ही सुन्दर-सुकुमार भाषा, अतः मीरां के काव्य में सहज व सुकुमार भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है—

**''बस्याँ म्हारे णेणण माँ नंदलाल।। टेक।।''**
**मोर मुकुट मकराक्रत कुण्डल अरुण तिलक सोहाँ भाल।**[7]

मीरां के पदों में गेय तत्व प्रधान रूप से उपस्थित है। उन्होंने अपने पदों में गेयता को ही प्रमुख आधार माना है। मीरां मूलतः संत, भक्त और संगीतज्ञ की श्रेणी में आती हैं बाद में उन्हें कोई दूसरा स्वरूप दिया जा सकता है। मीरां ने अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण की भक्ति में पद गाए और उनके शिष्यों ने उन्हें लिपिबद्ध किया।

मीरां के पदों में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग मिलता है। शास्त्रीय संगीत का अर्थ है—जो शास्त्रसम्मत हो। और शास्त्रोक्त विधि से गाया जाए। मीरां के पदों में जिस शास्त्रीय संगीत का प्रयोग हुआ है वो अत्यन्त ही सुगम एवं सरल है क्योंकि मीरां ने गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति 'स्वान्तः सुखाय' के लिए पदों को गाया। अपने आत्मिक सुख व आनंद के लिए पदों को गाया। उनके पदों में प्रयुक्त शास्त्रीय संगीत उनके हृदय से निकला हुआ स्वाभाविक संगीत था न कि पाण्डित्य प्रदर्शन का माध्यम।

इसी विशेषता के कारण भक्तों के बीच पद इतने लोकप्रिय हुए। अधिकांश कृष्ण-भक्त कवियों ने, भाव-विह्वलता की स्थिति में स्वरचित पदों का गायन किया इसीलिए कृष्ण-भक्ति धारा में पदों का बाहुल्य है।

मीरां के विविध पद-संकलनों में राग-रागिनियों का सुन्दर समावेश देखने को मिलता है। उन्होंने अपने पदों को विभिन्न राग-रागिनियों में स्वरबद्ध कर अपने गिरधर नागर को अर्पित किया। उन्होंने अपने पदों को 60-70 रागों में स्वरबद्ध किया। उनके पद राग तिलंग, ललित, हमीर, त्रिवेणी, मंजूरी, खमाज, बिलावल, झिंझोटी, पहाड़ी, जौनपुरी, भैरवी, नीलांबरी, कामोद, मालकौंस, मुल्तानी, पटमंजरी, गुनकली, माँड, धानी, पूरिया-कल्याण, पीलू, बरवा, सोहनी, बिहाग, सोरठ, श्याम-कल्याण, रामकली, दरबारी, मल्हार, पूरिया, धनाश्री, ललित, जोगिया, सुख-सोरठ, सावन, सावनी-कल्याण, होली, बागेश्वरी, सारंग, आनंद भैरव, देश, तोड़ी, आसावरी, धुन-लावनी, अल्हैया प्रभाती, पूरियां-कल्याण, सिंध-भैरवी, भीमपलासी, कोसी, कालिंगड़ा, नट-बिलावल, परज, सूहा, कनड़ी, छाया तोड़ी, काफी, हंसनारायण, मारू, दुर्गा, धमार, शुद्ध सारंग, रागेश्री, धनाश्री आदि राग-रागिनियों में गाये जाते हैं।

राग रागिनियों के साथ ही साथ इनके पदों में तालों का भी सुन्दर समावेश हुआ है। इनके पदों में ताल रूपक, ताल कहरवा, ताल दादरा, तीनताल, दीपचंदी, चर्चरी तथा धमार ताल का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

उनके पदों में प्रयुक्त इन राग-रागिनियों एवं तालों पर विचार करने से यह पता चलता है कि यह राग-रागिनियाँ एवं ताल श्रृंगार रस तथा करूण रस प्रधान हैं। अपने गिरधर नागर के प्रति उनके उद्वेलित हृदय की विरह-व्यथायें इन्हीं राग-रागिनियों के माध्यम से, कालावधि अनुसार अभिव्यक्ति हुई है।

संगीत की प्राचीन परिभाषा 'गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयः संगीत मुच्यते' के अनुसार मीरां के पदों में गायन, वादन और नृत्य तीनों का समन्वय है। मीरां पदों को गाती तो थीं ही साथ में वाद्य-यंत्रों का उपयोग भी होता था। भजन-कीर्तन में कई वाद्य यंत्रों का प्रयोग विशेष रूप से आवश्यक माना जाता है। मीरां ने कई वाद्य-यंत्रों का उल्लेख किया है जो स्पष्टतः उनके गीतों में संगति देते थे-

**''बाज्यों झाँझ मृदंग मुरलिया बाज्याँ कर इकतारी।''**[8]

अर्थात् झाँझ, मृदंग, मुरली, इकतारा, पखावज आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग मीरां ने अपने गीतों की संगति के लिए किया।

प्रेमानुभूति की तीव्रता में मीरां गाती ही नहीं नाचती भी थीं। ऐसे तो भावावेश में आत्म-विभोर होकर अन्य कृष्ण-भक्त कवि भी नाचने लगे थे। परंतु मीरां का नृत्य भिन्न कोटि का था। वह कांत-कृष्ण को रिझाने-लुभाने के लिए नृत्य करती थीं। नृत्य उनकी साधना का अंग था, भावाभिव्यक्ति का माध्यम, अतएव उनके अनेक पदों में नृत्य संबंधी उल्लेख मिलते हैं। यथा-

**''म्हाँ गिरधर आगै नाचाँ री।**
**नाच नाच म्हाँ रसिक रिणावाँ, प्रीत पुरातन जाँचा री।**
**स्याम प्रीत री बाँध घूँघर्याँ मोहन म्हारा साँचा री।''[9]**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मीरां के पदों में संगीत के तीनों अवयवों का समावेश था।

मीरां शास्त्रीय संगीत की ज्ञाता थीं। उनके प्रत्येक पद संगीत-साधना के लिए शाश्वत-वरदान है। उनके पद भजन-कीर्तन परंपरा की अमूल्य निधि हैं। वे भगवद्भक्ति के अक्षय धरोहर हैं। उनके दो सहस्र वर्षों से अधिक पूर्व की ग्रीक कवयित्री सैफो के निमित्त कहे गये शब्द—"Love's priestess mad with pain and joy of song's priestess, mad with joy and pain of love."

**''गीत वेदना-सौख्य मग्न, थी प्रेम पुजारिन।**
**प्रेम सौख्य वेदना विकल, थी गीत-पुजारिन॥''[10]**

आज मीरां के लिए भी प्रायः उसी प्रकार उपयुक्त समझे जा सकते हैं।

## संदर्भ सूची


1. काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध—डॉ0 उमा मिश्र, पृ0 3
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ0 रामकुमार वर्मा, पृ0 636
3. संगीत-विशारद, लेखक—वसंत, पृ0 525
4. नाट्यशास्त्रम्—श्री भरतमुनि प्रणीतं चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस सिटी, पृ0 214-17-123
5. चिन्तामणि प्रथम भाग—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ0 179-188
6. मीरांबाई की पदावली—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, सत्रहवाँ संस्करण, 1983 ई0, पद संख्या 18, पृ0 104
7. वही, पद संख्या 3, पृ0 99
8. वही, पद संख्या 77, पृ0 122-123
9. वही, पद संख्या 17, पृ0 103
10. मीरांबाई की पदावली—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, सत्रहवाँ संस्करण, 1983 ई0, पृ0 87


◆

# धर्म का यथार्थ स्वरूप : आधुनिक परिपेक्ष्य में

*विवेक जायसवाल* एवं प्रो0 सरस्वती सिंह***

संसार के विभिन्न विद्वानों ने धर्म के विभिन्न लक्षण किये हैं किन्तु ऐसा कोई सर्वसम्मत लक्षण नहीं है जो संसार के सभी लोगों को मान्य हो। **लार्ड मोर्लेन** ने एक स्थान पर कहा है कि धर्म की लगभग 10,000 व्याख्याएँ की गई हैं फिर भी उनमें सभी धर्मों का समावेश नहीं होता। किसी एक विद्वान् या दार्शनिक का मत भी प्रमाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि उन्होंने अपने-अपने देश व काल के आधार पर धर्म की परिभाषा बताई। इसी समस्या के समाधान का प्रयास करते हुए महर्षि व्यास ने कहा है—

**तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः**
**नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।**
**धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,**
**महाजनो येन गतः स पन्थाः॥**

धर्म का तत्व तो बुद्धि की गुफा में निहित है जहाँ अन्धेरा होने से वह दीखता ही नहीं, इसलिए जिस मार्ग से महापुरुष गये हों वही मार्ग धर्म का मार्ग समझना चाहिए।

भगवान महावीर जैसे तत्वचिंतक ने धर्मतत्व के निर्णय के लिए संशयात्मक स्थिति में पड़ने की अपेक्षा यह निर्णय दिया—

**पन्नासमिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं।**

'वास्तविकता की कसौटी पर परखे हुए धर्म तत्व की अपनी सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि से ही समीक्षा की जा सकती है।'

पं0 नारायण के लोकप्रिय श्लोक के अनुसार धर्म ही पशु की तुलना में मानव के अतिरिक्त गुण या लक्षण का द्योतक है क्योंकि शेष लक्षण तो मनुष्य एवं पशु में समान पाये जाते हैं।

धर्म शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। धर्म शब्द की निष्पत्ति भ्वादिगणीय धृञ् धारणे धातु से मन् प्रत्यय लगाकर हुई है। 'धृ' धातु का अर्थ है- धारण करना। इस प्रकार जो भी धारणीय है उसे धर्म कहते हैं। धर्म से तात्पर्य सद्गुणों को धारण करना है। इस प्रकार धर्म के मुख्य लक्षण वे सिद्धान्त हैं जिनके धारण करने से मनुष्य का प्रत्येक प्रकार से कल्याण हो। धर्म के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को लें तो **'धारणाद् धर्मः'**[1] जो धारण किया जाय अथवा **'दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः'** दुर्गति में पड़े हुए आत्मा को जो धारण करके रखता है वह धर्म है।

वर्तमान में 'धर्म' शब्द का अर्थ प्रायः सम्प्रदाय मान लिया जाता है, किन्तु धर्म से तात्पर्य किसी मत, पंथ, सम्प्रदाय अथवा मजहब की संकुचित व्यवस्था से नहीं है। धर्म तो आध्यात्मिक अनुभूति है। महात्मा गांधी धर्म को अन्तःकरण, प्रेरणा, आत्मशक्ति, नैतिक बल एवं कर्तव्य के रूप में लेते थे।

इस प्रकार धर्म के दो अर्थ निकलते हैं उन दोनों अर्थों का तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे नियम, ऐसे सद्गुण, ऐसे रीति-रिवाज, ऐसी नीति और ऐसे आचरण जो दुर्गति अर्थात् दुःख में पड़े हुए आत्मा को बचावें और सुख की ओर ले जा सकें वह धर्म है।

आंग्ल भाषा में धर्म को 'रिलीजन' कहते हैं। रि = पीछे, लीजन = बाँधना। अर्थात् सद्विचारों में आत्मा को बाँधना, उसे अनुबन्ध भी कहते हैं। जहाँ आत्मा सद्विचारों से बँध जाती है वहाँ समाज में अव्यवस्था हो ही नहीं सकती। आपसी वैमनस्य और द्वेष की भावना पनप ही नहीं सकती तथा स्वत्व और परत्व की भावना हो ही नहीं सकती। विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म की जो व्याख्याएँ की हैं वो अधोक्त है—

**हेगल के अनुसार–**'सीमित मस्तिष्क के अन्दर रहने वाले अपने असीम स्वभाव का ज्ञान धर्म है।'

**मनोविज्ञानशास्त्री आमेस के अनुसार–**'ईश्वर से प्रेम करना धर्म है।'

**मक्टागार्ट के अनुसार–**'चित्त का वह भाव जिसके द्वारा हम विश्व के साथ एक प्रकार का मेल अनुभव करते हैं।'

निष्कर्षतः पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार धर्म वह तत्व है जो मानव मात्र को एकता और अखण्डता के सूत्र में बाँधते हुए उसके असीम स्वभाव का ज्ञान कराता है साथ ही उसमें प्रेम और करुणा के भाव विकसित करता है।

सनातन धर्म के अनुसार जो धर्म दूसरे धर्म में बाधा डालता है वह धर्म नहीं अधर्म है—**धर्मः यो बाधते धर्मो न स धर्मः अधर्म तत्।** चाणक्य के शब्दों में—**'सुखस्य मूलं धर्मः'**[2] समस्त सुखों का मूल धर्म है। इसे दुःख निवारक भी कहा गया है-

**देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिवर्हणम्।**
**संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे पदे॥**[3]

मनु की धारणा है कि धर्म का स्वरूप हर युग में परिवर्तित होता रहता है। जैसे-जैसे युग का ह्रास होता जाता है, उसी प्रकार धर्म का भी ह्रास होता है।[4] सत्य युग में धर्म तपस्या प्रधान होता है, त्रेता में ज्ञान प्रधान, द्वापर में यज्ञ प्रधान व कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म होता है।[5]

मनु ने धर्म के मूल अथवा प्रमाणस्वरूप सारे वेद, वेदज्ञों की

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

स्मृतियाँ, उनके शील, साधुजन के आचरण एवं आत्मसंतुष्टि को माना है।[6] **मनु** ने केवल वेद, स्मृति, सदाचार, आत्मसंतुष्टि इन चार साक्षात् लक्षणों को ही ऋषि निर्दिष्ट प्रमाण माना है।

**वेद स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
**एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।**[7]

**याज्ञवल्क्य** ने मनु का समर्थन करते हुए कहा है-

**श्रुति स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
**एतच्चतुर्विधं प्राहुः धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।**[8]

मनु ने जिसको सर्वसाधारण अनुष्ठेय धर्म माना है, ये हैं- अहिंसा, सत्य-वचन, परद्रव्य अपहरण न करना, पवित्रता एवं इन्द्रिय निग्रह जो चारों वर्णों के जनसाधारण के लिए अनुष्ठेय है।[9]

जैमिनी के अनुसार **'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'** चोदना क्या है- जैमिनी के अनुसार क्रिया में प्रवर्तित करने वाले शास्त्र वचन का नाम चोदना है अर्थात् आचार्य से प्रेरित होकर जो यज्ञ आदि किये जाते हैं उसी का नाम धर्म है। यज्ञ मानव कल्याण के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान है इस प्रकार जो कार्य मनुष्य के कल्याण के लिए किया जाता है वह धर्म है। इसी धर्ममीमांसा मर्म को मीमांसासूत्रभाष्य में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। **'य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।'** अर्थात् जो केवल श्रेयस्कर ही है वही धर्म है।

सन्त तुलसी ने दया-भाव को ही धर्म का मूल माना है-

**दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान,**
**तुलसी दया न छोड़िये, जब तक घट में प्राण।**

साथ ही परोपकार को सबसे बड़ा धर्म और परपीड़ा को सबसे बड़ा अधर्म बताया है—

**परहित सरिस धर्म नहीं भाई।**
**पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।**

मनु ने सदाचार को सबसे बड़ा धर्म कहा है—

**आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।**[10]

यह धर्म शब्द नीति नियामकता, कर्म, कर्तव्य आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है इसके पर्यायवाची हैं- पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृषकृत् (अमरकोष) न्याय, स्वभाव, आचार, अहिंसा आदि।

सत्य (जो ईश्वर है) के प्रति पूर्ण निष्ठा ही धर्म है। अपने इस विशिष्ट विचार को स्पष्ट करने के लिए **गाँधी** प्रथमतः यह बताते हैं कि धर्म से वे क्या समझते हैं-

"Let me explain what I mean by religion. It is not the Hindu religion but the religion, which transcends Hinduism, which changes one's very nature, which bind's one indissolubly which the true within and whichever purifies. It is the permanent nature in human nature which counts no cost too great in order to findfull expression and which leaves the soul utterly restless it has found itself. Known it's maker and appreciated the true correspondence between the Maker and itself."[11]

गाँधी स्पष्ट करते हैं कि 'धर्म' से वे हिन्दू धर्म या किसी विशेष धर्म को सूचित नहीं करते। धर्म किसी विशेष धर्म से परे है ऊपर है। गाँधी जी के अनुसार धर्म वह शक्ति है जो मनुष्य के स्वभाव को पूर्णतया परिवर्तित कर देता है, जो मानव को सत्य के साथ जोड़कर आत्मशुद्धि का साधन बन जाता है। यह मानव स्वरूप का वह शाश्वत पक्ष है जो तब तक अशान्त रहता है जब तक वह अपनी आत्म की वास्तविकता न समझ ले तथा सत्य रूप ईश्वर की उपलब्धि के रूप में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति न कर ले।

**राधाकृष्णन् के शब्दों में–**"जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अपना दैविक जीवन व्यतीत करते हैं, जिनके द्वारा हमारे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है, वही धर्म है। वह जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।"[12]

राधाकृष्णन् कहते हैं कि वस्तुतः धर्म कोई सिद्धान्त या निर्देश नहीं है यह तो 'सत्' की अन्तर्दृष्टि है। वे कहते हैं—

"Religion is not a creed or code, but an insight in to reality."[13]

इस अन्तर्दृष्टि को समझने के लिए एक सार्वभौम तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव के ही अन्तर में 'कुछ' है जो मानव के दृश्य रूप से उच्चतर है। वही 'कुछ' सत् रूप है जो मानव आत्म में स्थित है तथा वही मानव के सीमित एवं असीम रूपों के मध्य सेतु-रूप है। इसी बात की समझ धर्म के सार-रूप की समझ है। अतः राधाकृष्णन् कहते हैं कि धर्म की वास्तविकता धर्म का सार-रूप जीवन के उस ढंग में व्यक्त होता है जिस ढंग से मानव अपने सामान्य स्वभाव को इस प्रकार परिणत कर ले कि उसके जीवन में 'ईश्वरत्व' व्यक्त हो सके।

"[a way of the life which enables man to] make a change in his own nature to let the Devine in him manifest himself."[14]

धर्म का अर्थ है परम आध्यात्मिक मूल्यों तथा उन्हें प्राप्त करने के ढंगों में आस्था। इस आस्था में परमात्म के प्रति उन्मुखता निहित है कि परमात्मा की अनुभूति सम्भव है। यही कारण है कि श्रेष्ठ धर्मों के आधार वे ही सत्य बने हुए हैं जिन्हें पैगम्बरों, द्रष्टाओं ने देखा तथा समझा था। अतः कहा जा सकता है कि धार्मिक अनुभूति की भावात्मक वास्तविकता में 'आस्था' ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है, वे कहते हैं-

Religion is the affirmation of the intimacy of religious experience.

**डॉ0 भीखन लाल आत्रेय के अनुसार-** "धर्म जीवन-यात्रा के ऐसे नियमों का नाम है जिन पर चलने से व्यक्ति का जीवन सुखी और समाज सुव्यवस्थित रहता है।"[15]

अब विभिन्न धर्मों की पवित्र पुस्तकों पर दृष्टिपात करना समीचीन

होगा। हिन्दू धर्म के पवित्र ग्रन्थ **ऋग्वेद** में कहा गया है—

**समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।**
**समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहाति॥**[16]

अर्थात् तुम्हारा संकल्प एक रूप वाला होवे। तुम्हारे हृदय एक रूप वाले हों। तुम लोगों का मन एक प्रकार का हो जाय, जिस प्रकार कि तुम्हारा सुन्दर साथ हो जाय।

भगवान तो कहते हैं जो मुझे जिस रूप में देखना चाहते हैं वे उन्हें उसी रूप में पाते हैं। किन्तु ये रूप और नाम तो मानव कल्पित हैं ईश्वर तो मात्र वही एक है फिर उसके भक्तों में आपसी द्वेष क्यों? **गीता** में कहा गया है—

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः॥**[17]

''हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उसी प्रकार उन्हें प्राप्त होता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य एक प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।''

सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होता है कि सभी धर्म एक परमसत्ता की ओर ही संकेत करते हैं। मात्र वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग पृथक्-पृथक् चुने गये हैं। बापू ने विश्वमंदिर की कल्पना की थी जिसमें सभी धर्मों को मानने वाले प्रवेश कर सकें। उसमें सभी धर्मों के प्रतीक हों और सभी धर्मों का सम्मान दिखायी पड़ता हो। कदाचित् परमसत्ता की भी यही इच्छा है। **कुरान** में लिखा है—

''सचमुच तुम्हारे यह सब अलग-अलग मजहब और फिरके एक ही मजहब और एक ही फिरका है और मैं तुम सबका एक ही रब्ब हूँ लेकिन लोगों ने अपने दीन के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और हर गिरोह जो कुछ उसके पास है उसी में फूला है। यह बड़ी नासमझी है।''[18]

आश्चर्य की बात है कि ईश्वर के निवास के लिए मन्दिर चाहिये या मस्जिद चाहिये अथवा गुरुद्वारा या गिरजाघर चाहिए इसका निर्णय भी मानव ही करता है। यही नहीं वह ईश्वर जो सबका है, जो कण-कण में व्याप्त है जो अन्दर भी है जो बाहर भी है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है उसे अपना-अपना मानकर उसके लिए युद्ध भी किये जाते हैं यहाँ तक कि उसका नामकरण भी व्यक्ति ही करता है। जिसने उसे अल्ला नाम दिया वह अपने को मुसलमान समझ बैठा, ईश्वर नाम देने वाले स्वयं को हिन्दू मान बैठे। ऐसे ही सिक्ख, इसाई सभी अपने को अलग-अलग मानकर एक-दूसरे के शत्रु बन गये जबकि उस सत्ता ने ऐसा कोई विभाजन नहीं किया था।

**बाइबिल** कहती है—

''न कोई यहूदी है, न कोई यूनानी, न कोई गुलाम है न कोई आजाद, न कोई मर्द है, न कोई औरत ईसा मसीह के लिए तुम सब एक हो।''[19]

**गुरुगोविन्द सिंह** ने भी मानव निर्मित इस विभेद को अनुचित बताया। उनके समय में अलग-अलग सम्प्रदायों का भेद तो था ही अकेले हिन्दू समाज में आज की ही भाँति कई खण्ड थे। समाज कई टुकड़ों में बँटा था और आपसी कटुता एवं द्वेष के कारण चारों ओर अशान्ति थी। उन्होंने भी मानव समाज के इस भ्रम को दूर करने के लिए कहा—

**''कोऊ भयो मुंडिया सन्यासी, कोऊ योगी भयो,**
**कोऊ ब्रह्मचारी, कोऊ जतियन मनबो,**
**हिन्दू तुरक कोऊ, राफ़जी, इमाम शाफ़ी,**
**मानस की जाति सबै इक्कै पहचान बो,**
**करता करीम सोई राजिक रहिम ओई,**
**दूसरा न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।''**

कोई अपने को मुंडिया कहता है, कोई संन्यासी, कोई योगी, कोई ब्रह्मचारी और कोई जति, कोई हिन्दू, कोई मुसलमान, कोई शफ़ी और कोई सुन्नी। यह सब भेद झूठे हैं। सभी मनुष्यों की जाति एक ही है। सबका एक ही ईश्वर है वही सबका कर्ता है, वही करीम, वही राज़िक (सबको रोज़ी देने वाला) है वही रहीम है। किसी का कोई अलग खुदा नहीं है। यह सब अन्तर मात्र भूल और भ्रम है। सबको उसी एक खुदा की सेवा और वन्दना करनी चाहिए। वही सबका गुरुदेव है।''

**गुरुनानक** ने तो हिन्दू और मुसलमानों में भेद डालने वालों को शैतान तक कह दिया। राम और रहीम का भेद करने वालों को उन्होंने बेईमान कहा—

**न हम हिन्दू न मूसलमान, दोनों बीच बसै शैतान,**
**तग्ग न हिन्दू पाइया, तग्ग न मूसलमान।**
**दावा राम-रहीम कर, लड़दे बेईमान।**

हम न हिन्दू हैं न मुसलमान, इन दोनों को गैरियत के शैतान ने बहका रक्खा है, इसीलिए न हिन्दू को रास्ता मिलता है न मुसलमान को। ये दोनों राम और रहीम को दो समझ कर लड़ते हैं। इन्हें एक खुदा पर ईमान नहीं है।

मानव-मानव के अन्दर धर्म और सम्प्रदाय का भेद उत्पन्न करने वालों ने समाज में साम्प्रदायिकता का ऐसा विष घोला है जिसका परिणाम बच्चों, वृद्धों, युवकों और युवतियों सभी को भुगतना पड़ रहा है। इसी विष का भयानक परिणाम आतंकवाद है जिसके उन्मूलन के लिए सम्पूर्ण विश्व चिन्तित है। इसके कारण मात्र शान्ति और समृद्धि का ही विनाश नहीं हो रहा वरन् सहस्त्रों की संख्या में एक साथ लोग घायल होते हैं और अकालमृत्यु की गोद में चले जाते हैं। ऐसे ही भ्रमित लोगों को सीख देने के लिए कदाचित् किसी **सूफी** ने कहा है-

**फ़कत तकावत है नाम ही का, दरअस्ल सब एक ही है यारों।**
**जो आबे साफ़ी की मौज में है, उसी का जलवा हुबाब में है॥**

ऐ दोस्तों! सिर्फ नाम का फरक है। असल में सब एक ही हैं जो साफ पानी लहर में दिखायी देता है उसी का जलवा हुबाब में है। दूसरे शब्दों में **कबीरदास जी** ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है—

**भाई रे! दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहो कौन भरमाया,**
**अल्लह, राम, करीमा, केशो, हरि, हजरत नाम धराया,**
**गहना एक कनक ते गहना इनि मँह भाव न दूजा,**
**कहन सुनन को दोउ कर थापिन, इक नमाज इक पूजा,**
**वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये,**
**को हिन्दू को तुरक कहावे, एक जिमीं पर रहिये।**

ऐ भाई! इस संसार में दो ईश्वर कहाँ से आये? कहो तुम्हें किसने भ्रमित किया है? अल्लह और राम, करीम और केशो, हरि और हजरत यह सब सिर्फ अलग-अलग नाम रख लिये गये हैं जैसे एक सोने के तरह-तरह के गहने गढ़ लिये जाते हैं। यह दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। कहने सुनने के लिये एक नमाज कहता है दूसरा उसी को पूजा कहता है। जो महादेव हैं वही मोहम्मद हैं, जो ब्रह्मा हैं वही आदम हैं। कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान दोनों एक ही ज़मीन पर रहते हैं। उन्होंने आगे कहा—

**हिन्दू कहें मोहे राम पियारा तुरुक कहें रहिमाना,**
**आपस में दोऊ लरि लरि मुए, मरम काहु नहीं जाना।**

हिन्दू कहते हैं हमारे प्यारे का नाम राम है, मुसलमान कहते हैं हमारे प्यारे का नाम रहमान है। दोनों आपस में लड़-लड़ के मर जाते हैं लेकिन वास्तविकता को कोई नहीं जान पाता।

सर्वविदित है कि सम्प्रति यदि सम्पूर्ण विश्व से साम्प्रदायिकता के विष-वृक्ष को समूल नष्ट कर दिया जाय तो मानव-जीवन में सुख समृद्धि एवं शान्ति की स्थापना अवश्य हो सकती है। आज का समाज विकास के जिस बिन्दु तक पहुँच चुका है वह मानव के भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अल्प नहीं है। आवश्यकता है तो अपने हृदयों के मध्य की दूरी को कम करने की। आवश्यकता है आपसी भेद-भाव और कटुता मिटाने की। हम सभी जानते हैं कि साम्प्रदायिक विभेद हमारी इस कटुता का बहुत बड़ा कारण है। यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि ये सभी धर्म या सम्प्रदाय ईश्वर द्वारा नहीं बनाये गये हैं। मानव ने स्वयं ही अपने को बाँट लिया है और यह विभाजन भी पूर्णतः अनुचित है। संक्षेप में सभी शास्त्रों, सद्ग्रन्थों और सद्गुरुओं का एक उद्देश्य था जनजीवन को सुखमय एवं शान्तिमय बनाना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न शास्त्रों और विभिन्न महापुरुषों ने अपने मतानुसार अलग-अलग नियम बनायें और अलग-अलग आध्यात्मिक विचारों का निरूपण किया। उन्हीं के संग्रह को धर्म की संज्ञा दी गई। यदि यह धर्म समाज एवं समय की आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित रूप भी ग्रहण करे तो भी उसी उद्देश्य की पूर्ति होगी। तृतीय विश्वयुद्ध की सीमा-रेखा पर खड़े विश्व को केवल 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही बचा सकती है यह सर्वविदित है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कोई सिद्धान्त नहीं है अपितु एक सार्वभौमिक अटल सत्य है। हम सभी चाहे आदम और ईसा की सन्तानें हों अथवा मनु और सतरूपा की। हैं तो भाई-भाई ही। जो थोड़े बहुत मतभेद हैं उनका मार्ग निकालकर 'अनेकता में एकता की स्थापना' ही कदाचित् वर्तमान परिप्रेक्ष्य में धर्म का यथार्थ स्वरूप होगा।

## संदर्भ सूची


1. धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा।
   यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।। (महाभारत, कर्ण पर्व, 109.58)
2. चाणक्य सूत्र अ0-1
3. रत्नखण्ड, श्रावकाचार- 12
4. मनुस्मृति 1-85
5. मनुस्मृति 7-86
6. मनुस्मृति 2-6
7. मनुस्मृति 2-12
8. याज्ञवल्क्यस्मृति
9. मनुस्मृति 10-63
10. मनुस्मृति 1-108
11. भ्दल्हु घ्ह्ग्ं 12.5.20
12. रिलीजन एण्ड सोसाइटी, पृ0 104
13. Schilpp Ed. The Philosophy of Radhakrishnan, p.-59
14. Radhakrishnan, occasinal speeches and writings, (1952-59), pp. 361-62
15. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ0 634
16. ऋग्वेद- 10/191/4
17. गीता 4-11
18. मोमीनून 3.51.54
19. गिलितियों के नाम खत


◆

# महिला कलाकार अर्पणा कौर का नारी के परिप्रेक्ष्य में चित्रण

*वन्दना तोमर* एवं प्रो० ए० के० सिंह***

अर्पणा कौर देश की जानी मानी समकालीन चित्रकार हैं जो भारतीय समकालीन कला में अपना खास स्थान रखती हैं। उनका जन्म 1954 में दिल्ली में हुआ था। उनकी माँ अजीत कौर पंजाबी साहित्य की प्रसिद्ध लेखिका हैं। उन्हें बचपन से ही खुले विचारों वाला माहौल मिला है, साथ ही संगीत, नृत्य, साहित्य और चित्रकारी का प्रशिक्षण भी। लेकिन अर्पणा ने चित्रकारी का रास्ता चुना। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से साहित्य में स्नातकोत्तर किया और इसी के साथ पेन्टिंग प्रदर्शनियों में भाग लेना शुरू कर दिया। उन पर पहाड़ी मिनिएचर ट्रेडिशन और लोक परम्परा का काफी प्रभाव है। दार्शनिक स्तर पर वे नानक, कबीर, बुद्ध, योगी-योगिनी और सूफी परम्परा से भी प्रभावित रही है। समय, जीवन, मृत्यु उनकी कलाकृतियों में मुखर है। इन्हें महिला होने की वजह से कला में बहुत संघर्ष करना पड़ा। उस समय महिला कलाकारों की स्थिति बिल्कुल ठीक नहीं थी। लोग समझते थे कि वह शौकिया पेन्टिंग करती हैं उन्हें घर परिवार तो चलाना नहीं है इसके माध्यम से। कला में समर्पित होकर थोड़े ही जीना है बाद में सबका भ्रम टूट गया। उस समय किशोरी कौल महिला चित्रकार के रूप में स्थापित थीं। वे उनके घर गयीं उनसे बहुत सारी जानकारियाँ लीं। इसके बाद उन्होंने शो किया। 1986 में त्रिनाले अवार्ड मिलने के बाद तो सारी धारणाएँ ढह गयी। 1994 में हिरोशिमा म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट से विश्वभर के दस कलाकारों का कमीशन हुआ तो उन्हें बुलाया गया। उनकी कलाकृति की कीमत सात लाख रूपये दी गयी, तो कला क्षेत्र में एक हवा बन गयी। उनका कहना है कि औरतों का संघर्ष लम्बा है। उन्हें दो-दो तलवारों पर चलना पड़ता है जिसकी धार बहुत तेज एवं नुकीली होती है। महिला कलाकारों का संघर्ष करना तलवार की धार पर चलना है। मैं खुशकिस्मत थी कि मेरे लिए तलवार की धार कमजोर पड़ गई या पलट गई।[1]

मानवीय मूल्यों और सम्बन्धों की याद दिलाते उनके चित्र इस दुनिया को सुन्दर बनाने की वकालत करते हैं। यही कारण है कि अर्पणा कौर के चित्र जिजीविषा के छन्द लगते हैं। उनके कैनवास पर पहाड़ है, फूलों की घाटियां हैं, झूमती प्रकृति है और कोई नाचता पुरुष है तो वह महज इसलिए नहीं कि ये सारी चीजें आँखों को लुभाती है। उन्होंने प्रकृति को एक मनुष्य की आँखों से देखा है और उनमें समाज के चेहरे पहचानने की कोशिश की है। इसीलिए अर्पणा की कला अक्सर कुछ कहती हुई जान पड़ती है, और रंगों के प्रयोग का अनूठा व्याकरण मिलता है।

वे बताती हैं—''पहले मेरे चित्र निजी डायरी के पन्नों की तरह हुआ करते थे। पर एक कैनवास से दूसरे कैनवास तक की यात्रा के बाद वे अपने आपको अधिक परिपक्व और समझदार पाती हूँ।''[2] बचपन में जब उनके दिलो-दिमाग में रंगों और रेखाओं की भाषा विकसित हो रही थी। उन्होंने एक माँ अकेली औरत को खुद के लिए लड़ते देखा था। वह औरत उनकी माँ थी आज वह जो कुछ भी है अपनी माँ की वजह से है। आज जब कला की दुनिया में कुछ अजूबा करके ऊल-जलूल हरकतों से प्रचार करने वाली प्रवृत्ति चरम पर है। अर्पणा कौर की आस्था को स्मृति और स्मृति को संवेदना में बदलने की पूरी प्रक्रिया एक खास अंदाज में अर्पणा कौर के यहाँ फिल्टर होती है। 1980-81 के आस-पास स्टारलेट रूम, बाजार आदि चित्र-शृंखलाओं में उन्होंने जहाँ एक आम भारतीय नारी के कई पक्षों की कलात्मक परिभाषा तय की, वहीं वर्ष 1983 की उनकी चित्र शृंखला में कलाप्रेमियों ने स्त्री-पुरुष संबंधों की एक नई व्याख्या को महसूस किया। 1984 के सिख विरोधी दंगे ने अर्पणा कौर को झकझोर कर रख दिया था। उनकी कला में आम आदमी के दुख-दर्द की जगह पाते हैं। अर्पणा कौर बाजार के सच को पहचानती हैं, पर कभी उन्होंने उन खरीददारों के लिए अपने कैनवास पर एक स्त्री को जगह नहीं दी, जिनके लिए औरत आज भी एक उपभोक्ता सामग्री से ज्यादा कुछ नहीं है। चर्चा में बना रहना शायद उन्हें पसन्द नहीं। जब इनकी नकल की हुई कलाकृतियाँ दिल्ली में बरामद हुई तो भीतर से आहत अर्पणा ने इतना ही कहा—''कला की दुनिया में नैतिकता न बची रहे तो फिर कला की परिभाषा बदलनी होगी।''[3]

अर्पणा कौर का काम महिलाओं-बुद्धिजीवियों और कलाकारों में उभरती उस चेतना का प्रतीक है, जो न केवल अपने व्यक्तित्व को खोजना चाहती है और समाज के साथ नई तरह से जुड़ना चाहती है बल्कि कला में नई संवेदनाओं का विकास भी करना चाहती है। इसका अनुभव उनकी आकृतिमूलकता, विषयवस्तु तथा चाक्षुष बिम्बों के संदर्भ में विशेष रूप से किया जा सकता है।

### अर्पणा कौर की कला

अर्पणा की कला हमारे समय, हमारे जीवन से सम्बन्धित है और उनकी कला में संदर्भ तथा सीमाएँ अपना स्वरूप बदलती रहती हैं जिससे नित विकसित नए यथार्थ का सामना किया जा सके। एक प्रतिष्ठा कला आलोचक के अनुसार ''उनकी कला में संभवतः मानव के अलावा और कुछ भी इतना पावन नहीं है, उनके बिम्ब सुरक्षा के टूटते उस घेरे के चारों तरफ घूमते हैं जिसे हमने ओढ़ा हुआ है।''[4]

अपनी अनेक चित्र-शृंखलाओं में अर्पणा ने बड़ी साफगोई से

* शोध छात्रा, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** डायरेक्टर, भारत कला भवन, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जीवन की स्थितियों, जो मुख्यतः महिलाओं की दशा तथा हमारे समाज में बढ़ती हिंसा से सम्बन्धित है, की अभिव्यक्ति की है। जैसे कि 'वुमन इन इंटीरिअर्स, वर्ल्ड गोज ऑन, गार्जिअन्स ऑफ लॉ, थ्रेट विडोज ऑफ वृंदावन' तथा अन्य चित्र श्रृंखलाएँ। उन्होंने सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं के बारे में भी अनेक वक्तव्य दिए हैं। क्योंकि वे मानव और उसकी दशा के बारे में सजग हैं, अतः उनकी पेन्टिंग भी मानव की कटु सच्चाइयों के बिम्ब हैं। उनके कुछ चित्र विषय, जैसे कि 'बाडी इज जस्ट ए गारमेंट' लेकिन दार्शनिक अधिक है। वह अपनी संरचनाओं का ढांचा, पहाड़ी लघु चित्रों की विशेषताओं का प्रयोग करते हुए निर्मित करती हैं—गोलाई लिए आकृतियाँ, वंकिम क्षितिज, पृष्ठभूमि का आकाश, पृथ्वी तथा जल में विभाजन। इनके अलावा वह चित्र धरातल पर कार्यकलापों के अनेक केन्द्र बना देती है, जो उनके अनेक विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। उनकी कृतियाँ विवेक दर्शकों को सौन्दर्य तथा दर्शन दोनों को खोजने का अवसर प्रदान करती हैं।[5]

अर्पणा कौर की कलाकृतियाँ हमें इसलिए भी प्रभावित करती हैं कि उसमें कहीं-कहीं मूर्तता का आभास होता है साथ ही रंगों का तालमेल एवं सपाट पृष्ठभूमि की अहम भूमिका हो जाती है। इस संदर्भ में उनका मानना है कि कला में अमूर्तता सदियों से है जो फिगरेटिव है वह तभी सफल हो सकता है जब उसमें अमूर्तता हो। भारत के विभिन्न भागों में सृजित होने वाली लोककलाएँ अमूर्त रूप में हैं। अमूर्तन तो लोक कलाओं में है। संकेतात्मकता एवं प्रतीकात्मकता कोई भारतीय लोककलाओं से सीखे उनके भीतर जब कला-चेतना आयी तो सबसे पहले उन्होंने देश की विभिन्न शैलियों का अध्ययन किया। वर्षों अध्ययन के बाद अमूर्तन रूप को समझा अर्पणा कौर ने मात्र नौ वर्ष की उम्र में एक कलाकृति बनायी जिसका शीर्षक था—''मदर एण्ड डाटर'' जो अमृता शेरगिल की कलाकृति से प्रभावित था। 1974 में पहली बार रोटरी क्लब द्वारा प्रदर्शनी हुई जिसमें चयनकर्ता हुसैन थे। इसके बाद जर्मन एम्बेसी द्वारा दिल्ली में एक ग्रुप शो किया। प्रदर्शनी में जे0 स्वामीनाथन और परमजीत सिंह के अलावा अर्पणा कौर और कई प्रतिष्ठित कलाकार थे वहाँ अर्पणा की चर्चा खूब हुई। 1975 में अर्पणा ने एकल प्रदर्शनी की जिसे काफी सराहा गया। तब से एक के बाद एक प्रदर्शनी जारी रही और आज तक अनवरत जारी है। देश के विभिन्न प्रतिष्ठित सम्मानों से अलंकृत अर्पणा की एक कलाकृति अक्टूबर 2010 में चीन में आयोजित होने वाली 'बीजिंग बिनाले' में प्रदर्शित हुई। पर्यावरण विषय पर बनी इस कलाकृति में एक महिला दीवारों से निकलकर खुले आसमान एवं पेड़-पौधों के बीच उड़ने की इच्छा रखती है। तमाम ख्वाब रचे महिला हमेशा-हमेशा के लिए प्रकृति की मनोहारी गोद में विचरण करना चाहती है। इस कलाकृति को लेकर अर्पणा काफी संवेदनशील नजर आती है। उनके अनुसार प्रकृति अपने आप में एक अनबूझ पहेली है।

1970 में नौकरानी विषय पर चित्र-श्रृंखला बनायी थी जिसके कुछ चित्रों को फैज अहमद ने 'लोटस' नामक मैगजीन में छापी थी। इसी तरह अम्ब्रेला सीरीज की कलाकृतियाँ सामाजिक असमानता पर केन्द्रित है, इसमें एक औरत छतरी के छाँव में चल रही है तो कुछ श्रमिक औरतों के चेहरे झुर्रीदार एवं सुखे हैं।[6]

36 साल पहले जब माया त्यागी काण्ड हुआ तो उस घटना ने अर्पणा को झकझोर दिया था फिर उन्होंने पेन्टिंग बनायी थी रक्षक ही भक्षक। उनका कहना है कि अब 36 साल पहले माया त्यागी काण्ड लगातार हो रहे हैं। दिल्ली में बस के अन्दर एक लड़की के साथ जो हुआ वह किसी संवेदनशील मन को बेचैन कर देने के लिए काफी है मैं भी विचलित हुई। उन्होंने गैंगरेप पर अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के मौके पर एक इंस्टालेशन बनाया- 'देल्ही बस'। इस तरह के चित्र चित्रित करके मन को थोड़ा सुकून मिलता है।

1974-1975 में 'शेल्टर्ड वुमन' छाता पकड़े एक हृष्ट-पुष्ट गौरी महिला को बड़ी ललक के साथ कई अन्य दुबली-पतली श्यामवर्ण की महिलाओं को निहारते हुए दिखाया था। उनमें से एक चित्र अभी चण्डीगढ़ म्यूजियम में है। उनके चित्रों में हमेशा मूर्तिकला की परम्परा, समृद्ध रंगों, खासतौर पर पंजाब हिल स्कूल के मिनिएचर पेन्टिंग की झलक दिखायी देती है। यह अकारण नहीं है। 1984 के नरसंहार के दौरान अर्पणा अपनी माँ के साथ राहत कैम्पों में काम कर रहीं थी। उस दौर में महसूस की गई पीड़ा को उन्होंने कैनवास पर जगह दी 'वर्ल्ड गॉज ऑन' सीरीज में उसी दर्द को उकेरा गया था, जिसे 1985 में इब्राहिम एलकाजी ने अपनी गैलरी में प्रदर्शित किया फिर मुम्बई तथा कोलकाता में भी प्रदर्शित किया गया। इतने बड़े पैमानों पर हुई मौतों के चित्रों में दिखाने के लिए पहली बार उन्होंने डूबती हुई आकृतियों को प्रतीकों के रूप में दिखाया इस तरह एक मानवीय त्रासदी को साधारण जीवन के बैकड्रॉप पर उकेरा गया था।

इसके अलावा वृंदावन में कंकाल बन चुकी हजारों विधवाओं को देखने के बाद 1988 में 'विडोज ऑफ वृंदावन' सीरीज बनायी थी। उस समय उन्हें प्रेम की नगरी एक मिथ सी लगी मन में सवाल उठा आखिर कहाँ थी गोपियाँ ? इसी तरह रात और दिन, जीवन और मृत्यु से जुड़े चित्र बनाए। लेकिन इन चित्रों में रात और दिन के मेल खाते तथ्य कहीं नहीं दिखते। इन चित्रों में प्रतीक के तौर पर पीले रंगों से एक महिला को कसीदाकारी करते हुए दिखाया गया है जिसे काली रात आकर काट रही है। यह उनका पसंदीदा विषय है क्योंकि यह काफी एब्सट्रैक्ट है। एक तरह से कला वक्त को बयां करने वाली होनी चाहिए। अमूर्त चित्रों में आध्यात्मिकता को भी अर्पणा ने खोजने की कोशिश की है।[7]

सोहनी का जन्म 500 साल पहले हुआ था। अर्पणा सोहनी की जिन्दगी से जुड़ी चनाब नदी में खड़ी थी। सोहनी की अपनी एक प्रेम कहानी है, लेकिन उनके लिए प्रत्येक महिला और पुरुष सोहनी है जो पानी में कूदने की हिम्मत रखते हैं, जो जोखिम उठा सकते हैं, वह सोहनी है। जो आसमान को छूना चाहती है वह सोहनी है। जो संघर्ष

करना चाहता है वह सोहनी है। 1997 में जब भारत आजादी के 50वीं वर्षगांठ मना रहा था, तो अर्पणा ने सोहनी पर चित्रों की एक सीरीज बनाई थी इसमें प्रवेश द्वार के फर्श पर बनायी गयी आभासी नदी के बीच असली घड़े रख दिये थे इनके बीच से होकर दर्शकों को जाना पड़ा था, जिससे वे खुद सोहनी को महसूस कर सकें। यहाँ घड़ा हर व्यक्ति या दुनिया का प्रतीक था। घड़ा मिट्टी है और अन्त में हमें मिट्टी में ही मिल जाना है। हिरोशिमा पर बमबारी के 50 वर्ष पूरे होने पर म्यूजियम ऑफ माडर्न आर्ट, हिरोशिमा ने उन्हें उस भीषण काण्ड पर एक बड़ा म्यूरल बनाने को कहा। एक अलग किस्म के दर्द को दीवारों पर उकेरते हुए वे रो पड़ी थी। पिछले 13 सालों के दौरान दिल्ली, बंगलूरू, जर्मनी और काठमांडू में पर्यावरण पर आधारित 8 नॉन कमर्शियल म्यूरल्स उन्होंने किये हैं।[8]

## अर्पणा कौर की नजर में कला

जीवन के तमाम अनुभवों, सपनों, आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कला रूप में होती है। जीवन अनुभव एवं दर्शन का निचोड़ कला है। उनमें एक कथा है। एक दर्शन है। सबसे बड़ी बात उसमें रहस्य है, रहस्य के तत्व हैं। कला में थोड़ा बोलना है थोड़ा चुप रहना है। यानि एक स्पेश भी चाहिए इसके साथ-साथ रंगों का एक ड्रामा है। हैरान कर देने वाली तासीर है एवं आकृति-संयोजन भी हैरान करने वाली होनी चाहिए। अन्ततः अन्तर्मन के अनुभवों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम कला है।[9]

21वीं सदी की महिला सिर्फ घर-गृहस्थी संभालने तक ही सीमित नहीं रही है बल्कि एक विशेष मुकाम हासिल कर वह हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुकी है। व्यावसायिक हो या साहित्य-सिनेमा या संगीत हो या सत्याग्रह या कलाकार, महिला ने यह साबित कर दिया है कि वह हर काम कर सकती है। जीवन के छह दशक से अधिक देख चुकी अर्पणा कौर ने जीवन के कई रंग देखे हैं। समकालीन चित्रकारों में जो समसामयिकता इनमें है, वह किसी में नहीं है। कूंची और रंगों का जब वह कैनवास पर उकेरती हैं तो हर कोई कायल हो जाता है।

इसके अलावा नारी सशक्तीकरण की प्रतीक 25 महिलाएँ लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड्स में आयी जिनमें से अर्पणा कौर भी एक हैं।[11]

अर्पणा कौर ने महिला के दुख-दर्द को अपने कैनवास पर उतारा जिससे महिलाओं का दर्द लोगों की नजरों के सामने कुछ हद तक आ सके। क्योंकि समाज में महिला को बहुत से मुद्दे झकझोरते हैं। अतः भारतीय कला में इनका खास स्थान है।

## सन्दर्भ


1. जोशी, ज्योतिष (2008). समकालीन कला, अंक 35. दिल्ली कला अकादमी, पृष्ठ सं0 140
2. Posted by Pritima Vats, 2003. http://artistarpanacaur.blogpot.in/2010/0/blog-post_html.
3. http://artistarpanacaur.blogpot.in///blogpost_html.
4. मागों, प्राणनाथ (2006). भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य इंडिया. नेशनल बुक ट्रस्ट. पृष्ठ सं0 179
5. वही, पृष्ठ सं0 180
6. मिश्र, अवधेश (अक्टूबर 2011). कला दीर्घा. अंक 23. लखनऊ उत्कर्ष प्रतिष्ठान. पृष्ठ सं0 2 http://wyaktichitraparait.blogspot.in/2012/02/blogpost.html.
7. http://www.amarujala.com/columns/opinion/except-to-be_women-also-other-problems.
8. http://www.amarujala.com/columns/opinion/except-to-be_women-also-other-problems.
9. जोशी, ज्योतिष (2008). समकालीन कला, अंक 35. दिल्ली कला अकादमी, पृष्ठ सं0 42-43
10. http://www.greheakshmi.com/print/article/grehlakshin
11. http://shabdshikhar.blogspot.in2014/03/25html. Saturday 8 March 2014. शब्द शिखर


◆

# आंचलिक कहानियों की भावभूमि

*डॉ0 सुजीत कुमार सिंह* *

''साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रगट कर देती है, और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।''[1] ऐसी ही भावभूमि के अनगिनत क्षेत्र आंचलिक कहानियों में देखने को मिलते हैं जिनसे हमारी कोमल और पवित्र भावनाएं प्रोत्साहित होती हैं। हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिक कहानियों की शुरूआत अक्टूबर 1951 के 'प्रतीक' में छपी शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'दादी माँ' से मानी जा सकती है। इसके बाद हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिक कहानियाँ लिखने की एक परम्परा सी चल पड़ी। इस परम्परा में फणीश्वरनाथ रेणु, शैलेश मटियानी, रामदरश मिश्र, हिमांशु जोशी, मार्कण्डेय, शेखर-जोशी, शानी, केशव प्रसाद मिश्र, विजयदान देथा, रांगेय राघव तथा विवेकी राय जैसे अनेक कहानीकार उभरकर सामने आये। रेणु सिर्फ सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार ही नहीं बल्कि अप्रतिम आंचलिक कहानीकार भी हैं। उनकी ज्यादातर कहानियाँ आंचलिकता के सांस्कृतिक तत्वों से ओत-प्रोत हैं जिसमें 'पूर्णिया' अंचल की लोक-संस्कृति अपनी तमाम विशेषताओं के साथ मौजूद है। 'ठुमरी', 'रसप्रिया' तथा 'लालपान की बेगम' आदि उनकी प्रमुख आंचलिक कहानियाँ हैं।

हिमांशु जोशी की आंचलिक कहानियों का आधार पर्वतांचल है जिसकी लोक-संस्कृति को उनकी 'अन्ततः', 'तरपन', 'सीमा से कुछ और आगे', 'रथचक्र' तथा 'हरे सूरज का देश' आदि कहानियाँ बखूबी बयाँ करती हैं। विशुद्ध आँचलिक परिवेश की सृष्टि करने में मटियानी जी भी सिद्धहस्त हैं वे भी एक ऐसे ही आंचलिक कहानीकार हैं जिनका लगाव अपने पर्वतांचल से है। उनकी आंचलिक कहानियों में अल्मोड़ा तथा कुमाऊँ के पर्वतीय अंचल की लोक-संस्कृति अपनी विविधता के साथ मौजूद है जिसके विविध रंग उनकी आंचलिक कहानियों 'कठफोड़वा', 'कालिका अवतार', 'काला कौआ' तथा 'पोस्टमैन' आदि में दिखाई देता है। इसी प्रकार शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार', 'दाज्यू' तथा 'व्यतीत' आदि कहानियों में पर्वतांचल की अभावभरी जिन्दगी एवं वहाँ की संस्कृति का जानदार अंकन देखने को मिलता है।

राजेन्द्र अवस्थी तथा शानी की आंचलिक कहानियों का परिवेश बस्तर के आदिवासी क्षेत्र से जुड़ा है जिसका परिचय हमें राजेन्द्र अवस्थी की, 'एक प्यास पहेली', 'लाल झंडा' तथा 'कौए के पीछे बैलगाड़ी' और शानी की, 'बबूल की छाँव', 'छोटे घेरे का विद्रोह' तथा 'डाली नहीं फूलती' आदि कहानियों से प्राप्त होता है।

पूर्वांचल के ग्रामीण परिवेश को अपने कहानियों के केन्द्र में रखकर लिखने वाले प्रमुख आंचलिक कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र तथा विवेकी राय आदि प्रमुख हैं। एक ओर जहाँ शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार', 'बरगद का पेड़', 'उपधाइन मैया', मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला' तथा 'पान-फूल', रामदरश मिश्र की 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'खण्डहर की आवाज', 'मंगल-यात्रा' तथा विवेकी राय की 'अतिथि', 'गूँगा जहाज' तथा 'रामलीला' आदि कहानियाँ उत्तर प्रदेश के ग्रामांचल की लोक-संस्कृति को संजीदगी के साथ बयाँ करती हैं तो वहीं दूसरी ओर विजयदान देथा की 'उजाले के मुसाहिब', 'जाप की महिमा' तथा 'अपनी-अपनी खोल' आदि कहानियों में हमें राजस्थानी ग्रामांचलों की लोक-संस्कृति दिखाई देती है।

इन आंचलिक कहानियों में रक्त संबंधों की संवेदना का मार्मिक अंकन हुआ है, जिसकी झलक हमें 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'तरपन' तथा 'काला कौवा' आदि कहानियों में दिखाई देती है। 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' रामदरश मिश्र की प्रमुख आंचलिक कहानी है, जिसमें मानवीय जीवन के कारूणिक संदर्भ भरे पड़े हैं। माँ की मृत्यु के बाद बेटा घर आता है और घर आने के बाद जब ''बुआजी लोटे का पानी लिए निकलीं तो मैं धक्क से रह गया। लगा, माँ लोटे का पानी लिए निकली हो। मन एकाएक कितनी स्मृतियों से भर उठा, कितनी यात्राओं की वापसी और लोटे का जल लिए माँ का निकलना...।''[2]... ''तुम्हारी माँ तुम्हें देखने को तड़पती रह गई। उसकी आँखों में अंतिम दम तक जैसे एक ही प्यास थी-तुम्हें देखने की। तुम समय से न आ सके।'' .... ''मेरे भीतर एक हूल-सी मारने लगी। माँ की तरल निरीह आँखें मुझमें भर आईं। मैं भीतर-भीतर गलने लगा। मेरे रक्त में बचपन से लेकर अब तक का समय बहने लगा-हर पल में, हर मोड़ पर, हर व्यथा में माँ हर संघर्ष में माँ.....। जबसे शहर में रहने लगा, माँ अकेली छूट गई... पिताजी के साथ। मैं इकलौती संतान परिवार के साथ शहर में।''[3].... '' तुम्हें मरते समय देख नहीं पाऊँगी।'' हर बार घर जाने पर माँ कहती और हर बार मेरे लौटने से पहले बेचैन हो उठती। मैं हँसी में टाल देता। माँ और भारी हो आती।''[4].... ''घंटो बीत गए, नींद नहीं आई। चौक पड़ा-पिताजी शायद रो रहे थे। मैंने सो जाने का बहाना किया, इसलिए उनके रोने में कोई विघ्न नहीं पड़ा। हबसते रहे, उनका दर्द बहता रहा और मैं अपने दर्द को भीतर दबाए मुँह कसे रहा। लगा कि मैं भी रो पड़ूँगा, लेकिन अपने दर्द को पकड़े रखा और मेरी व्यथा भीतर ही भीतर जमती गई।''[5]

* पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ऐसी ही भावभूमि की आंचलिक कहानी है—'तरपन'। इसमें पति के मर जाने के बाद पत्नी मधुलि को उसके तरपन के लिए दर-दर की ठोकरे खानी पड़ती है, परन्तु फिर भी वह पारंपरिक तरीके से अपने पति का तरपन नहीं कर पाती। जिसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन हिमांशु जोशी ने किया है। बहकी-बहकी मधुलि बोली, ''समझो कि भीख चाहिए! आज 'उनका' तरपन है। दिन छिपने को हो आया है। अभी तक भी पिंडदान नहीं हुआ। देर-सबेर तुम्हारे पैसे लौटा दूँगी, पाई-पाई करके। तुम्हारे खेतों में काम कर दूँगी। कहो तो घास-लकड़ी घर पर डाल जाऊँगी। ऐसे भी नहीं चुकेंगे तो अपने बच्चों को हुड़कियों के हाथ बेच दूँगी, लेकिन तुम्हारा उधार माथे पर धरकर नहीं मरूँगी। यह लोक तो बिगड़ा सो बिगड़ा ही, क्या परलोक भी बिगाड़ूँगी। उनका पिंडदान करवा दो। तरपन करवा दो आज! उमर-भर अहसान नहीं भूलूँगी। कहते-कहते मधुलि की बड़ी-बड़ी आँखे भर आईं। पगली-सी धुन में वह कहे जा रही थी। किसी भी कीमत पर 'ना' सुनने से पहले गले में पत्थर बाँधकर डूब मरने को तैयार थी।''[6] पति के तरपन के लिए मधुलि को न जाने कितने घरों से खाली हाँथ लौटना पड़ा, न जाने कितने लोगों ने उसे भला-बुरा कहा और उसके चरित्र पर अँगुलि उठाई, ''अरे, अँधेर हो गया! अँधेर! कैसी कलजुगी औरत है। डाइन ने जौ-तिल भी नहीं बहाए। पिंडदान तो दूर रहा। .... तुझे पता नहीं, हरपतिया! तू नही जानता तिरिया चरित। कहते हैं डंकन ने अपने आप फूँक मारकर दिया बुझा दिया था। कुलच्छना किसी के साथ लगी होगी। फिर क्यों बहाने लगी कुश-तिल!''[7] और अन्ततोगत्वा जब मधुलि को पति के तरपन के लिए उधार के रूप में कुछ नहीं मिल पाता तो वह प्रतीक के रूप में मिट्टी का ही पिंडदान और गऊदान करती है- ''काली अमावस-सी रात घिर आई थी। साँय-साँय कर बर्फीली झ्रंडी हवा शरीर को छीलती हुई तेजी से सनसना रही थी। घरघराती गोरी-गंगा नागिन की तरह झाग उगलती, फनफनाती, मनमनाती भागी जा रही थी-खड़िया की सफेद चट्टानों पर उछलती-उमड़ती। उसके श्मशान-से डरावने तट पर मधुलि खड़ी थी। अपनी नन्ही-नन्हीं अंजुलि में पानी भरे तीन अनाथ, अबोध नंगे बच्चे खड़े थे। सूखे तिनके की तरह जाड़े से काँपते हुए-आँखें मींचे डूबे सूरज को जलधार चढ़ा रहे थे। तरपन कर रहे थे। माटी का पिंडदान दे रहे थे। माटी की गऊ की पूँछ थामे गोदान कर रहे थे।''[8]

इसी प्रकार 'काला कौवा' भी रक्त सम्बन्धों की भाव-भूमि पर रची गयी कहानी है। इसमें शैलेश मटियानी ने भाई-बहन के आत्मिक रिश्ते का संवेदनात्मक वर्णन किया है। भाई है गोपिया जिसकी बहन है कुंती। दोनों एक दूसरे को बहुत प्रेम करते हैं। बचपन में ही गोपिया की माँ मर जाती है लेकिन वह मरने से पहले ही गोपिया की जिम्मेदारी कुंती के कंधों पर दे जाती है जिसे कुंती बखूबी निभाती है-''गोपिया का सिर खुजाता है, तो चुलमुलाता कुंती के पास आ जाता है। चारों तरफ सावधानी से देखकर एकांत पाते ही पिल्लों की तरह कूँकता कुंती के आँचल में सिर टिका देता है। कुंती ममता से मिठिया जाती है। उसके सिर को बायें घुटने पर ठीक से टिकाते हुए, बंदरिया का सा ध्यान साधते हुए जूँ बीनती है। अँगूठों के नाखूनों के सिरे मिलाकर 'अँ' कहते हुए, ठूँग मारती है, तो गोपिया थोड़ी ही देर बाद गोद में सिर रखे-रखे ही निंदिया जाता है।''[9] यही नहीं जब कुंती की शादी होने को होती है तो वह अपने काका और ससुराल वालों के सामने गोपिया को अपने साथ ले जाने की शर्त तक रखती है। कुंती गहरे आग्रह में बोली-''काका, बिना बोले मेरा दुःख घटने वाला नहीं। तुम्हारी मुट्ठी की चीज हूँ, जिसे सौंप दोगे, उसी के साथ जाना होगा, मगर मेरा गोपू भी मेरे साथ ही रहेगा। देसवालों से पूछ लीजिए कि मेरी बात निभायेंगे या नहीं। नहीं तो मैं परदेश को हर्गिज विदा नहीं होऊँगी, परलोक को विदा भले ही हो जाऊँ।''[10] और इस तरह विवश होकर कुंती के ससुराल वालों को उसकी शर्त माननी पड़ती है, लेकिन जब गोपिया देखता है कि उसकी वजह से बहन कुंती को उसके ससुराल वाले प्रतिदिन खरी-खोटी सुनाते रहते हैं तो अपनी बहन की इज्जत के खातिर एक दिन गोपिया एक मार्मिक खत छोड़कर वहाँ से चला जाता है। उस खत में लिखा था—''दिदी, अपना दुःख तो झेल लेता, तेरी आँखों का पानी ज्यादा गलता। मुख सामने रहूँगा, तो तू तड़फ-तड़फ मर जायेगी। एक माँ तो छोड़कर चली गई, दूसरी को खुद छोड़ना पड़ रहा। सब अभागे माथे का लेख ठहरा, दिदी! तू मुझे बिसर जाना। सोच लेना, पहाड़ का एक पंछी आया, उड़कर चला गया। अलमोड़ा लौटकर क्या करूँगा अब? दिल्ली जाने का इरादा करता हूँ। सुना, वहाँ पहाड़ी छोकरों को घरेलू नौकरी मिल जाती। कभी दिन फिरे, तुझे भेंटने लायक हो सका, तो तेरी देली मत्था टेकने आऊँगा जरुर। उसी दिन की बाट देखना और अपनी आँखों के आँसू पोंछ लेना। ...तेरा अभागा भाई गोपिया।''[11]

यही नहीं आंचलिक कहानियाँ भाव-भूमि के स्तर पर रुढ़िवादी मानसिकता को तोड़ती हैं और प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना के साथ-साथ सच्चे प्रेम की मर्यादा एवं महत्व को भी बनाये रखती हैं। इस संदर्भ में 'हंसा जाई अकेला' तथा 'कर्मनाशा की हार' जैसी कहानियाँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। 'कर्मनाशा की हार' शिवप्रसाद सिंह की एक महत्त्वपूर्ण आंचलिक कहानी है जिसमें कर्मनाशा नदी के बाढ़ को समाप्त करने के पीछे गाँव के लोगों में रूढ़िवादी मानसिकता बनी हुई थी कि जब तक इसमें बलि नहीं दी जाएगी, तब तक बाढ़ समाप्त नहीं होगा। लेकिन इस रूढ़िवादी मानसिकता को तोड़ते हुए भैरों पाड़े ने एक प्रगतिशील विचारधारा का परिचय दिया तथा संवर्द्धित मूल्यों की रक्षा की-''एक बीभत्स सन्नाटा। पांड़े ने आकाश की ओर देखा, आगे बढ़े, फुलमत भय से चिल्ला उठी। पांड़े ने बच्चे को उसकी गोद से छीन लिया, मेरी राय पूछते हो मुखिया जी? तो सुनो, कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बाँधों को ठीक करना होगा। ...कुलदीप कायर हो

सकता है, वह अपने बहू-बच्चे को छोड़कर भाग सकता है, किन्तु मैं कायर नहीं हूँ, मेरे जीते जी बच्चे और उसकी माँ का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता..... समझे। ... लोग अवाक् पांड़े की ओर देख रहे थे, जो अपने कंधे से छोटे बच्चे को चिपकाए अपनी बैसाखी के सहारे खड़े थे, पत्थर की विशाल मूर्ति की तरह उन्नत, प्रशस्त, अटल।.... जिन उद्धत लहरों की चपेट से बड़े-बड़े विशाल पीपल के पेड़ धाराशायी हो गये थे, वे एक टूटे नीम के पेड़ से टकरा रही थी, सूखी जड़े जैसे सख्त चट्टान की तरह अडिग थीं, लहरें टूट-टूट कर पछाड़ खाकर गिर रही थीं। शिथिल.... थकीं.... पराजित...।''[12] इसी प्रकार 'हंसा जाई अकेला' मार्कण्डेय की एक महत्वपूर्ण आंचलिक कहानी है। इसमें कहानीकार ने सामाजिक रूढ़िवादी मानसिकता तथा रानजीति के अवसरवाद को पूरी प्रमाणिकता के साथ उभारा है तथा हंसा और सुशीला के प्रेम-संबंध को बड़ी जीवंत चित्रमयता के साथ चित्रित किया है—''सुशीला जी बीमार पड़ गयी। हंसा के घर में उनका डेरा पड़ा था। वह बुखार की जलन सह रही थीं, पर किसी को अपने पास बैठने नहीं देती थीं। रात जब हंसा लौटता, तो वह उससे कहतीं, ''तुम सुनाओ अपना भजना'' और हंसा बिना कुछ सोचे-विचारे गाने लगता। 'हंसाजाई अकेला, ई देहिया ना रही..' फिर प्रचार का समाचार लेकर, वह उसके रोयें भरे सीने में मुँह छिपा लेतीं।'' अन्त में एक दिन जब सुशीला जी की साँस बन्द हो जाती है तो हंसा को गहरा सदमा पहुँचता है और वह घंटो हँसता रहता है..., ''उसके खेत में घास उगी है। मकान ढह गया है। पर लग्गी में फटहा तिरंगा और सुशीला का दिया हुआ बिगुल अब भी टँगा रहता हैं।''...[13]

अंचल विशेष की लोक-संस्कृति को वर्णित करना भी आंचलिक कहानियों की भावभूमि का महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। इस लोक-संस्कृति में स्थानीय बोली तथा लोक-संस्कारों का बड़ा महत्व है। जिसे बखूबी बया करती है- शैलेश मटियानी की कहानी 'पोस्टमैन' तथा शेखर जोशी की कहानी 'दाज्यू'। 'पोस्टमैन' कहानी में पर्वतांचल की स्थानीय बोली का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन हुआ है—''ससती सिरी सरबोपमा पूज्य पिताजी का पाँव पकड़ी, पैलागन बार-बार कबूल हो और आशीर्वाद चिरंजीवी रहे। ऐसे ही काका जमनासिंह ज्यू व दाज्यू खड़कसिंह को भी बार-बार पैलागन पहुँचे। नाना-तिनान के सिर पर हाथ धर के आसीरवाद पहुँचे। पटवारी सैप को मेरी दोनों हाथ जोड़ी 'जैहिंद' पहुँचा देना। खेती-बारी की, गाँव-पट्टी की समस्त आदर-कुशल भेजना।... छोटे भाई आनन्द सिंह को मेरे हाथ की सिरधरी आसीरवाद पहुँचे- उसकी शादी की कोशिश करना। जाति-पांति को बहुत भेद क्या करना। भगवान की सिरिस्टी तक सरीखी हुई।... आजकल यहाँ सरदी का मौसम। बहुत गिर रही बरफ। .... बाकी क्या लिखूँ, आप खुद समझदार हुए। छुट्टी पर साल-भर बाद आऊँगा। व्वारियों को घाघरे-पिछौड़े बनवा लेना। माताजी और अपने लिए अलमोड़ा से तमाकू की असली पिंडी मँगवा लेना और आते नौर्तों में गोल्ल देवता के मंदिर में मेरे नाम के दो बोकिए ठोंक देना। यहाँ कुशल अच्छी है। तहाँ कुशल परमपिता परमेश्वर से नेक चाहता हूँ। चरणतल आसीस पावे.... आपका बेटा वही।''[14] इसी स्थानीय बोली ने एक ही क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले दो लोगों को मिलाकर उनके बीच से एकाकीपन को दूर किया, जिसका मार्मिक वर्णन हुआ है शेखर जोशी की आंचलिक कहानी 'दाज्यू' में। इस कहानी में पर्वतांचल के एक ही क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले दो लोगों (जगदीश बाबू और मदन) का जब एक दूसरे से परिचय होता है तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता-''जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गई और जब उन्होंने मुस्करा कर मदन को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती गाँव.... के रहने वाले हैं तो लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से 'ट्रे' गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलना चाह कर भी न निकल सके। खोया-खोया सा वह मानो अपने अतीत को फिर लौट-लौट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो। ....अतीत-गाँव-ऊँची पहाड़ियाँ.... नदी...ईजा (माँ) ...बाबा...दीदी.... भुलि (छोटी बहन)... दाज्यू (बड़ा भाई)....! मदन को जगदीश बाबू के रूप में किसकी छाया निकट जान पड़ीं! ईजा?-नहीं, बाबा?- नहीं, दीदी,...भुलि?- नहीं, दाज्यू? हाँ, दाज्यू!.... दो-चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच की अजनबीपन की खाई दूर हो गई। टेबल पर बैठते ही मदन का स्वर सुनाई देता-दाज्यू, जैहिन्द....।''[15]

इसी प्रकार ऊब और घुटन भरी जिंदगी से छुटकारा पाना भी आंचलिक कहानियों की भाव भूमि का संवेदनात्मक स्वर है, जिसका सजीव वर्णन किया है विजयदान देथा ने अपनी आंचलिक कहानी 'उजाले के मुसाहिब' में। इस कहानी में बनजारन अपने पति के गले में बाँह डालते हुए बोलती है- ''मैं तो पिछले बरस से क्या सोते और क्या जागते एक ही सपना देख रही हूँ कि खेती के लिए हमारे पास खूब जमीन हो। मवेशियों के लिए अलग से बाड़ा हो। पास ही लिपा-पुता अपना घर हो। माँडनों से उकेरा हुआ आँगन हो। आँगन के बीच पीढ़े पर बैठकर मैं झमरक-झमरक बिलौना करूँ! सोगरे पर तुम्हें मक्खन परोसूँ। पोते-पोतियों, दुहते-दुहितियों के होठों पर मक्खन चिपका हो। छछवारियाँ छाछ लेने के लिए खड़ी हों। आँगन की एक बाजू ठण्डी मटकियों का परिण्डा हो। चूल्हें में दबी राख से हलका-हलका धुआँ निकल रहा हो। लगता है इस जीवन में यह आस फलने से रही! यों ही घूमते-घूमते अजाने मसान में जलने के बाद हमारी मुट्ठी राख भी नहीं बचेगी?''[16]

इस प्रकार आंचलिक कहानियों के माध्यम से हमारा साक्षात्कार ग्रामांचल, पर्वतांचल एवं आदिवासी क्षेत्र के उस लोकजीवन एवं लोक-संस्कृति से होता है, जिसे उपेक्षित और अछूता समझकर छोड़ दिया गया था। वर्तमान में जब आदमी के यंत्रवत होते जाने की प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है, रिश्तों की गरमाहट खत्म होती जा रही है, लोक-संस्कृति का तेजी से पतन होता जा रहा है तथा आदमी ऊब और घुटन भरी

जिंदगी से छुटकारा पाकर एक नई जिंदगी जीने के लिए लालायित है, ऐसे में आंचलिक कहानियों की भाव-भूमि तथा अंचलों की आत्मीयता मानव जीवन में एक सौन्दर्यबोध की दृष्टि पैदा करती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. 'कुछ विचार'- प्रेमचन्द, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2013, पृ0 44
2. प्रतिनिधि कहानियाँ- 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', रामदरश मिश्र, किताबघर प्रकाशन, संस्करण-2007, पृ0 44
3. वही, पृ0 44
4. वही, पृ0 44
5. वही, पृ0 48
6. श्रेष्ठ कहानियाँ- 'तरपन', हिमांशु जोशी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ0 175-76
7. वही, पृ0 180
8. वही, पृ0 180-81
9. काला कौवा, शैलेश मटियानी, विभोर प्रकाशन, 49 बी0 हेस्टिंग रोड, इलाहाबाद, संस्करण 1996, पृ0 160-61
10. वही, पृ0 166
11. वही, पृ0 167-68
12. निबन्ध एवं कहानियां- (संपा0 डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी), कर्मनाशा की हार- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2014, पृ0 80
13. मार्कण्डेय की कहानियां-हंसा जाई अकेला, मार्कण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010, पृ0 220-21
14. पोस्टमैन- शैलेश मटियानी, विभोर प्रकाशन, 49 बी0 हेस्टिंग रोड, इलाहाबाद, संस्करण 1996, पृ0 204-05
15. दाज्यू- शेखर जोशी, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2011, पृ0 53
16. उजाले के मुसाहिब- 'जाप की महिमा', विजयदान देथा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण, 2006, पृ0 108-09


◆

# अजंता की गुफाएँ एवं ''मार-विजय'' का चित्रण

*सत्य प्रकाश* एवं डॉ0 गौतम कुमार लामा***

भारत में बौद्ध गुहा मंदिर निर्माण की परम्परा काफी प्राचीन रही है। विभिन्न कालो में राजाओं ने बौद्ध भिक्षुओं के निवास एवं साधना हेतु इन गुफाओं का निर्माण करवाया। यह ध्यान रखा गया कि चट्टानों को खोद कर बनायी गयी ये गुफाएँ आबादी के शोरगुल से थोड़ी दूरी पर हों। पूर्वी भारत की चट्टानें इस निमित्त अनुपयोंगी थी क्योंकि वे मृण आधारित थी। ठोस चट्टानों की तलाश में सर्वप्रथम अशोक ने ''गया'' जिले की ''बराबर पहाड़ी'' में गुफाएँ खुदवायी और आजीवक सम्प्रदाय को दान स्वरूप प्रदान किया। अशोक के प्रौत्र दशरथ ने भी परम्परा का र्निवहन करते हुए ''गया'' जिलें की नागार्जुनी पहाड़ीं में आजीवका के लिए गुफाएँ खुदवायी। शुंग काल में पश्चिमी भारत की सहयाद्रि पर्वतमाला एवम् पूर्वी उड़ीसा में अनेक गुफाएँ खुदवायी गयी। सातवाहन एवम् शक-क्षत्रपो के काल में भी गुहा-निर्माण की पक्रिया जारी रही। सातवाहन नरेश कृष्ण, वशिष्ठीपुत्र सोमदेव, नहपान के जमाता ऋषभदत्त, खारवेल आदि उल्लेखनीय राजाओं के राजत्व काल में अनेको गुफाओं का निर्माण हुआ, जिसमें से कुछ का संबंध जैन धर्म से भी है।

गुहा को संस्कृत में ''लयणम'' तथा प्राकृत में ''लेण'' कहा जाता है। कालान्तर में बौद्ध गुफाएँ विहार एवम् चैत्य के रूप में परिवर्तित हो गयी। अभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर पश्चिम भारत में निर्मित गुंहाओ की तिथि द्वितीय शताब्दी ईस्वी निर्धारित की गयी है। कालक्रम में विभिन्न गुफाओं में स्तूप, बुद्ध एवं बोधिसत्व की प्रतिमाओं की स्थापना के साथ-साथ भित्ति चित्रों का भी निर्माण हुआ। बौद्ध धर्म को अंगीकार करने के बाद विभिन्न क्षेत्रों में अशोक ने धर्म प्रचारार्थ अपने धर्मदूतो को भेजा था। इस क्रम में महाराष्ट्र में ''महाधम्मरक्खित'' को भेजा गया। इससे स्पष्ट होता है कि महाराष्ट्र के क्षेत्रो में तृतीय शताब्दी ई0पू0 ही बौद्ध धर्म का प्रवेश हो चुका था।

## ऐतिहासिक विवरण

महाराष्ट्र पर सातवाहन, वाकाटक, कलचुरी, चालुक्य तथा यादव राजवंशो ने शासन किया। मुम्बई पुर्नगठन अधिनियम 1960 के अर्न्तगत 1 मई 1960 को इस सम्मिलित प्रान्त को महाराष्ट्र तथा गुजरात नामक दो पृथक राज्यों में बांट दिया गया। पुरानी मुम्बई नये महाराष्ट्र की राजधानी बन गयी।

अशोक काल से ही बौद्ध धर्म महाराष्ट्र में लोकप्रिय हो गया था। पश्चिमी महाराष्ट्र के सहयाद्रिपर्वत में अनेक बौद्ध गुफाएँ पाई जाती है, जिनमें कहीं-कहीं चित्रकारी भी की गई है। चट्टानों को काटकर गुफाएं बनाने की स्थापत्य-कला के लिए महाराष्ट्र के बौद्ध गुहा मन्दिर प्रसिद्ध हैं। प्रमुख गुहा-मंदिर है—अंजता, एलोरा, भाजा, कार्ले, नासिक, वेदसा, कन्हेरी, औरंगाबाद, अम्बीवले, जुन्नार, पितलखोरा, कोण्डाने, कोण्डीवटे तथा महाकाली (1956:193)[1]।

महाराष्ट्र में अनेक चैत्यगृहों का निर्माण हुआ। कालक्रम की दृष्टि से इन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—हीनयानी तथा महायानी। हीनयान मत में बुद्ध की मूर्ति नही बनती थी तथा प्रतीको के माध्यम से ही उन्हें व्यक्त कर पूजा जाता था। इस दृष्टि से गुफा में स्तूप को स्थापित कर उसकी पूजा होती थी। हीनयान धर्म से संबंधित प्रमुख चैत्यगृह है—भाजा, कोण्डाने, पितलखोरा, अजंता (नवीं-दसवीं गुफा), वेदसा, नासिक तथा कार्ले। इनमें किसी प्रकार का अलंकरण अथवा मूर्ति नहीं मिलती तथा साधारणतया स्तूप ही स्थापित किया गया है। इनका समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक निर्धारित किया जाता है। अधिकांश चैत्यगृहों में विहार भी साथ-साथ बनाये गये है। सातवाहनयुगीन गुफायें हीनयान मत से संबंधित है क्योंकि इस समय तक महायान का उदय नहीं हुआ था। अतः उनमें कही भी बुद्ध की प्रतिमा नहीं पायी जाती तथा उनका अंकन पादुका, आसन, स्तूप, बोधिवृक्ष आदि के माध्यम से ही किया गया है (2012:315)[2]।

## अजंता की गुफाएं

एक प्राचीन ग्रन्थ 'महामयूरी' में 'अजितञ्जेय' नामक स्थान का संदर्भ है। गुफाओं से कुछ किलोमीटर दूर पर 'अजिष्ठा' नामक ग्राम है, जिसका मूल उच्चारण 'अजिस्ठा' है। इसी नाम के आधार पर ही वर्तमान में 'अंजता' व्यवहार में आने लगा और हिन्दी उच्चारण में इसे अंजता पुकारा जाने लगा । अजंता का सन्दर्भ एक और रूप में भी है मैत्रेय बुद्ध (भविष्य में अवतरित होने वाले बुद्ध) को 'आजित' कहा जाता है। अतः बौद्ध धर्म से संबंधित गुफाओं का अंजता नाम उचित प्रतीत होता है (चित्र–1a,1b)।

## गुफाओं की स्थिति

अंजता में तीस गुफा मंदिर पहाड़ियों को काटकर बनाये गये है। विश्वप्रसिद्ध गुफाएं फरदारपुर ग्राम से साढ़े छः किलोमीटर दूर है। यह ग्राम महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले से एक सौ एक किलोमीटर दूर है और मध्य रेलवे के जलगाँव स्टेशन से पचपन किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है। अंजता की गुफाएँ हरिश्रृंगार से आच्छादित मनोंरम

* शोधछात्र, यू0जी0सी0 नेट/जे0आर0एफ0, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, बी0एच0यू0, वाराणसी।

** एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, बी0एच0यू0, वाराणसी।

नीरव एकाकी घाटी में स्थित है। सतपुड़ा से क्रमशः सात कुण्डों में गिरती हुई बाघोरा नदी पहाड़ियों को काटती व उसके पैरों में साँप सी लोटती हुई कमान की तरह मुड़ गयी है। इस नदी के घुमाव से घाटी का रूप अर्धचन्द्रकार बन गया है। इसके बायीं या उत्तर की ओर से एक मोड़ पर लगभग दो सौ पचास फुट ऊँची पहाड़ी खड़ी है और इसी पहाड़ी में एक अर्धचन्द्राकार पर्वत में ये गुफाएँ काटकर बनाई गई है। इसी शान्त और नीरवता के वातावरण को देखकर बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी कला-साधना के लिए यह स्थान उपयुक्त समझा होगा। अजंता की प्रत्येक गुफा में मूर्तिया, स्तम्भ तथा द्वार काटे गये हैं और भित्तियों पर चित्रकारी की गयी है। इस प्रकार अंजता की ये गुफाएँ 'वास्तुकला' 'मूर्तिकला' तथा चित्रकला का उत्तम संगम है।

## खोज एवं जीर्णोद्धार

लोरेन्स बिनयन के अनुसार अजंता की कला एशिया की कला के इतिहास में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है, जितना की यूरोप की कला के इतिहास में 'आसिसी' 'सियना' और फ्लोरेंस की कला का है। अजंता की इतनी महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ लगभग एक हजार वर्षो तक कला जगत् की अनभिज्ञता का शिकार रहकर अचानक सन् 1819 ई0 में कैसे प्रकाश में आई, इसकी भी अजीब कहानी है। यदि मद्रास सेना का एक सेवानिवृत अफसर इनका पता हमें न देता, तो पता नही कब तक ये कला भंडार हमारे लिए होकर भी न होते (2013:57-58)[3]।

सन् 1819 ई0 में सेना की एक टुकड़ी 'अजिष्ठा गाँव' के पास घेरा डाले पड़ी थी। उन्हीं में से एक ब्रिटिश अफसर शिकार की टोह में अजंता गाँव के पास तक पहुँच गया। अचानक उसे एक लड़के की कर्कश सी आवाज सुनाई पड़ी और वह तेज कदम से उस तक पहुँच गया। लड़के ने यूरोपियन साहब को देख पैसे पाने की लालसा में उसे थोड़ी दूर चलने के लिये कहा और वहाँ जाकर सामने पेड़ों के झुरमुट के बीच एक स्थान की ओर संकेत किया और बोला, साहब यह देखो चीता परन्तु आश्चर्य की बात कि वह चीता नही, बल्कि घनी हरीतिमा के बीच बैंगनी पत्थरों के खम्भों के मध्य सुनहरे लाल रंग में कुछ ऐसी चीज थी, जिसे देख कप्तान साहब उछल पड़े और तुरन्त गाँव वालों को कुल्हाड़ी, भाले, ढोल तथा टॉर्च आदि लेकर आने के लिये कहा। इस प्रकार सदियों से भूले गुफा मंदिरों तक पहुँचने का रास्ता साफ हो गया और कला जगत् व कला मर्मज्ञों का बौद्ध कला की इस महान् उपलब्धि से परिचय हो सका (2013:59)[3]।

## चित्रों के विषय

अलंकारिक आलेखनों को छोड़कर अजंता बौद्ध धर्म का सृजन केन्द्र था। अतः इन गुफाओं में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म से संबंधित चित्रों का समावेश नही हुआ। बुद्ध के उपदेश एवं बुद्ध के जन्म एवं पूर्वजन्म की कथाओं का जातक कथाओं के अन्तर्गत चित्रण हुआ है। 'वाचस्पति गैरोला' ने अपनी पुस्तक ''भारतीय चित्रकला'' में अजंता के चित्रों के विषय को तीन भाग में बाँटा है।

### प्रथम श्रेणी-अलंकारिव

इसमें विविध आलेखन बनाये गये है; जैसे-फूल, पत्तियाँ, पुष्पों की बेलें, कमलदल लताएँ, वृक्ष, पशु-पक्षी, अलौकिक पशु, राक्षस, किन्नर, नाग, गरूड़, यक्ष, गन्धर्व, अप्सराएँ आदि।

### द्वितीय श्रेणी-रूप भैदिव

इस श्रेणी में बुद्ध के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप तथा पद्मपाणि, वज्रपाणि, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर आदि के स्वरूपों के साथ-साथ बुद्ध के जन्म से मृत्यु तक की विविध घटनाओं यथा बुद्ध-जन्म, मायादेवी का स्वप्न, महाभिनिष्क्रमण, संबोधि, निर्वाण और बुद्ध के जीवन की अलौकिक घटनाओं का वर्णन है।

### तीसरी श्रेणी-जातक कथा

इन चित्रों में जातकों से सम्बद्ध अनेक प्राचीन कथाओं को स्थान दिया गया है, जैसे—ब्रह्मण जातक, शिवि जातक, षड्दन्त जातक, वेस्सन्तर जातक, हस्ति जातक, मुगपंख जातक, सरूजातक आदि।

## भित्ति चित्रों में रंग

अजंता के भित्ति चित्रों में खनिज रंगो का ही प्रयोग हुआ है, ताकि वे चूने के क्षारात्मक प्रभाव से अपना अस्तित्व खो न बैठे। रंगो में सफेद, लाल, पीला और भूरे रंगो का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त नीला (लेपिस लाजुली) और गन्दे हरे (संग सब्ज टेरावर्ट) रंग का प्रयोग हुआ है। सफेद रंग अपारदर्शी है और चूने या खड़िया से बनाया गया है। लाल तथा भूरे खनिज रंग है। हरा रंग एक स्थानीय पत्थर से बनाया गया है। लेपिस लाजुली रंग फारस से आयात किया जाता था, शेष रंग स्थानीय थे।

## गुफाओं में ''मार विजय'' का अंकन

### ''मार-विजय'' का चित्रण

अजन्ता की गुहा संख्या 2, 16 एवं 17 में मार-विजय का चित्रण किया गया है। इस चित्र में बुद्ध पद्मासन मुद्रा में है, उनका ऊपरी वस्त्र बायें कन्धे को ढके हुए है। वे बोधिवृक्ष के नीचे आसीन है जिसका प्रदर्शन प्रभा मण्डल के ऊपर कुछ पत्तियों के रूप में किया गया है। बुद्ध भूमिस्पर्श मुद्रा मे हैं। अधमुंदि आँखे, उन्नत नासिका, गोल चेहरा तथा गोल मांसल होठ चित्र की विशिष्टता है। उष्णीष, लम्बे कान, ललाट पर उर्णा पवित्रता को दर्शा रहे हैं। चेहरे पर शान्ति का भाव है। यह प्रमुख चित्र राक्षसो के रूप में मार सेना से घिरा हुआ है। उनमें से एक सर्प वमन कर रहा है तथा दूसरे के मुख से ज्वाला निकल रही है। उनके ईद-गिर्द वराह एवम् मगरमच्छ रूपी चेहरे वाले राक्षस

**अजंता का विहंगम दृश्य**

चित्र 1 (a)

चित्र 1 (b)

**''मार-विजय'' का चित्रण**

चित्र 2 (a)

चित्र 2 (b)

खड़े है। इनमें से कुछ तलवार, चाकू तथा गदा लिए हैं। गांधार प्रतिमा की तुलना में इस चित्र के शस्त्र पूर्णतया भारतीय प्रतीत होते हैं। सभी राक्षस भयानक तथा क्रूर चेहरे वाले है तथा बुद्ध पर आक्रमण की मुद्रा में हैं (चित्र–2a,2b)।

चित्र के निचले हिस्से में युवतियों का भी चित्रण है जो सुन्दर एवम् छरहरे बदन वाली हैं। उनकी केश सज्जा सुन्दर है तथा वे आभूषण धारण किये है उनके चेहरे पर प्रेम एवम् समपर्ण का भाव है। निःसन्देह ये मार पुत्रियाँ है किन्तु इनकी संख्या तीन के बजाय सात है। निदान कथा इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करता है जिसमे यह वर्णित है कि मार पुत्रियों ने भिन्न-भिन्न रूप धारण किये थे (1935:117)[4] इस चित्र में नवरस की अभिव्यक्ति भी प्रदर्शित है जिसे संस्कृत साहित्य में श्रृंगार रस, वीर रस, विभत्स रस आदि के रूप में वर्णित किया गया है। अजन्ता के कलाकारो ने सम्भवत प्रथम बार एक ही चित्र में इन सभी रसो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया (1930:38)[5]। अजन्ता के कलाकार कल्पना प्रधान एवम् अभिव्यक्ति में विविधता को स्थान देने वाले प्रतीत होते है। उन्होने नवरस के सिद्धान्त को अजन्ता एवम् बाघ की चित्रकला में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

## सन्दर्भ ग्रंथ

1. बापट,पी0वी0,1956, बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष , प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकारः नई दिल्ली, पृ0सं0 193।
2. श्रीवास्तव,के0सी0,2012, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, बारहवां संस्करण,यूनाईटेड बुक डिपो 21 यूनिवर्सिटी रोडः इलाहाबाद, पृ0सं0 315
3. प्रताप, डॉ0 रीता, 2013, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास चौदहवां संस्करण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमीः जयपुर, पृ0सं0 57,58,59
4. भागवत, एन0के0, 1935, निदान कथा,बाम्बें विश्वविद्यालय प्रकाशनःबाम्बे, पृ0सं0 117।
5. यजदानी, जी0एस0,1930, ए गाईड टु एलोरा, अजन्ता, सिकन्दराबाद, पुरातत्वविभागः निजाम सरकार, पृ0 सं0 38

◆

# धर्म एवं विज्ञान महामना मालवीय जी की अन्तर्दृष्टि के विशेष संदर्श में : एक अवलोकन

*डॉ0 विनीत नारायण दूबे* *

धर्म एवं विज्ञान दोनों का समर्थन करना ही विकास का सबसे उत्तम रास्ता है महामना मालवीय जी, जहाँ एक ओर धर्म को सर्व प्रमुख स्थान देते थे, वही विज्ञान की महत्ता को भी महत्वपूर्ण मानते थे। वह इस बात को महत्वपूर्ण मानते थे कि धर्म तथा विज्ञान अपनें-अपनें क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं लेकिन यदि दोनों संयुक्त रुप से एक ही मार्ग का अनुसरण करते हैं तो विकास की गति तीव्र हो जाती है। मालवीय जी, सदैव दोनों को साथ-साथ, बराबर का महत्व देते थे। जब धर्म, विज्ञानमय होता है तो उसे कहीं से भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ एक धार्मिक व्यक्ति धर्म में पूर्ण रुप से आस्था रखता है तथा उसका सम्मान करता है, वही शायद विज्ञान ने भी जगत में असंभव को संभव करके दिखा दिया है कि इस संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। विश्व के विकास रुपी दो मार्गों के मिलन स्थल पर धर्म तथा विज्ञानरुपी दो ऐसे रास्ते हैं, जो एक दूसरे से मिलकर तीसरा विकास का सर्वोत्तम रास्ता बनाते हैं जिसमें धार्मिकता तथा वैज्ञानिकता दोनों का सामन्जस्य देखा जाता है। 'मनुस्मृति' धार्मिक ग्रन्थ में जहाँ धर्म को दस लक्षणों के आधार पर परिभाषित किया गया है, वहीं विज्ञान की परिभाषा भी किसी विषय के 'विशेष' या 'यथार्थ' ज्ञान की ओर ही संकेत करती है। धर्म जहाँ हमें प्रत्येक कार्यो को धार्मिक दृष्टि से करने की ओर प्रेरित करता है वहीं विज्ञान क्रमशः सुविधादायिनी, जीवन दायिनी तथा विनाश दायिनी रुपों में हमें लाभ तथा हानि पहुँचाता है। प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री तथा नोबेल पुरस्कार विजेता अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा था ''विज्ञान को धर्म का, तथा धर्म को विज्ञान का पूरक बनना होगा, तभी हम पूर्णरुप से विकास तथा अविष्कार कर सकते हैं।'' चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यदि कोलम्बस, वास्कोडिगामा जेम्स कुक, फर्दीनेण्ड हेस्लर, मैजेलन आदि पुनार्जागरण काल के यात्रियों नें अपने अदम्य साहस का परिचय देते हुए संसार के अनजान क्षेत्रों की, अपने जीवन को हथेली पर लेकर खोज की तथा पन्द्रहवी सदी के पूर्व के ज्ञात विश्व मानचित्र के क्षेत्रफल में वृद्धि करने का साहसिक एवं वैज्ञानिक कार्य किया, इसी सदी में अनेक नवीन अविष्कार भी किये गये। धर्म से प्रेरित, पुरुषार्थ को सुदृढ़ बनाकर अदम्य साहस का परिचय देते हुए समाज में धर्म एवं विज्ञान को समर्थन देने वाले युगपुरुष, धर्मनिष्ठ संकृति के सेतु, भारतरत्न से अलंकृत, समाज के अग्रणी महापुरुषों में एक थे पंडित मदन मोहन मालवीय जी। जिन्हें सम्मान के साथ समाज सेवक तथा शिक्षा का अग्रदूत कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। मालवीय जी के समाज सुधारक कार्यों के आधार पर ही महात्मा गांधी जी ने उन्हें 'देवता पुरुष' कहा था, जो वास्तव में पुरुष के रुप में देवत्व का स्थान रखते थे। अपने विद्यार्थियों से उनकी मात्र यही अपेक्षा नहीं थी कि वह पढ़ाई के बाद मात्र अर्थोपार्जन करके सुखी जीवन व्यतीत करें, वरन् उनका अर्थोपार्जन, धर्म मर्यादित होना चाहिए। धमार्थ कार्य, 'त्रिवर्ग' के वह सच्चे अनुयायी थे। धर्म के साथ-साथ वह विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा पर विशेष बल देते थे। वह सदैव कहते थे कि देश की आर्थिक प्रगति के लिए धर्म के साथ-साथ विज्ञान तथा तकनीकी का सामंजस्य आवश्यक है, एक के बिना पूर्ण प्रगति सदैव अधूरी रहेगी। अपने संस्थापित विश्वविद्यालय में वह इसका पूर्णतः पालन करते थे, तथा सभी से इसके परिपालन की अपेक्षा भी रखते थे। मालवीय जी के परिवर्तन की अवधारणा सुधारवादी थी। वे आत्म शुद्धि तथा विश्व कल्याण को नैतिक सत्य मानते थे। महामना जी ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सामाजिक असमानतायें न हों। सामाजिक कुरीतियों और जाति व्यवस्था को तोड़नें का उन्होंने संकल्प किया था। शिक्षा के माध्यम से वह एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करते थे जो संयमी, निर्भीक, कर्तव्य परायणता से पूर्ण, उत्साही, सहनशीलता से परिपूर्ण एवं गंभीर हो। उसका आधार उदारता, विनय और धर्म होना चाहिए। इस प्रकार के व्यक्ति तार्किकता के साथ-साथ अपनी संस्कृति व सभ्यता से नहीं कट सकता है। उन्होंने देशकाल को देखते हुए केवल शास्त्रीय शिक्षा पर ही बल नहीं दिया, अपितु प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान को प्रधानता भी दी। उनके अनुसार निर्धनता को दूर करने के लिये देश के साधनों का समुचित उपाय होना चाहिए और वह केवल औद्योगीकरण, नवीन आविष्कार तथा प्रौद्योगिकी नवोन्मेषो द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये सीमित साधनों के होते हुए भी उन्होंने आरम्भ से ही औषधि विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का विकास तीव्र गति से किया। वे नियोजन के पक्ष में थे और इसके द्वारा ही देश का विकास चाहते थे। महामना का समग्र जीवन, भारतीय संस्कृति के चिन्तन और लोक मंगल की उपासना का गौरव स्तम्भ कहा जा सकता है।

मालवीय जी को तकनीकी शिक्षा के अग्रदूत के रुप में जाना जाता है। जहाँ एक ओर वह धर्म में पूर्ण आस्था रखते थे वहीं दूसरी ओर वह तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा के प्रबल पक्ष धर भी थे। वह अपने सिद्धान्तों में यह बात स्वीकार करते थे कि विज्ञान तथा धर्म के सामंजस्य से ही हम विकास के रास्ते पर आगे बढ़ सकते हैं, किसी एक को स्वीकार करने पर हमारा विकास एक पक्षीय होगा। भारतीय आय की निम्न स्तर तथा यहाँ फैलते हुए महामारी रोगों से वह बहुत व्यथित रहते थे। तकनीकी शिक्षा तथा उद्योग-धन्धों को सदैव बढ़ावा देने के पक्षधर थे। इसी के आधार पर हम भारतीय गरीबी को दूर कर सकते हैं। उन्हीं के सार्थक प्रयास से 1904 ई0 में पहली बार कांग्रेस ने तकनीकी संस्थान स्थापन के लिए सरकार से मांग की। बड़े संस्थानों

* एसोसिएट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, श्री मुरली मनोहर टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया (उ0प्र0) 277001।

के साथ ही प्रत्येक प्रांतो में भी तकनीकी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के स्थापना के लिए मांगे रखी गयी। 19वीं सदी में उद्योग धन्धों के कम विकास का उत्तरदायित्व वह अंग्रेजों पर ही मढ़ते थे। उनका कहना था कि भारतीयों में किसी भी प्रकार की औद्योगिक क्षमता तथा उद्यमिता का अभाव नहीं है। देसी उद्योगों के पतन के लिए भारतीय स्वयं अकेले जिम्मेदार नहीं हैं, इसके पीछे ब्रिटिश शासन की नीतियाँ ही ज्यादा उत्तरदायी हैं। भारतीय उद्योगों पर विचार करते समय हमें भारतीय हितों को सदैव प्राथमिकता देनी चाहियें तथा यहाँ के स्थानीय संसाधनों का उसमें प्रयोग भी किया जाना चाहिए। 'बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय' की स्थापना के परिपत्र अक्टूबर, 1905 से भी मालवीय जी की वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा पर बल देने की बातें स्पष्ट होती हैं, जिसमें धर्म तथा विज्ञान दोनों के सामंजस्य की बात कही गयी थी। परिपत्र के मुख्य पृष्ठ पर ''धार्मिक शिक्षण तथा प्राचीन संस्कृति के साथ वैज्ञानिक, तकनीकी और कला शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए प्रस्तावित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का परिपत्र'' मुद्रित किया गया था, जो मालवीय जी के विश्वविद्यालय में प्रस्तावित था। परिपत्र में उल्लिखित भारत अपनी समृद्धि तब तक नहीं प्राप्त कर सकता है जब तक कि आधुनिक विज्ञानों का अध्ययन और उनका व्यावहारिक प्रयोग देश में निसर्गकृत नहीं हो जाता। यह इस बात का स्पष्ट संकेत था कि विश्वविद्यालय में तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित होगा। इसी के साथ सनातन धर्म महासभा का वह प्रस्ताव भी था कि संस्कृत और अन्य भारतीयों भाषाओं के माध्यम से वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का संवर्द्धन तथा प्रचार। इसी के साथ प्रौद्योगिकी के तीन विभागों वाले स्थापत्य वेद तथा अर्थशास्त्र महाविद्यालय स्थापित करनें का उद्देश्य सम्मिलित था। अन्ततः कहा जा सकता है कि मालवीय जी सदैव धार्मिकता पूर्ण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे, जो उनके द्वारा स्थापित 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के कण-कण में स्पष्ट रुप से विद्यमान तथा द्रष्टव्य है। महामना के विषय में कहा जा सकता है कि—

**हे! काशी के मालवीय, शत् – शत् नमन तुम्हें हैं।**
**हे! विद्या के अग्रदूत प्रभु, निश-दिन प्रथम सुमन है॥**
**हे! मालवीय, तुम जग के, प्रख्यात ज्ञान के दायक हो।**
**अपनें कर्मों से ही तुम, इस विद्या उपवन के पालक हो॥**
**विद्या के सद्-धर्मो का, काशी में तुमनें, विस्तार किया।**
**'प्रयाग' पावन स्थल पर 'हिन्दू' निवास निर्माण किया॥**
**हे! काशी के मालवीय, शत् – शत् नमन तुम्हें है।**
**हे! विद्या के अग्रदूत प्रभु, निश-दिन प्रथम सुमन है॥**

(स्वचरित काव्याञ्जलि)

धर्म एवं विज्ञान दोनों ही आज अपने-अपने क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जहाँ धर्म का अपना विशिष्ट क्षेत्र एवं स्थान है वहीं विज्ञान ने भी अनेक क्षेत्रों में वह करके दिखा दिया है, शायद जो कभी असंभव सा लगता था। जहां धर्म में हमारी विशेष आस्था है, वहीं विज्ञान से भी हम अनेक प्रकार से लाभान्वित हो रहे हैं। जहाँ धर्म की बात आती है वहाँ हम कुतर्क से बचते हैं। विज्ञान जहाँ एक इस ब्रह्माण्ड जगत में सब कुछ संभव मानता है वहीं धर्म, किसी अदृश्य शक्ति में विश्वास करते हुए हमें सत्कार्यों की प्रेरणा देता है धर्म कभी भी, वह किसी भी धर्म का व्यक्ति हो उसे अच्छे कार्यों को करने की ही सीख देता है किसी भी धर्म में हिंसा, विद्रोह, दमन, हत्या आदि के सम्बन्ध में इसे करना सदैव वर्जित माना गया है। 'मनुस्मृति' ग्रन्थ में धर्म को सीधे परिभाषित न करते हुए उसके दस लक्षणों को विवेचित किया गया है। जो धर्म की परिभाषा भी है। मनुस्मृति के अनुसार-''धृतिःक्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध[1] इन्हें धर्म के लक्षण के रुप में वर्णन किया गया है। धर्म के यह लक्षण स्वयं मानवता के परिचालक हैं। धृति, धैर्य तथा तृष्टि को कहते हैं। मनुष्य को धैर्यवान तथा संतोषी होना चाहिए। यदि किसी से कोई गलती हो जाये तो उसे क्षमा कर देना चाहिए। अपनी वाह्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा दूसरे की वस्तु नहीं लेनी चाहिए। सदा पवित्रता मन, वाणी तथा कर्म से होनी चाहिए। सभी इन्द्रियों को कुमार्ग से बचाना चाहिए, सदैव बुद्धिमत्ता पूर्वक कार्य करते हुए, सत्य बचन बोलना चाहिए तथा क्रोध नहीं करना चाहिए। यही धर्म के दस लक्षण, धर्म को परिभाषित करते हैं। धर्माचरण करते हुए हम धर्म की रक्षा भी कर सकते हैं। धर्म के साथ ही आज विज्ञान की महत्ता भी कम नहीं है। मनुष्य ने आज अनेक अविष्कारों तथा खोजों के द्वारा ब्रह्माण्ड के रहस्यों से भी पर्दा उठाने का कार्य कर रहा है। जहां हम पहले छोटे बच्चों को 'चाँद' चन्दा मामा दिखाते हुए कभी यह कहते थे कि वहां कोई बुढ़िया माई बैठी है, आदि-आदि भ्रांतियां समाज में व्याप्त थीं, लेकिन हमारी वैज्ञानिक प्रगति ने वहां पहुँचकर यह सच बता दिया है कि चन्दा मामा यह कोई बुढ़िया नहीं है बल्कि वह ज्वालामुखी के उद्गारों के वृहद विवर है, जहां ऊँचे नीचे बड़े-बड़े गड्ढे हैं। वर्तमान में तो अमेरिका देश वहाँ मनुष्य के निवास की बात भी कर रहा है। आने वाले दिनों में चांद पर बसने का स्वप्न भी साकार हो सकता है। चन्द्रमा पर जाने के बाद भारत ने भी मंगल ग्रह पर मंगल यान उतार कर विश्व के अन्य देशों की श्रेणी में शामिल हो गया है।

भौतिक शास्त्री, नोबेल पुरस्कार विजेता तथा दुनियां के अब तक के महानतम वैज्ञानिकों में अग्रणी अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा था कि विज्ञान को धर्म का और धर्म को विज्ञान का पूरक बनना होगा धर्म यानी नैतिकता के अभाव में वैज्ञानिक आविष्कार व प्रगति एक सीमा के बाद खतरनाक बन सकते हैं। इनका यह कथन बिल्कुल स्टीक है कि परमाणु ऊर्जा का इस्तेमाल इस प्रकार से बमों, मिसाइलों तथा घातक हथियारों के निर्माण में किया जा रहा है। वह समग्र मानवता के लिए विनाशक है। इस निर्ममता का प्रथम उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा तथा नागाशाकी के नगरों पर घातक परमाणु बम

का प्रयोग करके दिखाया, जिसकी त्रासदी आज भी यह नगर भुगत रहे हैं। आज मनुष्य अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग कर रहा है, इसमें वैज्ञानिक आविष्कारों का दोष नहीं वरन धर्म के नैतिक मूल्यों के आभाव में हम अपनी दुर्बलताओं के कारण ऐसा कर रहे हैं। विज्ञान का शाब्दिक अर्थ किसी भी विषय के यथार्थ ज्ञान या विशेष ज्ञान से सम्बन्धित है। 'ज्ञान' शब्द के साथ 'वि' उपसर्ग लगा देने के बाद यह एक विशेष अर्थ का पर्याय बन गया है। विज्ञान के विकास को तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है, क्रमशः सुविधा दायिनी, जीवनदायिनी तथा विनाशदायिनी (विध्वंसक प्रयोगों द्वारा) विज्ञान के सुविधादायिनी तथ्यों के अन्तर्गत हम यातायात तथा संचार के साधनों से लेकर अनेक बहु उपयोगी उपकरणों को मानते हैं, जिसने हमें विभिन्न कठिन कार्यों को करने में सरलता तथा सुविधा प्रदान की है। परिवहन के सड़क, जल तथा वायु मार्गों द्वारा हम उस सम्पूर्ण संसार को कुछ घण्टों में नाप सकते हैं। जहाँ कभी एक देश से दूसरे देश में जाने के लिए कोलम्बस, वास्कोडिगामा, कैप्टन कुक, फर्दीनैण्ड हेस्लर को कई महीने लग गये थे, तथा एक नई दुनिया की खोज में उन्हें कठिनतम समस्याओं का सामना करना पड़ा था। कभी-कभी तो यह खोजी यात्री जाना कहीं चाहते थे लेकिन समुद्री हवाएँ उन्हें कहीं अनजान विश्व के प्रदेशों में पहुँचा देती थी। चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक दुनिया बहुत छोटी थी। वास्कोडिगामा के भारत खोज से पहले विश्व के पश्चिमी तथा पूर्वी, उत्तरी तथा दक्षिणी देशों से किसी प्रकार के सम्पर्क नहीं थे। ब्रिटिश तथा पुर्तगालियों नें कठिन संघर्षों का सामना करते हुए पुनर्जागरण (तथ्य अन्वेषण युग) काल में विश्व के देशों के बारे में दुनियां को बताया तथा उनकी खोज की।

आज संचार के तीव्रगामी उपकरणों द्वारा हम अल्प समय में पलक झपकते ही दुनिया के किसी भी भाग में रहने वाले लोगों से सचित्र बाते कर लेते हैं। संचार के तीव्रगामी उपकरणों ने विश्व की दूरी को अल्प समयों में नाप लिया है। विज्ञान की जीवन दायिनी शक्ति ने विभिन्न रोगों पर नियन्त्रण स्थापित करके हमें विशिष्ट स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान की हैं। लगभग सात दशक पूर्व विभिन्न महामारियों के प्रकोप होने पर गाँव के गाँव तथा शहर तबाह हो जाते थे, लेकिन आज मेडिकल विज्ञान में विभिन्न औषधियों की खोज तथा निर्माण द्वारा रोगों से लड़ने तथा उन्हें परास्त कर देने की अनेक युक्तियाँ खोज ली हैं। चेचक, हैजा, मलेरिया प्लेग तथा पोलियो जैसी असाध्य बीमारियों से पूर्णतः मुक्ति प्रदान करायी है। विज्ञान की दो सुविधाएं जहाँ हमारे लिये कल्याणकारी है, वहीं तृतीय पक्ष जिसमें हमने विनाशकारी बमों का निर्माण, मिसाइलें, गगनभेदी तोपों, टैंकों, परमाणु हथियारों का निर्माण किया है, यह वैश्विक दृष्टि से लाभदायक कम, विनाशकारी अधिक है। इस प्रकार धर्म तथा विज्ञान दोनों मानव समाज के लिए कल्याणकारी हैं, लेकिन जब सच्चे अर्थों में उनका प्रयोग किया जाय। यद्यपि दोनों के विषय क्षेत्र अलग-अलग है। जहाँ विज्ञान पदार्थों का अध्ययन करता है, वही धर्म मनुष्य की चेतना का अध्ययन करता है जहाँ पदार्थ विज्ञान का अध्ययन, विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों के द्वारा विभिन्न सुविधाएँ प्रदान की है, वहीं वास्तविक धर्म भी मनुष्य की चेतना को सही दिशा प्रदान करता है। नैतिक मूल्यों की ओर प्रेरित करना भी धर्म का महत्वपूर्ण कार्य है। नैतिक मूल्यों के अवमूल्य तथा पतन का ही दुष्परिणाम है कि आज वैज्ञानिक प्रगति के बाद भी हम एक दूसरे से ज्यादा परेशान हैं। प्राचीन ऋषिओं तथा मुनियों ने अपने जीवन में सदाचरण का पालन तथा मानव कल्याण परक विचारों द्वारा जितनी प्रगति की थी आज तथाकथित कतिपय समाज के ढोंगी संतों द्वारा उसका उपहास कराया जा रहा है। प्राचीन ऋषि परम्परा के सम्बन्ध में समाज का जो सम्मान तथा आदर था उसे तथाकथित नवयुगी संतों द्वारा अवमूल्यित किया जा रहा है। साधू, संत समाज की आपराधिक कार्यों में संलिप्तता, धर्म के प्रत्यय पर प्रश्न चिन्ह लगा रही है, तथा इनपर से लोगों का विश्वास धीरे-धीरे उठ रहा है। प्राचीन काल में धर्म तथा विज्ञान के मध्य विरोधाभास था, इन्हीं परस्पर विपरीत विचार धाराओं ने नास्तिकता, आस्तिकता, अज्ञेयवाद, सगुण तथा निर्गुण आदि विचारधाराओं को जन्म दिया। जहाँ धर्म ने मानव हृदय का परिष्कार किया है, वहीं विज्ञान ने हमारी बुद्धि को तर्क शक्ति दी है।

विज्ञान तथा धर्म में एक दूसरे से कौन बड़ा या छोटा है, इसका मूल्यांकन करना बहुत ही कठिन कार्य है। वैज्ञानिक प्रगति हमें अनेकों सुख सुविधायें प्रदान कर सकती है, लेकिन उनका प्रयोग हमारे नश्वर शरीर के लिए क्षणभंगुर है, क्योंकि सभी नश्वर वस्तुएँ है। धर्म पर चलने तथा सदाचरण का पालन करते हुए हम अपने इहलोक तथा परलोक दोनों को सुधार सकते हैं।

धर्म से प्रेरित होकर, पुरुषार्थ को सुदृढ़ बनाकर अदम्य साहस का परिचय देते हुए समाज के अग्रणी महापुरुषों में पण्डित महामना मदन मोहन मालवीय जी का नाम अग्रणी है। ऐसे महापुरुषों नें समाज कल्याण के कार्यों में अपना सम्पूर्ण जीवन न्यौछावर कर दिया। ऐसे ही महापुरुषों के चरित्रबल, जनमानस के प्रति सच्ची सहानुभूति तथा समाज सेवा उनके प्रति श्रद्धा से हमारे मस्तक को झुका देता है। ऐसे ही समाज के प्रेरक महापुरुषों में एक थे पं0 मालवीय जी! जिन्हें समाज सेवक के साथ-साथ शिक्षा का अग्रदूत कहना शायद अतिशयोक्ति न होगी।[2]

## विज्ञान तथा तकनीकी दोनों के समन्वय के समर्थक

महान देशभक्त, शिक्षाशास्त्री, संपादक अधिवक्ता, राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक, बहुमुखी प्रतिभा के धनी पंडित मदनमोहन मालवीय का जन्म 25 दिसम्बर 1861 को प्रतिष्ठित मालवीय परिवार, प्रयाग में हुआ था। उनकी मृत्यु 12 नवम्बर 1946 को हुई। महात्मा गाँधी ने उन्हें 'देवता पुरुष' कहा था। मालवीय जी सत्य के अभ्यास व अपने कार्य के अनुपालन की बात करते थे। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय ऊर्जा व शक्ति शिक्षा के विकास द्वारा प्राप्त की जा सकती है। धर्म

आधारित विज्ञान व तकनीकी शिक्षा वह चाहते थे। आर्थिक विकास के संदर्भ में वह विज्ञान तथा तकनीकी को विशेष महत्व देते थे।[3] ''Practice truth and do your duty'' यह उनका नारा था, तथा वह इसका सदैव पालन भी करते थे। ''He aimed to generate spirit though the power of education and righteousness and two achieve the economic development of the country by combining teaching of science and technology with that of religion'' अपने विद्यार्थियों से मात्र उनकी अपेक्षा यह नहीं थी कि पढ़ाई के बाद अर्थोपार्जन करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाये, वरन अर्थोपार्जन का कार्य धर्म मर्यादित भी होना चाहिए, धमार्थ कार्य त्रिवर्ग के वह सच्चे अनुयायी थे तथा भारतीयों के लिए इसे आवश्यक मानते थे। धर्माचरण के विषय में वह कहते थे कि यही मनुष्यों को पशुओं से अलग करता है, अन्यथा दोनों के कार्य एक ही जैसे होते। महामना मालवीय सदैव धर्म आधारित आचरण तथा धार्मिकता के प्रबल समर्थक थे। धर्म के साथ ही साथ विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा पर वह विशेष बल देते थे।[4] वह सदैव इच्छा रखते थे कि आर्थिक प्रगति के लिए धर्म तथा विज्ञान दोनों का साथ-साथ सामन्जस्य आवश्यक है, एक के बिना पूर्ण प्रगति अधूरी होगी। महामना मालवीय जी ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना पूर्णतः धार्मिक आधारों तथा वास्तु शास्त्रीय दृष्टि से करायी है। भवनों का आकार उनका मानचित्र, दरवाजे, खिड़कियां, रास्ते, मुख्य द्वार तथा सम्पूर्ण मानचित्र पूर्णता वास्तुशास्त्रानुसार धार्मिक दृष्टि से किया गया है। मालवीय जी कभी भी वैज्ञानिकता का विरोध न करते हुए सदैव उसके साथ चलने की बात करते थे। वह कहते थे कि आज के वैश्विक संदर्भ में वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति अति आवश्यक है। वह वाणिज्य शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, शारीरिक शिक्षा तथा तकनीकी एवं इन्जीनियरिंग शिक्षा पर विशेष बल देते थे, यही कारण है कि मालवीय जी के शिक्षा मंदिर में मेडिकल कॉलेज, इन्जीनियरिंग कॉलेज, वाणिज्य संकाय, संस्कृत, धर्म दर्शन विज्ञान आदि अनेक तकनीकी शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न विभाग स्थापित हैं। वह वाह्याडम्बर तथा दिखावापन के प्रबल विरोधी थे। अछूत, गरीब, दीन दुखियों की सेवा को वह विशेष महत्व देते थे। हिन्दू जाति के समर्थक होते हुए भी वह सभी धर्मों को समादर देते थे। भारतीय संस्कृति के पोषक महामना के लिए 'हिन्दू' शब्द एक धर्म का द्योतक न होकर एक जाति का द्योतक था, जिसमें वह भारत में रहने वाले सनातन धर्मी, आर्य समाजी, जैन, सिख, पारसी एवं मुसलमान आदि को सम्मिलित करते थे। सभी धर्मों को वह सदैव आदर देते थे, लेकिन अनेक धर्मशालाओं तथा धार्मिक प्रतिष्ठानों की स्थापना हिन्दू शिल्प शास्त्रानुसार करायी थी।[5] उनके विचारानुसार शिल्प शास्त्र (वास्तुशास्त्र) द्वारा स्थापित भवन सदैव उपयुक्त होते हैं, उनका धर्म से कोई मतलब नहीं होता है। इनका प्रयोग सदैव सुविधाजनक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त होता है। 'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्यो मामृतगमय'' को वह उद्बोधन मंत्र मानते हुए प्राचीन भारतीय आदर्शों, मूल्यों, व्यवहारों तथा मान्यताओं में उनकी दृढ़ आस्था थी। आत्म संस्कार को विशेष महत्व प्रदान करते हुए उन्होंने कहा था कि इसके बिना सभी प्रशिक्षण व शिक्षा व्यर्थ है। सभी को साक्षर बनाने के साथ-साथ वह विद्यार्थियों के लिए आहार, संयम और ब्रह्मचर्य को स्वास्थ्य के स्तम्भ मानते थे। उनके विचारानुसार राष्ट्र के निवासियों का शरीर, मन और आत्मा की राष्ट्र है, अतः इन्हें सशक्त बनाना चाहिए। संयम, भोजन तथा व्यायाम से शरीर को, सात्विक विचार तथा सदाचार से मन को तथा सत्संग, श्रद्धा तथा प्रार्थना से आत्मा को सबल बनाना चाहिए। भारत वर्ष, भगवद् गीता तथा भारती भाषा में भक्ति उनका संदेश था। सेवा धर्म, चारित्रिक बल, नैतिकता तथा धर्म को वह सदैव महत्व देते थे। धर्माचरण करना तथा उसका अनुपालन, नैतिकता तथा धर्म को वह सदैव महत्वपूर्ण स्थान देते थे। बड़ो तथा गुरुओं का सम्मान करना, हिंदी, हिन्दू तथा हिंदुस्तान के लिए वह आजीवन तत्पर रहे।

मालवीय जी हिन्दू धर्म के प्रबल समर्थक थे लेकिन कभी भी उन्होंने इसके साथ वैज्ञानिकता का विरोध नहीं किया। विश्वविद्यालय स्थापना के बाद हिन्दू संस्कृति के विषयों के साथ-साथ उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा के विषयों को विशेष महत्व दिया। भवनों के निर्माण तथा विज्ञान के विकास के लिए इन्जीनियरिंग संस्थान, स्वास्थ्य शिक्षा के विकास के लिए मेडिकल संस्थान, रोजगार तथा व्यवसाय से सम्बन्धित वाणिज्य विभाग तथा धर्म एवं शिक्षा से सम्बन्धित धर्म दर्शन विभाग एवं अनेक विभागों की स्थापना करायी।[6] अपने कार्यकाल में ही मालवीय जी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त वैज्ञानिकों को अपने विश्वविद्यालय में स्थान दिया था। जिसमें महत्वपूर्ण वैज्ञानिकों ने वी0बी0 नार्लीकर, एस0एस0 जोशी, यू0सी0 नाग, सी0ए0 किंग, ए0बी0 धूर्वे, गनेश प्रसाद, वीरबल साहनी, एस0एन0 भटनागर, आर0के0 असुन्दी तथा अन्य विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों में जे0सी0 बोस, एम0एन0 साहा, एस0एन0 बोस, टी0वी0 रमन, देवेन्द्र लाल, यू0एन0राव, सी0एन0आर0 राव, जे0वी0 नार्लीकर, टी0वी0 रामकृष्णनन आदि महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्रमुख है। पंडित मालवीय जी भारत के प्रथम व अंतिम व्यक्ति थे जिन्हें 'महामना' की उपाधि से विभूषित किया गया। उनकी परिकल्पना ऐसे विद्यार्थियों को तैयार करने की थी जो अपने कार्यों द्वारा देश का मस्तक उँचा कर सके। वह दूसरों के लिए जो उपदेश देते थे अपने जीवन में उसका अनुपालन भी पहले स्वयं करते थे। कर्म ही उनका जीवन था। अनेक संस्थानों की स्थापना एवं सफल संचालक के रुप में अपनी विधि व्यवस्था का सुचारु रुप से निर्वहन करते हुए उन्होंने कभी रोष अथवा कड़ी भाषा का प्रयोग नहीं किया। गांधी युग के कांग्रेस में हिन्दू, मुसलमानों एवं उनके विभिन्न मतों के बीच मालवीय जी ही सामन्जस स्थापित करने में प्रयत्नशील रहे। ऐनीबेसेन्ट ने उनके बारे में ठीक ही कहा था कि ''मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि विभिन्न मतों के बीच केवल मालवीय जी भारतीय एकता के मूर्ति बने खड़े हुए हैं।'' सनातन धर्म व हिन्दू संस्कृति की रक्षा व

उसके विकास में मालवीय जी का योगदान अतुलनीय है। जनबल तथा मनोबल में सदैव छयशील, हिन्दू जाति को विनाश से बचाने के लिए उन्होंने हिन्दू संगठनों का शक्तिशाली आन्दोलन चलाया। मालवीय जी के विषय में पंडित जवाहर लाल नेहरु ने लिखा है कि, अपने नेतृत्व काल में हिन्दू महासभा को राजनीतिक प्रतिक्रियावादिता से मुक्त रखा और अनेक बार धर्मो के सहअस्तित्व में अपनी आस्था को अभिव्यक्त किया था।[7] धर्म तथा संस्कृति की रक्षा में वह सदैव तत्पर रहते थे। मालवीय जी द्वारा स्थापित अक्षय क्रांति का प्रतीक कीर्ति स्तम्भ 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' स्वयं इसका उदाहरण है जिसमें उनकी प्रखर बुद्धि, संकल्प शिक्त, देश प्रेम, तप, क्रियाशीलता शक्ति, त्याग तथा उनकी तपस्या की साक्षात मूर्ति है। हिन्दू विश्वविद्यालय के शांत परिसर के कण-कण में जैसे मालवीय जी की साक्षात आत्मा निवास करती है। उनके द्वारा दिये गये उपदेश जैसे विश्वविद्यालय के उपवन में सदैव गुंजायमान रहते हैं। विश्वविद्यालय के प्रत्येक भवनों तथा शिक्षालयों में जैसे वह साक्षात उपदेश देते दिखाई देते रहते हैं। मालवीय जी की विज्ञान व तकनीकी सम्बन्धी विचार धारा महामना मदन मोहन मालवीय जी ने विश्वविद्यालय स्थापना से पूर्व ही उसके सभी पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। धर्म के साथ-साथ विज्ञान व तकनीकी को लेकर चलने की बात करते थे।[8] 'In his first Prospectus of a proposed Hindu University, Circulated in 1905, he included 'Sthapatya Ved (Science and Technology) as one of the major areas of study and research.' वैज्ञानिक रुचि के आधार पर ही उन्होंने विभिन्न विज्ञान विभागों की स्थापना करायी। विश्व के संदर्भ में मालवीय जी भारत में भी उद्योग धन्धों तथा व्यापार को बढावा देने वाली शिक्षा के पक्ष धर थे। इसी का परिणाम था कि वह विभिन्न ऐसे कौशल का विकास करने वाले विषयों को बढ़ावा देते थे, जहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी बेरोजगार न रह सके, उसमें कुछ न कुछ गुण अवश्य आ जाये जिससे वह अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें। वह भारत को औद्योगिक तथा उत्पादक देश के रुप में कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्था विकसित करना चाहते थे। वह इस बात की भी वकालत करते थे कि भारत की संमृद्धि प्रमुखतः विज्ञान के विषयों के योगदान से ही हो सकती है। देश में आर्थिक संमृद्धि वैज्ञानिक शिक्षा के विकास द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। जहाँ कहीं भी उन्होंने परिचर्चा में भाग लिया वहाँ वह तकनीकी शिक्षा के विकास की बात करते थे, इसी का परिणाम था कि 1904ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पहली बार सरकार से इन्जीनियरिंग संस्थानों के स्थापना की बात कही। इसके बाद मालवीय जी के संरक्षण में भारतीय औद्योगिक कान्फरेन्स आयोजित होते रहे। पहली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1905ई0 में आयोजित की गयी। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का प्रथम पाठ्यक्रम 12 मार्च 1906 को प्रस्तावित किया गया, जिसमें विश्वविद्यालय की शिक्षा में तकनीकी शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। गर्वनर जनरल द्वारा 01 अक्टूबर 1915 को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ऐक्ट पारित हुआ। 'The objectives of the establishment of Banaras Hindu University clearly states to advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country' मालवीय जी ने 1911 में एक मुद्रित पत्र के माध्यम से बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना वह क्यों करना चाहते थे?तथा इसका क्या उद्देश्य था? इसमें स्पष्ट रुप से वर्णित किया था। भारत की आर्थिक स्थिति को देखते हुए सर्वप्रथम विश्वविद्यालय में विज्ञान व तकनीकी विभागों की स्थापना की जायेगी क्योंकि शिक्षा की कोई और शाखा नही ंहै जो वैज्ञानिक व तकनीकी निर्देशों के पालन कर सके। इस प्रकार मालवीय जी विश्वविद्यालय स्थापना से पूर्व ही वैज्ञानिक विषयों की स्थापना के बारे में पूर्ण निर्णय ले चुके थे, यह मालूम था कि इन विषयों के विकास द्वारा समाज का उत्थान हो सकता है। एक कुशल इन्जीनियर अपने क्षेत्रों में अनेक अनुसन्धानों से सम्बन्धित कार्य कर सकता है। एक सिविल इन्जीनियर, देश के लिए अच्छे निवास, संस्थान, बहुमंजिलीय इमारते तथा नवीन तकनीकी आधारित पुलों तथा सड़कों का निर्माण कर सकता है, रसायन शास्त्री दवाओं का निर्माण तथा यान्त्रिक मशीनों से सम्बन्धित निर्माण कर सकता है। कुशल चिकित्सक अपने विशेषीकृत क्षेत्रों में लोगों को स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का निदान दे सकता है तथा वैज्ञानिक अपने-अपने क्षेत्रों में अनेक उपयोगी अनुसंधान कर सकते हैं। उनकी यही परिकल्पना इन संस्थानों के निर्माण के पीछे थी।

महामना मालवीय जी इन्जीनियरिंग तथा तकनीकी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। परिणाम स्वरुप विश्वविद्यालय में विभिन्न इन्जीनियरिंग विषयों तथा शाखाओं की स्थापना की गई। हिन्दू विश्वविद्यालय में सिविल इन्जीनियरिंग शाखा के बाद विद्युत तथा मैकेनिकल इन्जीनियरिंग विभाग स्थापित हुए। विश्वविद्यालय में वहाँ के प्रयोग के लिए विद्युत उत्पादन केन्द्र भी स्थापित हुआ जिससे विश्वविद्यालय को विद्युत की आपूर्ति होती रहे यह उनका लक्ष्य था। इनके हृदय में तकनीकी शिक्षा को विशेष स्थान प्राप्त था जिसके कारण वह इन व्यवस्थाओं पर विशेष बल देते थे। आज मालवीय जी के आशीर्वाद तथा प्रेरणा से विश्वविद्यालय का तकनीकी तथा मेडिकल संस्थान देश के प्रसिद्ध संस्थानों में से एक हें तथा अनेक लाभों द्वारा भारतीय जनता को लाभान्वित कर रहें हैं चाहे वह स्वास्थ्य लाभ हो या इन्जीनियरिंग तकनीकी से सम्बन्धित लाभ हो।

दुःख इस बात का है कि समय के परिवर्तन से आज समाज का स्वरुप नष्ट हो रहा है। धर्म आज समाज के थोड़े से इधर-उधर के लोगों तक ही सीमित रह गया है। कुछ लोगों को छोड़ कर शेष अपने स्वार्थपरक कार्यों में ही लगे रहते है उन्हें धर्म की कोई चिन्ता ही नहीं

रहती है। वर्तमान स्थिति में प्रत्येक भारतवासी की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि वह धर्म का प्रचार-प्रसार करे तथा प्राचीन भारतीय धार्मिक परम्परा को फिर से उसका पूर्व स्वरुप प्रदान करें। देश को वर्तमान समय में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा की विशेष आवश्यकता है, लेकिन इसे भी हम अपनी भारतीय भाषाओं के ही आधार पर आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। इसका शुभारम्भ देश के छोटे बच्चों से किया जाना चाहिए। भारत अपने प्राचीन गौरवों को प्राप्त करने में तब तक असमर्थ है जब तक कि वह वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषणों का अध्ययन नियमित तथा अनिवार्य नहीं बनाता। विज्ञान तब तक राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं हो सकता जब तक कि उसका अध्ययन देश के नौनिहालों के लिए राष्ट्रभाषा में नहीं होगा। भारत मात्र तकनीकी तथा औद्योगिक विकास के बल पर विश्व में वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकता है जो उसे विश्व के ज्ञान के गुरु के रुप में प्राप्त था। आज अपने प्रयासों द्वारा हम भारतवीस पुनः उसी स्थान को प्राप्त कर सकते हैं जिसके लिए अनेक प्रयत्नों की आवश्यकता है। आज विज्ञान ने प्रकृति के अराजक तथा दुर्दम्य शक्तियों को अपने वश में कर लिया है और उसे अपने ही सांचे में ही ढाल दिया है लेकिन क्या यह अविष्कार नित्य नई स्थापनाएं मनुष्यों के जिज्ञासाओं को शांत कर पायी हैं? कुछ विकसित देश इसमें आगे निकल गये हैं तो कुछ मूक-बधिर बनकर इसे देखते रहे। हमारी जिज्ञासायें समय के साथ-साथ प्रबल होती चली गयी जिसकी आपूर्ति न होने पर विज्ञान के मानव विरोधी रुप अपना लिया है। जो विज्ञान अपना लक्ष्य मानव-मानव कल्याण मानता है, आज उसी के लिए सम्पूर्ण मानवता संत्रस्त है। मानव जगत के सर्वोत्तम तथा चहुमुखी विकास के लिये यह आवश्यक है कि धर्म तथा विज्ञान का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया जाये। जिस प्रकार से अकेले विज्ञान संसार को पूर्ण सुख तथा शांति प्रदान नहीं कर सकता उसी प्रकार से अकेले धर्म भी संसार को पूर्णता नहीं दे सकता है। आज के परिवेश में आवश्यकता है कि धर्म तथा विज्ञान दोनों ही एक गाड़ी के दो पहियो के सामान साथ-साथ चले तभी समाज का संतुलित विकास तथा कल्याण संभव है, अन्यथा वैज्ञानिक प्रगति तथा संपूर्ण सुख सुविधाओं की प्राप्त के बाद भी हम मानसिक तथा शारीरिक रुप से सुख शांति का अनुभव नहीं कर पायेंगे।[9] अतः धर्म एवं विज्ञान दोनों को हमें साथ-साथ स्वीकार करना चाहिए तभी हम पूर्ण सामाजिक उन्नति कर सकते है, अन्यथा हमारा विकास एकांगी होगा। अतः मानव धर्म तथा विज्ञान दोनों को महत्व देना हमारा कर्तव्य है। महामना मालवीय जी ने इन दोनों को स्वीकार करने की बात कहते थे तभी हम पूर्ण विकसित मानव बन सकते हैं।

## संदर्भ


1. मुनस्मृति, 12-94।
2. शुक्ल, श्यामसुन्दर, श्रीमद् भागवतः विज्ञान और तकनीकी शिल्प का रत्नाकार, प्रज्ञा अंक, बी0एच0यू0 अंक-54, भाग-1-2, वर्ष 2008-09 पृष्ठ 175-183.
3. त्रिपाठी, सत्येन्द्र, महामना, सामाजिक परिवर्तन एवं नव मानव, हिन्दी आलेख (BHUAM-2010) BHU Alumni Meet-2010 24-25 December, 2010 पृष्ठ 43-45.
4. सिंह, देवेन्द्र प्रताप, शुक्ला, रामकीर्ति, नाथ, पद्मिनी रवीन्द्र, भारत में तकनीकी शिक्षा के अग्रदूतः महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी, BHU Alumni Meet-2010, 24-25 दिसम्बर, पृष्ठ 32-37.
5. द्विवेदी, रामायण प्रसाद, 'महामना के मान्य विचारों की एक झलक'BHU Alumni Meet, 24-25 दिसम्बर, 2010, पृष्ठ 29-31.
6. शास्त्री, पवन कुमार, 'महामना की धर्मनिष्ठा': हिन्दी आलेख, 'प्रज्ञा', काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 58, भाग-2, वर्ष 2012-13 पृष्ठ 165-167.
7. पाठक, आभा मिश्र, महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी की दृष्टि में व्यावसायिक शिक्षा, 'प्रज्ञा', बी0एच0यू0, अंक-58, भाग-2, वर्ष 2012-13 पृष्ठ 158-161.
8. राय, कृष्ण दासः महामना जी मदन मोहन मालवीय 'आलेख' महामनामालवीय, जयंती, विशेषांक-अंक- 56, भाग-02, वर्ष-2010-11.
9. दूबे, विनीत नारायण, भारतीय संस्कृति के उन्नयन के सजग प्रहरी तथा युग द्रष्टा महामना मालवीय जी : हिन्दी आलेख, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 59 भाग- 1, वर्ष 2013-14, पृष्ठ 139-143.


◆

# काशी के महान साधक देवतीर्थ स्वामी

*डॉ0 सुमन तिवारी* *

अनादि काल से काशी भारतीय संस्कृति, साधना एवं साहित्य की केन्द्र स्थली रही है। यहाँ अनेक सिद्ध योगियों तथा संतों ने जन्म ग्रहण कर मानव मात्र का ही नहीं अपितु सभी प्राणियों के कल्याण का कार्य किया है। जिनमें लाहिड़ी महाशय, स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती, तैलंग स्वामी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्हीं संतों की श्रेणी में देवतीर्थ स्वामी का नाम शीर्षस्थ स्थान पर है। ये जितने बडे. विद्वान थे उतने ही बड़े साधक थे। एक बार जीभ से किसी अवांछित बात निकलने के कारण फिर कभी न बोलने के उद्देश्य से इन्होंने अपनी जीभ पर काठ की खोल चढ़ा ली थी, उस घटना के पश्चात् उनका नाम 'काष्ठजिह्व स्वामी' पड़ गया।

स्वामी जी के दो रुप आलोचकों के समक्ष दृष्टिगत होते हैं (1) साधक रुप (2) कवि रुप। उनका साधक रुप कवि रुप में इस प्रकार धुल मिल गया है कि इसको पृथक करके नहीं देखा जा सकता है। स्वामी जी की साधना में गुरु-दीक्षा, अधिकार, मंत्र, जप, मुद्रा, प्रतिमा-पूजन, योग आदि का समावेश किया गया है। इन्होंने वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों प्रकार की साधना को महत्व प्रदान किया है। स्वामी जी के गुरु स्वामी विद्यारण्य तीर्थ और उनकी साधना तथा पूजन पद्धति के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनकी कोई शिष्य परम्परा नहीं है। स्वामी जी की रचना शक्ति अलौकिक थी। अपनी रचनाओं में इन्होंने सभी देवताओं का दार्शनिक-निरुपण किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी साधना तांत्रिक विधि पर आधारित थी, क्योंकि अष्टदल कमल, नाद, बिन्दु आदि तान्त्रिक शब्दावली का प्रयोग इस ओर ही इंगित करता है—

**वसंत सौ तुषगिरि सिर जन्म सिरोमन इह कछु चाहिए मेख नमीन।**
**शंकर बिन्दु नाद श्री गंगा तीन कोनन ते देवी तीन।**
**आठ दिशा के कुण्ड अष्टदल भुजपद चार त्रिशूल नवीन।**
**सकल देव मैं परिध कोस भरे राममंत्र तरु बीज नवीन।**[1]

स्वामी जी का मत है कि साधक साध्य तथा साधन जहां तीनों के एकाकार हो जाने की स्थिति होती है वही मुक्ति का धाम माना जाता है। इन्होंने हृदय के आवर्जन हेतु संगीत की महिमा को स्वीकार किया है यही कारण है कि इनकी रचनाएं विभिन्न संगीतमय पदों में की गयी हैं। लय, वाद्य तथा गीत का समन्वय मन वाणी तथा कर्म के समन्वय की भांति ग्राह्य है।

साधना के क्रम में गुरु-दीक्षा, मंत्र जप-न्यास आदि का विधान समाविष्ट होता है परन्तु देवतीर्थ स्वामी के विषय में स्पष्ट रुप से इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। स्वामी विद्यारण तीर्थ ने इन्हें संन्यास आश्रम में दीक्षित किया था तथा शिष्य परम्परा कायम करने का निषेध किया था। परन्तु, किसी कारणवश रामनगर के राजा को दीक्षा देने के कारण इनके गुरु ने इनको 'पतित' नाम दिया था जिसके परिणाम स्वरुप इन्होंने मणिकर्णिका घाट तथा श्री काशी विश्वनाथ मंदिर के गोपुर के समीप अपना प्रायश्चित प्रदर्शित करने के लिए 'पतित' शब्द का लेखाकार अंकित किया था।[2]

इससे स्पष्ट है कि काय, वाक् तथा मन की शुद्धि के लिए इन्होंने प्रायश्चित विधान का शास्त्र सम्मत उपयोग स्वीकार किया था। इन क्रियाओं द्वारा इनकी निरभिमानता तथा गुरु-भक्ति की निष्ठा का परिचय मिलता है और यही साधना का मूल मंत्र है । ऐसा माना जाता है कि एक बार इनको श्वेत कुष्ठ हो गया था जिसके निराकरण हेतु इन्होंने 'उदासनी साधु स्तोत्र' की रचना की जिसके पश्चात उनका रोग ठीक हो गया इसके श्लोक सरल तथा अत्यन्त भावपूर्ण हैं। जैसे—

**''अरण्ये नदी सैकते वा वसन्तस्था पर्वतानां दरीमाश्रयन्तः**
**विदेहा प्रविष्टाः परे धाम्नि ये तान्, उदासीन साधून नमस्ये नमस्ये।**[3]

इनकी तितिक्षा शक्ति, जीव, दया, तथा देहाभिमान हीनता का एक उदाहरण जनश्रुतियों पर आधिरित है।

कहा जाता है कि एक बार इनके हाथ में घाव हो गया था। जिसमें काल क्रम से कीड़े पड़ गये थे। वे कभी-कभी नीचे गिर जाते। स्वामी जी उन्हें उठाकर पुनः घाव में रख देते थे और उसकी चिकित्सा नहीं करते थे । यह एक साधक के साधना की उत्कृष्टतम् उपलब्धि है, जो स्वामी जी को प्राप्त थी। यह इस बात का प्रतीक है कि इनकी साधना का एक अंग पाप तथा उसके निवाणार्थ प्रायश्चित विधान भी है। इसका प्रमाण इनकी 'काष्ठ जिह्वा' भी है। पाप तथा प्रायश्चित की अवधारणा का मूल लोकानुरंजन है। अतः साधक ऐसा कुछ भी नहीं करता है, न उसका उपदेश देता है, जिससे लोक को हानि हो या उससे शास्त्र सम्मत मर्यादाओं के प्रति भ्रान्ति तथा अनास्था का प्रादुर्भाव हो। स्वामी जी के अनुसार छोटी सी भूल भी साधक के लिए अनिष्ट का कारण बन सकती है, अतः लोकानुग्रह हेतु भी इससे बचना चाहिए।[4]

देवतीर्थ स्वामी तंत्र साधना में निपुण थे। महाराजा काशी नरेश के घर पर ब्रह्म बांधा थी जिसे इन्होंने अपनी 'वाचः सिद्धि' द्वारा दूर किया था। उन्हें बंगाली टोला के एक सिद्ध बंगाली, जिसे छिन्नमस्ता का इष्ट था, के द्वारा यह 'वाचः सिद्धि' प्राप्त हुई थी।

छिन्नमस्ता रुप भगवती के अनेक रुपों में से एक है। यह

---

* प्रवक्ता, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

प्रत्यालीढ़ मुद्रा में शिव पर खड़ी हैं। एक हाथ में खड्ग है और दूसरे हाथ में अपने ही हाथों द्वारा काटा हुआ स्वयं उन्हीं का मस्तक है। कटी हुई ग्रीवा से रक्त की दो फुहारें छूट रही हैं जिन्हें अगल-बगल खडी. दो योगिनियां पीती जा रही हैं। मीर घाट पर इनकी तन्त्र साधना हुई थी। ऐसा माना जाता है। यह जनश्रुतियों पर ही आधारित है।[5] भक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए भी इनकी अद्वैत विषयक निष्ठा यथावत बनी हैं। 'बृहदारण्यक उपनिषद् में निर्दिष्ट 'ब्रह्मपुच्छ' का इन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पर ब्रह्म ही प्रकृति और पुरुष के रुप में जगत की उत्पत्ति पालन तथा संहार करता है अर्थात् संसार का आविर्भाव, स्थिति तथा तिरोभाव उसी ब्रह्म में ही हुआ करता है। अतः एकमात्र शरण्य वही है। स्वामी जी ने वैदिक यज्ञ-यगादि का केवल समर्थन ही नहीं किया अपितु पशु बलि को यथार्थ मानकर उसका समाधान भी किया है। उन्होंने उसे 'जहरबाद' नामक फोडे .को चिरवा देने से जो सुख व्यक्ति को प्राप्त होता हैं, उसी प्रकार का कल्याणकारी कार्य माना है। जैसे—

**वेद विहित हिंसा कबहूँ नहि बिरावनो।**
**परम सुषद यथा 'जहरवाद' की चिरावनो।**
**राषियै न षैचि यथा कृषि को निरावनो।**
**श्रुति पर हठवाद सिरिफ मूँड को पिरावनो।।[6]**

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी ने वैदिक कर्मकाण्ड की मान्यता का अपलाप न करते हुए यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि रुचि की विभिन्नता के कारण उपासना के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु वास्तव में तीनों मार्गों का लक्ष्य एक ही हैं—

**ग्यानी ग्यान योग ते देखत, देखत हरि सर्वत्र समान।**
**अपने घट में ही हरि पूजत, मानस सकल विधान।**
**तीनउ स्यामहि को अचरज है, अपनी अपनी ठान।**
**रीझत देव समै तीनउ से इनमें का अमरान।[7]**

स्वीमी जी ने साधना के क्षेत्र में ज्ञान उपासना तथा कर्म तीनों को समान मान्यता दी है। शास्त्र प्रतिपादित मर्यादा की अवहेलना इन्हें क्षम्य नहीं है । यही कारण है कि पाप निवृत्ति हेतु इन्होंने स्वयं ही प्रायश्चित का आश्रय लिया, मन शुद्धि, उसकी एकतानता उसके चांचल्य का निरोध जिस भांति हो सके वही मार्ग इन्हें अभीष्ट है।

विद्या के चार चरण माने गये हैं। (1) अध्ययन (2) बोध (3) आचरण (4) प्रचार । स्वामी जी में ये चारों चरण अपनी पराकाष्ठा पर हैं। भविन्त का सिद्धान्त, विरोध समन्वय और ज्ञान की नीरसता को इन्होंने कर्म की क्रिया से आप्लावित कर 'रसो वै सः' का साक्षात्कार किया है। ये उस स्थान पर अवस्थित हैं, जहां कोई भेद नहीं, एक रुपता है, जीवन मुक्ति है और कार्यशीलता भी है।

स्वामी जी को यौगिक क्रियाओं का पूर्णज्ञान था, इनके अनुसार ईश्वर का निवास हृदय कमल में है, जीव प्रकृति है, कण्ठ, बाहु सिर इनके पुरुष का आभास हैं। इनका ध्यान गुद-रन्ध्र से लेकर ब्रह्म-रन्ध्र तक करके ही परमतत्व को जाना जा सकता है। इसका कारण यह है कि 'जब मिलत ज्ञान-अज्ञान तब जग उपजत'' अर्थात ज्ञान तथा अज्ञान इस तरह आपस में मिले हैं कि इनको अलग करना अत्यन्त कठिन है। बिना अज्ञान के नाश के ज्ञान का प्रकाश सम्भव नहीं है। अज्ञान का नाश योग के द्वारा करने के पश्चात साधक देह मन तथा वाणी की पवित्रता प्राप्त करता है। पवित्र मन ही अज्ञान के अन्धकार का नाश कर ज्ञान का प्रकाश बिखेरता है। कोरा ज्ञान ही इसमें समर्थ नहीं हो सकता इसके लिए प्रभु कृपा भी आवश्यक है। वह सर्वतोभावेन परमात्मा के प्रति समर्पण तथा श्रद्धा से ही हो सकती है, यह विषय हृदय का है, बुद्धि केवल ज्ञान द्वारा कर्म का सम्पादन कराकर प्रकृति के तीनों गुणों की विवृत्त अवस्था का बोध कराती है।

**''ज्ञान भ्रमक सौ कर्म कहावत मन इन्द्रिय में आवे।''[9]**

शरीर में योग-क्रिया की आधार-भूमि 'नाभि' है जो एक तार है। आगे सात अंगुल का पेडू-विस्तार है, बारह अंगुल के ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर इन्द्रियों का परिवार है। पेडू के भीतर मीन का निवास है। इस प्रकार शरीर रुपी मंदिर में ही प्रकृति तथा पुरुष दोनों का निवास है। इस रहस्य को बिना समझे इसका अभ्यास नहीं हो सकता ओर बिना अभ्यास के बोध असम्भव है। बोध ही स्वरुपावस्था का सोपान है। प्रत्येक इन्द्रियों के अभिमानी देव भी भिन्न-भिन्न हैं। नासिका में पृथ्वी, नेत्र में भानु, रसना में तथा त्वक् में वायु एवं कानों में गगन का निवास है। इन्हीं का समर्पण कर पूजा के उपचार किये जाते हैं। तभी मनुष्य अपनी मूल अवस्था में अवस्थित हो पाता है। मन से सभी कुछ होता है किन्तु मन अत्यन्त चचंल है, वह किसी भी तरह वश में नहीं आता। साधकों ने इसे वश में करने के लिए अलग-अलग मार्गों का निर्देश किया है—कोई ध्यान लगाता है, कोई मन मारता, कोई हठ करता, तो कोई और उपाय करता किन्तु मन वश में नहीं आता। स्वामी जी की मान्यता है कि मन की चंचलता राम भजन से ही दूर हो सकती है। मन की स्थिति के कारण मनुष्य का दूसरा जन्म होता है। इसमें काल कारण नहीं है क्योंकि देखने में आता है कि सनकादि देवताओं में वृद्धावस्था नहीं होती।[10]

साधक की सांसारिक स्थिति के विषय में भी विभिन्न दृष्टियाँ हैं। ब्राह्मण इसे वेद की आँखों से देखता है, क्षत्रिय भुजाओं के बल से, पशु-पक्षी स्थूल आँखो से, ज्योतिषी इसे ग्रह नक्षत्रों से तथा योगी इसे अपने योग से बल से देखता है। जो अज है उसका जन्म नहीं होता। जन्म तो जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान है। यह भाव है जो जन्मादि के रुप में दीख पड़ता है। अभिप्राय यह है कि ''भावो हि विद्यते देवाः तस्मात् भावो हि कारणम्।'' देवता मनोभावों की मूर्त अवस्था है। उसी की उपासना से शरीर, वाणी तथा मन शुद्ध होकर

अन्तिम निर्वाण की अवस्था को प्राप्तकर मनुष्य कृतकृत्य होता है। वास्तव में 'काम तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है। दोनों में अद्वैत रुप से आलम्बन की प्रतीति होती है। दोनों में 'रसानुभूति' होती है क्योंकि परमात्मा ''रसो वैसः के रुप में उपनिषदों में प्रतिपादित है। वास्तव में तीनो में, अधिकार भेद से, जिसको जो रुचिकर हो, उसका आश्रय लेकर कार्य कर सकता है। इनका आशय यह है कि कर्म से इन्द्रियों का शोधन तथा ज्ञान से बुद्धि का शोधन होता है ''जाको भाव जहाँ दिढ. उपजा, तहँ ताको कल्यान।''[11]

भगवान श्रीकृष्ण को सर्वव्यापक शक्तिमान के रुप में देखते हुए स्वामीजी का मानना है कि वह परमात्मा एक खेल करने वाला खिलाडी. है। उसी ने ब्राह्मणों में वेद, क्षत्रियों में शासन, वैश्यों में धन, नीति तथा बुद्धि कायस्थों, में, गन्ध-ज्ञान चीटियों में, न्याय क्षमता हंसों में, तथा घास-पात को दुग्ध के रुप में बदलने की क्षमता गायों में प्रदान की है, और वही स्वतः कुन्जों में खेल भी रहा है। स्वामीजी ने संत नाभादास, सूरदास तथा भागवत की परम्परा के अनुसार ही भ्रमरगीत तथा वेणुगीत की रचना की है। इससे यह प्रतीत होता है कि स्वामी जी प्रेमारुपा भक्ति के साधक हैं। उनको नित परिवर्तन से व्यथा है। यह भी ध्यातव्य है कि स्वामीने उर्दू के छन्दों तथा उस भाषा के शब्दों का प्रयोग करने में भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई है। स्वामी जी ने औषधि, मास, ऋतु के साथ ही रुपक के माध्यम से पौराणिक मान्यताओं को स्थापित तथा विश्लेषित करने का सफल प्रयास किया है।[12] स्वामी जी शक्ति के भी उपासक थे। इन्होंने कान्ति-देवी (विन्ध्याचल की देवी) को भगवान श्री कृष्ण की बहन माना है और उसे तान्त्रिक रुप का साकार विश्लेषण किया है। इससे भगवती के प्रति इनकी अटूट-निष्ठा तथा सात्विक प्रेममयी सत्ता का भी परिचय मिलता है। स्वामी जी ने साम्प्रदायिक मान्यताओं के कारण होने वाले विवादों का बडे .ही कौशल से समाधान किया है। स्वामी जी की यह मान्यता है कि इस शरीर में यात्रा सम्बन्धी सभी देवताओं का दर्शन सुलभ है। चार अन्तःकरण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा इनके अभिमानी देवता और चौदह-भुवन का व्यापक घेरा इन्हीं 'बयालीस' संख्याओं को ''लिङ्ग'' कहते हैं। जिनका स्पर्श आवश्यक है। दक्षिण मानस तथा उत्तर मानस ही राग-वैराग्य गुण सम्पन्न मन है। इसकी अन्तरगृही अवस्था स्वप्न है, जहाँ वासनाओं का ह्रास होता है वहाँ केवल आनन्द ही आनन्द है। इसीलिए उसे 'आनन्द कानन' कहा जाता है। जहाँ पहुँचकर मन का इन्द्रियों से सम्पर्क छूट जाता है, यही मणिकर्णिका रुपी साधक की उन्मनी अवस्था है, जो स्वंय प्रकाश स्वरुप शिव है। यही धर्म की यात्रा है। इस प्रकार स्वामी जी ने त्याग तथा तपस्या को भी यात्रा का केन्द्र बिन्दु माना है। ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर तथा प्रमाद का त्याग ही मानव को शुभ की ओर अग्रसर करता है। षोडषोपचार पूजा अपने अंगों का अर्पण है। प्रतिक्षण पँचमहाभूत भी शिवपूजन में लीन रहते हैं। यह भावना साधक के मन में बराबर स्थित रहनी चाहिए।

स्वामी ने कहीं-कहीं अपनी दीनता भी प्रकट की है और यह माना है कि मैं कर्मकाण्ड नहीं जानता। मैं तो पशु तुल्य हूँ। आप पशुपति हैं, अतः एक आपका ही भरोसा है। यह है भक्ति तथा श्रद्धा से अपना सर्वस्व सर्मपण जो स्वामी जी की भक्ति भावना का मूर्त रुप है। भगवान शिव का विग्रह ही छः ऋतुओं की पूर्णता है। ये मूर्तिमान ऋतु ही हैं—अतः काल जो अनन्त का द्योतक है, वह शिव ही है। इन्होंने अपने नाम को ही अमृत माना है (देव) अर्थात् सभी बाह्योपचार छोडक़र केवल आत्मराग होना ही इनको अभिष्ट है।[14]

कबीर की भाँति इन्होंने भी वाह्याडम्बर की आलोचना भी की है। किन्तु, इन्होंने काशी निवास को सर्वोत्तम माना है। यह उनके शास्त्रीय दृष्टिकोण के समर्थन का प्रतिफल है। ''माया महा मैं ठगिनी जानी'' की कबीर उक्ति की भांति ही स्वामी जी भी ''नचावति माया सनकारि।''[15] कहकर काम क्रोध आदि को उसके सहचर के रुप में प्रतिपादित किया है। चतुर्दशी को शिवराध्य तिथि मानकर स्वामी जी ने उसकी दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार श्री स्वामी जी ने ज्ञान भक्ति तथा कर्म में परस्पर विरोध न मानते हुए निष्काम क्रिया द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति का विधान मानते हुए इन तीनों को परस्पर सहयोगी तथा पूरक माना है। स्वतंत्र रुप से किसी की भी समाप्ति सम्भव नहीं है।

कबीर आदि संतों ने जहाँ एक ओर निराकर की उपासना पर बल दिया है वहीं दूसरी ओर उन्होंने विग्रहोपासना का खण्डन भी किया है। श्रीस्वामी जी ने ईश्वर की सर्वव्यापकता मानकर उसके विशाल विग्रह की कल्पना किया है। कबीर ने जहाँ काशी को शास्त्रों में प्राप्त प्रतिष्ठा की मान्यता न देकर ''जो कबिरा कासी मरे रामहि कौन निहोरा'' कहकर 'मगहर' तथा काशी को समान माना है, वहीं श्री स्वामीजी ने शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन न कर उसकी प्रतीकात्मक व्याख्या की है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर को शास्त्र ज्ञान अधिक न था तथा उन्होंने ऊपरी रुप को देखकर ही आलोचना की है। स्वामी जी ने परम्परा तथा सम्प्रदाय युगानुरुप अनवच्छिन्न प्रवाहित होने वाली धारा के रुप में देखा है जिसका रुप (from) तो परिवर्तित होता है किन्तु मूल (content) परिवर्तित नहीं होता। अतः वे दादू नानक आदि की अपेक्षा अपनी पद्धति में गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास जी तथा बैखानस सम्प्रदाय के अधिक निकट लगते हैं, क्योंकि इन संतों ने वैदिक धारा का विरोध नहीं किया।

जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, उनके समक्ष एक विवशता भी थी। एक ओर तो इस्लाम का ईश्वर ओर दूसरी और आस्था के केन्द्रभूत मन्दिरों और मूर्तियों का मञ्जन, उन्हें इसके लिए यह मन ही बनाने नहीं देता कि वे परम्पराओं का समर्थन करें, जिनमें कुछ रुढियाँ भी युगानुसार समाहित हो गयी थीं। तुलसी तक आते-आते यह उग्रता समाप्त प्राय थी और लोगों में एक दूसरे को समझने का अवसर भी मिलने लगा था। इस प्रकार स्वामी जी की साधना व्यक्ति निष्ठ होते

हुए भी समन्वयवादी थी तथा लोक कल्याण हेतु प्रवर्तित थी। यही कारण है कि उन्होंने रामनगर में रामलीला की नींव डाली जिससे जनमानस को शुद्ध आचरण तथा कर्त्तव्यनिष्ठा की शिक्षा दी जा सके। स्वामी जी सम्पूर्ण मानव के हित चिन्तक थे। उन्हें किसी धर्म से घृणा नहीं थी। उनके सिद्धान्त पर पं0 रामावतार शर्मा की उक्ति अत्यन्त सटीक बैठती है—

**''दयाभूतसंघे मर्तिदेव देवे,**
**चतुर्वर्गचिन्ता विरोधाद्विरामः।**
**मनः काय वाक् शोधने चैव बुद्धिः,**
**परे धर्मतत्वं विरोधोऽत्रकेषाम्॥''**

## सन्दर्भ सूची


1. कान्ती बिन्दु पृ0 1(अप्रकाशित हस्तलेख द्वारा उद्धृत)
2. विश्वनाथ मंदिर और मणिकर्णिका घाट का सोपान
3. काशी की पाण्डित्य परम्परा- आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ0 792 विश्वविद्यालय प्रकाशन
4. सांख्य तरंग—काष्ठजिह्व स्वामी पृ0 357(हस्तलेख)
5. महाराज काशी नरेश के छोटे भाई श्री भानु प्रताप सिंह जी के बातचीत पर आधारित
6. श्याम सुधा—पृ0 30 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
7. श्याम सुधा—पृ0 74 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
8. श्याम सुधा—पृ0 78 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
9. श्याम सुधा—पृ0 86 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
10. श्याम सुधा—पृ0 94 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
11. श्याम सुधा—पृ0 99 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
12. श्याम सुधा—पृ0 125 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
13. पंचक्रोश सुधा पृ0 91 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
14. पंचक्रोश सुधा पृ0 103 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख
15. पंचक्रोश सुधा पृ0 100 स्वामी जी द्वारा लिखित हस्तलेख


◆

# समकालीन उपन्यासों में दलित विमर्श

*डॉ0 राकेश कुमार राम* *

आधुनिक समय में विमर्शों के इस दौर में दलित विमर्श की बात किये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। यह वह दौर है जिसमें दलित विमर्श के साथ-साथ आदिवासी विमर्श और स्त्री विमर्श के माध्यम से वंचित समूह अपने हक की बात डंके की चोट पर कर रहा है। इसे सुनने के लिए उन लोगों को कान भी देना पड़ रहा जिन्होंने इन्हें इनके हक से वंचित किया। हिन्दी साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। आज हिन्दी साहित्य के हर विधा में इन विमर्शों की अनुगूँज सुनाई पड़ रही है। डॉ0 धर्मवीर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सुशीला टांकभवरे, रमणिका गुप्ता, श्यौराज सिंह बेचैन, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, कंवल भारती, तुलसी राम, डॉ0 एन0 सिंह, कुसुम मेघवाल, माता प्रसाद, रजत रानी मीनू, कौशल्या बैसंत्री, जय प्रकाश कर्दप जियालाल आर्य और प्रेम कपाड़िया आदि इन विमर्शों की पहचान हैं। ये साहित्य के नाम पर अनाप-सनाप लिखने वाले साहित्यकारों को दलितों, आदिवासियों एवं स्त्रियों के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने की बात करते हैं। साथ बढ़ने और एकता का सूत्र गढ़ने की बात करते हैं। दलित विमर्शकार डॉ0 एन0 सिंह के शब्दों में—

**''दुकान हमारी है**
**और तुम्हारी भी**
**ये बात और है कि**
**हमारी दुकान पर बिकता है जूता**
**और तुम्हारी दुकान पर रामनामी**
**हमारे लिये जूते का महत्व वही है**
**जो तुम्हारे लिये रामनामी**
**आओ समानता का तार पकड़े**
**एकता का सूत्र गढ़े, साथ बढ़े।''**[1]

जहाँ तक समकालीन उपन्यासों में दलित विमर्श की बात है तो इसमें सैकड़ों उपन्यासों की रचना की गई, जिसमें प्रमुख रूप से मध्यवर्गीय परिवारों की विसंगतियां, किसानों, मजदूरों का शोषण, साम्प्रदायिकता, ग्रामीण एवं कस्बाई क्षेत्रों का विवरण एवं स्त्रियों के सामाजिक सरोकारों का वर्णन किय गया है। इसमें कुछ ही उपन्यास हैं जिनमें दलित संदर्भ अथवा दलित विमर्श की बात की जा सकती है। इन उपन्यासों में शैलेश मटियानी कृत 'सर्पगंधा', जगदीश चन्द्र कृत 'धरती धन न अपना', नरेन्द्र कोहली कृत 'अवसर', गोपाल उपाध्याय कृत 'एक टुकड़ा इतिहास', दयापवार कृत 'अछूत', भगवतीचरण वर्मा कृत 'सबहि ं नचावत रामगोसाईं, 'रामकुमार भ्रमर कृत 'एक अकेला' एवं श्रीचंद अग्निहोत्री कृत 'नई विसात' आदि को लिया जा सकता है। जिनका प्रकाशन क्रमशः 1979, 1972, 1976, 1975, 1980, 1979, 1980 एवं 1980 ई0 में हुआ था।

दलित विमर्श की दृष्टि से गोपाल उपाध्याय कृत 'एक टुकड़ा इतिहास एक सशक्त उपन्यास है। इस उपन्यास में गोपाल उपाध्याय ने एक दलित स्त्री को प्रमुख नायिका के रूप में ही नहीं, बल्कि एक क्रांतिकारी महिला के रूप में प्रस्तुत किया है। इस महिला की अनेको नारियाँ अनुसरण कर अपने साथ हो रहे शोषण एवं अन्याय के खिलाफ उठ खड़ी होती हैं। 'चुनली' जो इस उपन्यास की नायिका है और दलित वर्ग से सम्बन्धित 'डूम' जाति की है। आठवीं तक पढ़ी-लिखी सुन्दर एवं सुशील है। चुनली के यौवन पर मुग्ध होकर कान्तमणि जो जाति से ब्राह्मण है, उसे अपने घर लाता है और यहीं से उसके साथ सामाजिक प्रताणना की दयनीय सिलसिला की शुरूआत होती है। वह घर के सदस्यों के अलावा गाँव के अन्य सवर्णों द्वारा भी प्रताड़ित होती है। गाँव के लोगों द्वारा प्रताड़ना के रूप में सबसे पहली शुरूआत सार्वजनिक नल से पानी लेते समय होती है। चुनली सुबह-सुबह नल पर पानी भरने के लिए जाती है जहाँ गाँव की अन्य सवर्ण औरतें उसका घड़ा उठाकर फेंक देती हैं। लाचार चुनली खाली घड़ा उठाकर घर चली आती है। उसका पति चाहकर भी कुछ नहीं कर पाता। लेकिन चुनली यहाँ चुप नहीं रहती और दूसरे दिन दरांती लेकर पानी भरने जाती है और गाँव की अन्य औरतों को ललकारते हुए कहती हैं ''जिसने पिया हो अपनी माँ का दूध वह आये अब मेरे नाले पर मुझे पानी भरने से रोकने के लिए। मैं भी नरूआ की लड़की नहीं अगर इसी दरांती से टुकड़े-टुकड़े करके गिण्डा न दूँ। मुझे तो मरना ही है, पर पूरा गाँव लेकर ही मरूँ तो जार और पातर की लकड़ी बताना मुझे।''[2] लेकिन चुनली का पति कान्तमणि जाति चक्रव्यूह की इन प्राचीरों पर सिर पटक-पटककर परास्त हो जाता है और समाज के दबाव में अपनी जाति में सम्मिलित होने के लिये अपने बच्चे और पत्नी चुनली का परित्याग करने को तैयार हो जाता है। इस सम्बन्ध में वह पंचों से कहता है ''जैसी पंचों की राय हो, आप लोग अगर अब भी अपनाने को तैयार हैं, तो मैं चुनली और रतन (अपने बच्चे को) छोड़ सकता हूँ। मुझे अब तिरस्कृत न समझा जाय।''[3]

इस परित्याग के बाद रतन और चुनली इस विस्तृत संसार में निपट असहाय और अकेले रह जाते हैं। उनका अपना कोई भी नहीं होता। न कोई घर न कोई परिजन। अकेले ही संघर्ष करते हुए इस समाज के न जाने कितने सत्य उसके सामने आते हैं। गाँव के मन्दिर का सवर्ण पुजारी बाबा 'प्रयाग गिरि' उससे अपने लिये सहानुभूति प्राप्त करने के लिए पंचायत के फैसले का पोल भी खोल देता है कि कैसे ''कांतमणि से पंचो ने दो हजार रूपये लेकर वापस जाति में लिया है।''[4] हालांकि यह पुजारी भी दिन के उजाले में चुनली को अछूत

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

ठहराया करता था और रात्रि में अपने लिये सहानुभूति चाहता था। चुनली इस समाज से संघर्ष करते हुए एक गाँव में अध्यापिका बन जाती है, लेकिन गाँव के सवर्ण उसे इस रूप में स्वीकार नहीं करते। गाँव के लोग कहते हैं ''सरस्वती के मंदिर में डुमणी को रखने के लिए तैयार नहीं है। उनके अपने बच्चे, बीठ-ब्राह्मण की कन्यायें, अम्बा-आम्बेक, अम्बालिका सी पवित्र कन्याएँ, डूमणी से दान लें? डूमणी को सिर झुकाकर प्रणाम करें, जीवन भर डूमणी की शिक्षा पर जियें और नतमस्तक रहें।''[5] यहाँ पर भी चुनली को ठौर नहीं मिलता। वह प्रयागगिरी जैसे पाखण्डी से अपनी इज्जत बचाते हुए कांग्रेस कमेटी के अल्मोणा दफ्तर चली जाती है, जहाँ उसे हरिजन महिलाओं में जागृति फैलाने का काम सौंपा जाता है। वह यहाँ रहते हुए दलित महिलाओं के लिए आन्दोलन चलाती है और समता आश्रम के माध्यम से हरिजनों के बच्चों को सुसंस्कृत एवं संघर्षशील बनाने में जुट जाती है।

चुनली को यहाँ भी सवर्णों का कोपभाजन बनना पड़ता है। सवर्ण ईर्ष्यावश समता आश्रम में आग लगा देते हैं, जिसमें दलित बच्चों की पुस्तकें व अन्य सामान जलकर खाक हो जाते हैं। चुनली यहाँ पर भी हार नहीं मानती और पूरे साहस के साथ सभ्य समाज वाले सवर्णों को ललकारते हुए कहती है ''आज सब चुप हैं, जानवरों की बजाय उस पाँच नाली जमीन में कुछ आदमियों के बच्चे इनसान बन रहे हैं तो क्या यह बड़ा घटिया काम हो रहा है..... और फिर आश्रम का नाम समता आश्रम है। इसमें बीठों के बच्चों के प्रवेश के लिए प्रतिबन्ध नहीं है। यह समता आश्रम सबके लिये खुला है। मैं इसलिए संस्था पर जान दे रही हूँ।''[6]

समय का चक्र चलता है और एक दिन चुनली को कान्तमणि के घायल होने की सूचना मिलती है। चुनली न चाहते हुए भी कान्तमणि के पास जाती है और उसकी सेवा-सुश्रुवा करती है। चुनली के इस सेवा-भाव को देखकर कांतमणि को अपने किये का पश्चाताप होता है, जिसके स्वरूप वह चुनली को एक बार पुनः अपनी पत्नी और रतन को अपना बेटा मानता है। साथ ही साथ अपनी जमीन-जायदाद व घरबार का उसे वारिस बना देता है। लेकिन चुनली के साथ बहुत बड़ी अनहोनी होती है। इसके सेवा-सुश्रुवा के बावजूद कान्तमणि की मृत्यु हो जाती है जिससे उसके भाई-बन्धुओं को एक बार फिर चुनली के खिलाफ षड़यंत्र करने का अवसर मिलता है। वे चुनली को डरा-धमकाकर कान्तमणि के घर से भगाने का प्रयास करते हैं, जिससे अजिज आकर वह कहती है ''कान खोलकर सुन लो! मैं डुमणी हूँ, चाहे बिठणी पर कान्तमणि की बीबी हूँ और इसी घर में रहूँगी। रहूँगी और रहूँगी। देखती हूँ तुम्हारी बाजुओं में कितना जोर है। अपने पति के घर में हूँ। कोई तुम्हारी देहरी पर नहीं पड़ी हूँ। तुम होते कौन हो मेरे पति की जमीन हड़पने वाले। मेरे घर में, खेत में जाओगे तो रतन की कसम खाकर कहती हूँ गरदन झाड़कर रख दूँगी।''

हालांकि उपन्यास के अंत में चुनली का दुःखत अंत होता है। उसके मरने के बाद उसे जलाने भी कोई नहीं आता। उसे जमीन में ही दफना दिया जाता है। यही है इस खोखले समाज का चेहरा जहाँ बेहतर समाज के लिये लड़ने वाली चुनली को जलाने के लिए लकड़ियाँ तक नसीब नहीं होती। लेकिन चुनली की मृत्यु के बाद भी उसका संघर्ष समाप्त नहीं होता। उसका बेटा रतन इस लड़ाई को चालू रखने के लिए आगे सन्नद्ध होता है।

जगदीशचन्द्र कृत उपन्यास 'धरती धन न अपना' (1972 ई0) का वर्ण्य-विषय शिवालिक घाटी में पंजाब के होशियारपुर जिले के 'घोड़ीवाहा' गाँव में चमादड़ी का मोहल्ला और उसमें बसे चमारों का जीवन है। इनके जीवन को उपन्यासकार ने बड़े ही यथार्थ रूप में चित्रित किया है। 'काली' जो उपन्यास का प्रमुख पात्र है, जिसके घोड़ीवाहा आगमन के साथ उपन्यास का प्रारम्भ होता है और वहाँ से उसके पलायन के साथ ही इसका अन्त होता है। चमादड़ी के दलित सर्वहारा हैं, जिनके पास शरीर के शिवाय कोई और पूँजी नहीं है। दुर्भाग्य से इस शरीर पर भी उनका अधिकार नहीं है। गाँव के सवर्ण चौधरी कभी भी किसी निरपराध चमार को पीट देते हैं और दलित स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं। दलित स्त्री-पुरूष सवर्णों के घरों एवं खेतों में काम करके मजदूरी की बजाय बासी रोटियाँ पाते हैं। काली इन लोगों को संघर्ष की राह पर खड़ा करता है लेकिन वे दो कदम आगे चलकर पुनः गिर पड़ते हैं। ये इस नारकीय, पशु से भी बदतर जीवन को अपनी नियति मान लिया है।

दलितों के इस चमादड़ी मुहल्ले में पारम्परिक साहचर्य अथवा सुख-दुःख में साहचर्य की भावना भरी हुई है। लेकिन यहाँ की गरीबी, मजदूरी, फटेहाल जिन्दगी एवं विषमता नाते-रिश्ते को तोड़ती है। उपन्यास की नायिका 'ज्ञानों का चरित्र बड़ा ही संघर्षशील है जो काली के प्रेम में मार खाकर, बेईज्जती सहकर भी साथ नहीं छोड़ती। यहाँ तक कि इसी साथ के लिए माँ के हाथों जहर की गोली खाकर जान भी दे देती है। रचनाकार चमादड़ी मुहल्ले की विसंगति को भी दिखाता है जहाँ मजबूरीवश ही सही चोरी, निन्दा और चुगली का बाहुल्य हो गया है। इस सम्बन्ध में बाबा फत्ते यों ही नहीं कहता कि ''इस मोहल्ले में शराफत नहीं रही। .... यहाँ अब लुच्चा, गुण्डा चौधरी और गुण्डी औरतें प्रधान हैं।'[8] अभाव की स्थिति यह कि चमगादड़ी के लोगों को दूध और छॉछ भी घोर विलासिता की वस्तुएँ हैं। पैसे देकर भी दूध नसीब नहीं होता। नहीं तो तायी 'निहाली' को दवा के रूप में दो घूँट चाय के लिये यह नहीं सोचना पड़ता कि ''घर में गुड़ तो है, चाय की पत्ती भी मिल जायेगी लेकिन दूध कहा से आयेगा। चौधरी के घर से लस्सी भी बहुत मुश्किल से मिलती है, दूध कौन देगा।''[9]

शहर से लौटा काली, जो थोड़ा सा प्रगतिशील भी हो गया है, चौधरियों के हर ज्यादती का विरोध करता है। लेकिन चौधरियों के साथ-साथ गाँव के कुछ लोग भी काली के इस प्रखरता का विरोध करते हैं। यहाँ तक कि जब काली पक्का मकान बनाने की सोचता है तो

उसकी चाची को भी चिंता होती है कि ''छोकरे को क्या हो गया है। वह अनहोनी बातें क्यों करने लगा है? भला आज तक इस मुहल्ले में किसी ने मकान को पक्की ईंटे लगाई है। चाची ने मन ही मन में मन्नत मानी कि काली ऐसी बातें सोचना छोड़ दे।''[10] अन्ततः काली गाँव और चौधरियों के षड़यन्त्र से पक्का मकान नहीं बनवा पाता। रहा-सहा कच्चा मकान भी ढह जाता है। उपन्यास में काली और ज्ञानों ही जाति के जकड़न में फँसी गाँव की सामाजिक व्यवस्था से लड़ते हैं। इस व्यवस्था से लड़ते हुए उन्हें जान भी गँवाना पड़ जाता है। जहाँ ज्ञानों मजबूर माँ के ही हाथों जहर खाकर मर जाती है तो काली गुमनाम मौत का शिकार होता है। काली के गाँव छोड़कर चले जाने के तीन माह बाद कोई खबर लाया कि 'भोगपुर और चुलांग के स्टेशनों के बीच रेल के फाटक से थोड़ी दूर परे रेलगाड़ी के पहिये ने किसी युवक के सिर और चेहरे को कुचल दिया और मृतक को पहचानना मुश्किल है, लेकिन सुना है कि उसका धड़ काली से मिलता-जुलता है।''[11]

इस तरह जगदीशचन्द्र ने इस उपन्यास के माध्यम से पाठक की करूणा और आक्रोश को जगाया है लेकिन सम्पूर्ण हृदय से परस्पर प्यार करने वाले काली और ज्ञानों के सम्बन्ध और लच्छो-प्रसिन्नि आदि के जाटों से अवैध सम्बन्धों के बीच कोई अन्तर नहीं दिखा पाता। दलित की गरीबी से लाभ उठाकर उनकी इज्जत से खेलने के कुकर्म और तन-मन की अन्तःप्रेरणा से हुए स्त्री-पुरूष के सम्मिलन के अन्तर को भी लेखक नहीं दिखा पाता, जो खटकता भी है लेकिन जातिगत संस्कारों, सामाजिक मान्यताओं की कठोर जकड़नों, विभिन्न कटुताओं से घिरी दलितों की इस अभिशप्त जिन्दगी की व्यथा-कथा कहने में लेखक ने बड़ी निस्संग एवं बेलाग सोच का परिचय दिया है।

नरेन्द्र कोहली द्वारा लिखित 'अवसर' (1976) रामकथा पर आधारित एक ऐसी उपन्यास श्रृंखला है जो मर्यादा पुरूषोत्तम राम तथा अन्य पात्रों को आधुनिक संदर्भों में प्रगतिशील तथा जीवन्तता का प्रतीक बना देती है। इस उपन्यास में लेखक ने मानवीय संवेदना का गहन और सटीक चित्रांकन किया है। इस उपन्यास में सड़ी-गली मान्यताओं, परम्पराओं एवं रूढ़ियों का विरोध किया गया है। इसमें मर्यादा पुरूषोत्तम राम के माध्यम से समाज में नई चेतना का शंखनाद किया गया है। लेखक ने उपन्यास में दलित संदर्भ की शुरूआत राम के वनआगमन के पश्चात् किया है। राम जब बाल्मीकि आश्रम पहुँचते हैं और आश्रम के परिवेश के बारे में पूछते हैं तो ऋषि उसे असुरक्षित बताते हैं। लेकिन सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न देखकर जब राम इस संदर्भ में पूछते हैं तो ऋषि अपनी सार्वभौमिकता का परिचय देते हुए कहते हैं ''हम दलित, दमित पीड़ित प्रजा को जाग्रत करने, उसे उसके अधिकारों के प्रति सचेत कराने, उसे पशुता के धरातल से उठाकर मनुष्य के धरातल पर लाने का कर्म करते हैं।''[12] यहाँ ऋषि बाल्मीकि की बातों से स्पष्ट होता है कि जो जितना शोषित और पीड़ित होगा, उसके मन में अत्याचार और शोषण के विरूद्ध उतनी ही उग्र ज्वलन्त अग्नि धधक उठेगी और वह न्याय का उतना ही समर्थक होगा।

उपन्यास में दलित स्त्री 'सुमेधा' और सीता के इस वार्तालाप में भी दलित विमर्श को देखा जा सकता है। सीता कुछ दिन पहले सुमेधा के अचानक भाग जाने का कारण पूछती हैं तो वह बताती है, मुझे स्वामी के लिये जल ले जाना था अगर देर हो जाती तो वह मार-मार कर मेरी हड्डियाँ तोड़ देता। सीता के यह पूछने पर कि तुम्हारा पति ऐसा करता है तो वह कहती है ''नहीं! वह मेरा स्वामी, मेरे पिता का स्वामी, इस वन का स्वामी है।''[13] सीता चकित सी सुमेधा से कहती है ''एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का स्वामी कैसे हो सकता है? ..... प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में जन्म लेता है और स्वतंत्र रूप से जीवन यापन करता है। उसका कोई स्वामी कैसे हो सकता है? क्या तुम्हारे यहाँ अभी तक दास-प्रथा प्रचलित है।''[14] यहाँ उपन्यासकार भी आश्चर्य प्रकट करता है कि कोई भी व्यक्ति अथवा किसी भू-भाग का स्वामी कैसे हो सकता है? क्या यह धरती उसने बनाई है। धरती पर रहने वालों की चाहे वह सवर्ण हो अथवा दलित, सामूहिक सम्पत्ति होती है। वन, नदियाँ, पर्वत तथा खाने यह सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होती है। मालिक अथवा शासन तो सिर्फ जनता की ओर से उसका प्रबन्ध करता है।

उपन्यासकार ने कर्म करने की प्रचलित अवधारण को भी इस उपन्यास में तोड़ा है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि जातीय व्यवस्था में सभी लोगों के अपने सामाजिक व्यवस्था के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है। व्यवस्था से इतर कार्य करने पर दण्ड का भागी होना पड़ता है। उपन्यास के एक दलित पात्र 'तुम्हरण के कथन कि ''मेरा दादा कुम्भकार था, बाप कुम्भकार था, मुझे भी कुम्भकार बनना पड़ेगा। मैंने कुछ और बनने का तनिक भी प्रयत्न किया तो वह मुझे आवे में पकाकर मार डालेगा। यहाँ तक कि मुझे बर्तन छोड़ मिट्टी के खिलौने भी नहीं बनाने देगा।''[15] अर्थात् दलित अपने कर्म से इतर कोई कार्य नहीं कर सकता था लेकिन प्रगतिशील लेखक राम के माध्यम से इस व्यवस्था का विरोध करते हैं और दलितों को अपनी आत्मरक्षा के लिये राम से शस्त्र की शिक्षा दिलाते हैं। हमारी समाज व्यवस्था ऐसी है जहाँ जाति, धर्म, सम्प्रदाय में लोग बँटे हैं। या यों कहें कि बाटा गया है, जिसमें सबसे निचले पायदान पर स्थित दलित, अछूत नारकीय जीवन जीने के लिए बाध्य है। लेखक उपन्यास में इस व्यवस्था को भी नकारता है और राम के माध्यम से इसका विरोध करता है। उपन्यास में राम के आग्रह पर दलित 'झिंगुर' के बच्चे राम के साथ खाना खाने बैठ जाते हैं तो झिंगुर अपराध बोध से ग्रस्त होकर राम से कहता है कि ''भद्र राम इन बच्चों का अपराध क्षमा करना। ये लोग भोजन की इच्छा से आप के साथ बैठ गये हैं। कड़ी भूख ने इनकी बुद्धि असंतुलित कर दी है। हम जाति के भील हैं। भद्र और स्थिति से तुम्हरण के दास! हम आप के साथ भोजन कैसे कर सकते हैं।''[16] इस पर राम कहते हैं ''बाबा इसे भूल जाओं कि तुम्हें क्या बताया गया है, कि तुम क्या हो। याद केवल यह रखो कि तुम एक मनुष्य हो, वैसे ही अन्य मनुष्य हैं। बड़े-छोटे,

ऊँच-नीच, दास-स्वामी जाति के सम्बन्ध मनुष्य निर्मित हैं और उसका निर्माण उन्होंने किया हैं जिन्हें उनसे कोई लाभ है। मैं मनुष्य में मानवीय सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं मानता।''[17] आज स्थितियाँ बदल रही हैं। पुरानी मान्यताएँ टूट रही हैं, लेकिन कुछ बुद्धिजीवी आज भी पुरानी मान्यताओं को सही ठहराने का प्रयत्न करते हैं, ताकि वे अपना मतलब निकाल सकें। लेखक ऐसे बुद्धिजीवियों से दलितों को सावधान करते हैं और कहते हैं ''सावधान मित्रों, बुद्धिजीवी होने के अहंकार में जनसामान्य से दूर मत हो जाना अन्यथा तुम शोषकों के हाथ के खिलौने बन, जनसामान्य के शत्रु हो, क्रान्ति की प्रक्रिया की सबसे बड़ी बाधा बन जाओगे।''[18]

'दयापवार' कृत 'अछूत' (1980) बहुचर्चित अत्मकथात्मक उपन्यास है जो पाठक को लेखक की नई दुनियाँ से परिचित कराता है। यह यथार्थ की दुनियाँ हैं जहाँ उपन्यासकार पात्र तथा भोक्ता दोनों है। इस उपन्यास में दलित जाति में जन्में लेखक की पीड़ाओं का अंकन भर नहीं है बल्कि अछूत जाति का झकझोर देने वाला यथार्थ चित्रण भी है। उपन्यास के आरम्भ में ही लेखक कहता है—

**''दगडू मारूति परिवार**
**के हिस्से आई**
**दुःखों की यह बनिहारी**
**भारतीय समाज व्यवस्था ने**
**उसकी झोली में डाली।''[19]**

उपन्यास का नायक जातीय बोधक नाम को लेकर ही सबसे ज्यादे परेशान है। वह यह सोचकर परेशान है कि यह घृणित नाम हम दलितों के ही जिम्मे क्यों आता है? यही नहीं धरती के जिस टुकड़े पर जन्म लिया, वहाँ सभी दलितों के इसी प्रकार के नाम हैं—कचरू, धोड्या, सटवा, जबा... सब इसी तरह। किसी माँ ने बड़े प्यार से गौतम नाम रखा कि उसका तत्काल गवत्या हो जाता है।''[20]

ऐसा यूँ ही नहीं है, बल्कि यहीं इस देश की परम्परा रही है। ब्राह्मणवादी ग्रंथ 'मनुस्मृति' में दलितों के नाम इसी प्रकार तुच्छतादर्शी हैं। वही ब्राह्मणों के नाम विद्याधर, क्षत्रियों के बलराम और वैश्यों के लक्ष्मीकांत। यह जातीय विसंगति यही तक नहीं है बल्कि वह जैसे-जैसे आगे बढ़ता है उसका जातीय शोषण वैसे ही वैसे बढ़ता रहता है। जब वह स्कूल जाना शुरू करता है तो सवर्ण सहपाठी यहाँ तक कि ब्राह्मण मास्टर भी उसके साथ गलत व्यवहार करते हैं। स्कूल से सम्बन्धित सार्वजनिक कार्यों से भी दलितों को अलग रखा जाता है। उसे तकलीफ होता है। इस शोषणवादी व्यवस्था में उसे महसूस होता है कि उसका परम्परावादी जीवन (ढोर चराना) ही सही है जहाँ इस जातीय डंक का एहसास नहीं होता—

**''किताबों से क्योकर पहचान हुई?**
**अच्छी थी गोशाला, नदियों के किनारे**
**गाँव के ढोर चराये होते**
**ऐसे डंक तो न डँसते।''[21]**

वैसे भी दलितों का शिक्षित होना मनुवादियों को बिल्कुल नहीं भाता, क्योंकि यदि वह पढ़-लिख लेगा तो उसकी गुलामी कौन करेगा। इसीलिए वह दलितों के माता-पिता को उन्हें न पढ़ाने के लिए उल्टी-सीधी सलाह देकर भ्रमित करता है। उपन्यास में महारवाड़ा के 'उमा दादा' भी लेखक की माँ को यहीं उल्टी-सीधी सलाह देता है ''सखू! लड़के को क्यों स्कूल भेजती है? वह क्या ब्राह्मण है? गली-कूचे घूमेगा और दाना-पानी कमा लेगा। नहीं तो जायेगा ढोर चराने। चार पैसा पायेगा। तुम्हारे नोन-तेल की व्यवस्था हो जायेगी।''[22]

गुलाम मानसिकता अथवा आर्थिक मजबूरी के कारण दलित बड़ा होने की कल्पना नहीं कर पाते। ज्यादा से ज्यादा चपरासी अथवा सिपाही हो जाये यही उनके लिए बड़ी बात है। यही बात लेखक के मन में भी चलता है कि ''महारिन के मन में अपने बेटे के लिए कौन से सपने होते हैं? यही कि वह चपरासी हो या सिपाही। पर ब्राह्मण की इच्छा होती है उसका बेटा कलेक्टर बने! ऐसी इच्छा महार की माँ की क्यों नहीं होती।''[23]

गाँवों की जातीय संदर्भ की नीति बिल्कुल अलग है। यहाँ सवर्ण अछूत दलितों से सारे कार्य करा सकते हैं, जिसमें उन्हें छूत नहीं लगती, लेकिन खाना खिलाने में छूत लगती है। जैसे महारवाड़ा के कुछ दलित धनवान सवर्ण किसानों के पास मजदूरी पर कार्य करते हैं। ऐसे समय में उनका सम्पर्क मराठा स्त्रियों से होता है। ये स्त्रियाँ दलित मजदूरों का अपनी शारीरिक भूख मिटाने के लिए उपयोग करती हैं लेकिन पानी या रोटी देते समय ऊपर से देती हैं। उन्हें वे स्त्रियाँ अछूत समझती हैं।''[24]

इस तरह इस उपन्यास में दया पवार ने अपनी स्वयं की पीड़ाओं के माध्यम से सम्पूर्ण दलितों के दुःख को व्यक्त किया है साथ ही साथ अपनी संघर्ष चेतना के माध्यम से दलितों में एक नई प्रेरणा दी है। 'रामकुमार भ्रमर' द्वारा लिखित 'एक अकेला' (1980) उपन्यास में भी दलितों को जातीय अहंकार का शिकार होना पड़ता है। इस उपन्यास में जब एक दलित युवती 'सरस्वती' जिला न्यायाधीश बनकर आती है तो गाँव के जाहिल और गँवार ठाकुर उस उच्च शिक्षित एवं प्रशासनिक महिला के प्रति भी अपमानजनक शब्द का व्यवहार करते हैं। सरस्वती के सम्बन्ध में उनका वार्तालाप कुछ इस प्रकार होता है—

**''सुना है चमट्टी है।**
**''..... चमट्टी भले ही हो, है तो कलेक्टर**
**''यो समझो कि सुअरनी के शरीर पर सुरसति की फोटो चिपकी है।''[25]**

गाँव के इन सवर्ण ठाकुरों का कथन उनके मानस में संचित उस परम्परावादी कुंठा को प्रकट करता है, जिसमें मनुवादी ताकतें दलितों को आगे नहीं बढ़ने देना चाहती। यह कुंठा ऊँच-नीच के मिथ्या दम्भ के कारण भारतीय समाज के मानस में आज भी जमी हुई है। गाँव का

तथाकथित सवर्ण समाज आज भी नहीं चाहता कि दलित पुरूष अथवा स्त्री योग्य एवं उच्च शिक्षित बने। वह उनकी प्रगति के मार्ग में हमेशा बाधक बनता रहा है। लेकिन दलित समाज भी उनसे संघर्ष करते हुए आगे बढ़ता रहा है। लेखक ने दलितों के इस संघर्ष को इस उपन्यास में बखूबी दिखाया है।

इसी तरह श्रीचन्द्र अग्निहोत्री कृत ''नई विसात'' (1980) में भी दलित विमर्श की बात की गई है। मुंशी भैया जो उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं, वकालत छोड़कर हरिजनों के लिए आश्रम चलाते हैं। दलितों को पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाते हैं। मुंशी भैया का सहयोगी दलित 'मातादीन' अपनी लड़की रामकली को पढ़ाता है। रामकली की अल्पायु में ही शादी हो जाती है। लेकिन जब उसके ससुराल के लोग गौना कराने की बात करते हैं तो मातादीन इनकार कर देता है। इस संदर्भ में पंचायत होती है। सरपंच जब रामकली के गौना न करने का कारण पूछते हैं तो वह कहता है ''पंचों बिटिया अभी पढ़ रही है। आठ दर्जा पास कर ले तो .... सरकार अपनी है। मान लो लड़की पढ़-लिख कर कहीं .... किसी स्कूल में लग जाय।''[26] मातादीन के इस उत्तर पर एक सरपंच कहता है ''मातादीन यह बताओ, बाभन ठ्ठाकुर पढ़ायेंगे अपने बच्चे चमाररिन से।''[27] पंच द्वारा कहे गये उक्त कथन से भारतीय समाज की सच्चाई उजागर होती है। गाँवों में जहाँ आज भी जिन स्कूलों में अध्यापक या अध्यापिकाएँ चमार अथवा अछूत हैं उन स्कूलों में पढ़ने वाले सवर्ण बच्चों के माँ-बाप उन अध्यापक-अध्यापिकाओं को नीची जाति का बताकर उनमें छुआछुत की गन्दगी भरते हैं। उपन्यास की एक घटना इसका उदाहरण हैं जिसमें दलित मातादीन की अनुपस्थिति में शमशेर रामकली के घर आता है। वह मातादीन के बारे में कुछ पूछकर वापस चला जाता है। किन्तु गाँव के लोग इसका गलत अर्थ लगाकर रामकली को बदनाम कर देते हैं और जातीय पंचायत इसके लिए मातादीन को बिरादरी से अलग कर देती हैं। दुर्भाग्य से इन सबके लिए सारा दोष रामकली की शिक्षा को दिया जाता है। इस पर रामकली की माँ क्रोधित होकर कहती हैं'' ये बाभन-ठाकुर हमारी इज्जत मरजाद कुछ नहीं समझते हैं। मुंशी भैया जुग-जुग जिये। हम चमार-पासी आदमी बन रहे हैं। बाभन ठ्ठाकुर जलते हैं। ..... चाहते हैं आल-अलौद जन बच्चे से गोबर उठायें, गोरू-चरावें और लत्ता लपेटे रहें।''[28]

इस तरह इन समकालीन उपन्यासों में उपन्यासकार यथार्थ के साथ-साथ एक प्रगतिशील विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं कि दलितों के उन्नति करने से जिनके हितों पर चोट पहुँचती है वे लोग अर्थात सवर्ण उनसे घृणा करेंगे ही और उनकी प्रगति में बाधक बनेंगे ही, क्योंकि उनका अस्तित्व ही जातीय व्यवस्था के कारण है। उनकी उच्चता, जिसका वे दम्भ भरते हैं दलितों के शिक्षित होने अथवा आगे बढ़ने से समाप्त हो जायेगी। फिर वह किनपर शासन करेंगे। इसी तरह 'सबहि नचावत राम गोसाई' एवं 'सर्पगंधा' में भी दलित संदर्भ की बात की गई है जिसे पूरी तरह दलित विमर्श तो नहीं कहा जा सकता लेकिन दलितों के लिए एक सकारात्मक पहलू जरूर है।

**संदर्भ-सूची**


1. उत्तर-प्रदेश : दलित विशेषांक (पत्रिका), सितम्बर-अक्टूबर-2002, सं0 शरण कुमार लिंबाले, पृ0-12
2. एक टुकड़ा इतिहास : गोपाल उपाध्याय, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली-1975, पृ0 11-12
3. वही, पृ0-60
4. वही, पृ0-62
5. वही, पृ0 85-86
6. वही, पृ0-166
7. वही, पृ0-275
8. धरती धन न अपना : जगदीशचन्द्र, आधार प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, पंचकुला, हरियाणा-2013, पृ0 -99
9. वही, पृ0-27
10. वही, पृ0-30
11. वही, पृ0-267
12. अवसर : नरेन्द्र कोहली, हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली-2004, पृ0-94
13. वही, पृ0-109
14. वही, पृ0-110
15. वही, पृ0-114
16. वही, पृ0-121
17. वही, पृ0-122
18. वही, पृ0-174
19. अछूत : दया पवार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2010, पृ0-05
20. वही, पृ0-11
21. वही, पृ0-36
22. वही, पृ0-44
23. वही, पृ0-45
24. वही, पृ0-74
25. एक अकेला : रामकुमार भ्रमर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2010, पृ0—9-10
26. नयी विसात : श्रीचन्द्र अग्निहोत्री, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-2009, पृ0-41
27. वही, पृ0-41
28. वही, पृ0-41


◆

# धम्मपद और श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म

*डॉ0 अनामिका सिंह* *

## अध्यात्म का स्वरूप

अध्यात्म का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अधि+आत्मनि = अध्यात्म। अर्थात् आत्मा को अधिकृत कर किया जाने वाला विचार और व्यवहार अध्यात्म है। उक्त परिभाषा में जिस आत्मा की बात कही गई है वह आत्मा प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशुद्ध सत्त्व है। सात्विकता की यही अनुभूति व्यक्ति की सबसे बड़ी पूंजी है और इसी के प्रकाश में जीने का नाम—आध्यात्मिक जीवन है। अतः स्वाभाविक है कि व्यक्तिभेद से अध्यात्मभेद होता है। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार धर्म, दर्शन के सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्त्व और तदनुसार संचालित जीवन सोपाधिक है। जबकि अध्यात्म निरुपाधिक होकर अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र है। भारतीय वाङ्मय में स्वतन्त्ररूप से अध्यात्म के प्रतिपादक ग्रन्थों की संख्या स्वल्प है। फिर भी कुछ धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों में अन्य विषयों के साथ न्यूनाधिक रूप में अध्यात्म का स्वरूप कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूप में देखा जा सकता है। इसी तथ्य के दो उदाहरण हैं—धम्मपद और श्रीमद्भगवद्गीता जो क्रमशः बौद्ध और वैदिक विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

किसी भी ग्रन्थ को अध्यात्म की संज्ञा देना इसलिए कठिन कार्य है क्योंकि वहाँ यह परीक्षा आवश्यक होती है कि वह ग्रन्थ अपनी साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि से कितना ऊपर उठकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक विचार और व्यवहार की कितनी बात करता है तथा वह ग्रन्थ व्यक्ति के अपने पूर्ण और स्वतन्त्र आत्मतत्त्व की ध्वनि को सुनने में कितना सहायक होता है। धम्मपद और गीता इस कसौटी पर जितने प्रतिशत सफल होंगे उतने ही प्रतिशत में इन ग्रन्थों को आध्यात्मिक मानना उचित होगा।

## धम्मपद में अध्यात्म

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि अध्यात्म का केन्द्र आत्मतत्त्व है। बौद्ध मत जब अनात्मवादी[1] के रूप में ख्यात है तब इसे आध्यात्मिक नहीं होना चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। बुद्ध और बुद्ध की देशना पर आधारित समस्त बौद्ध चिन्तन का आधार ही अध्यात्म है। बुद्ध-देशना का सार-धम्मपद[2] इसका जीवन्त प्रमाण है अर्थात् धम्मपद से वैदिक आध्यात्मिक चिन्तन का आधारभूत तत्त्व नित्य आत्मा तो नहीं है लेकिन आत्मस्थानीय तत्त्व के रूप में यहाँ क्षणिक चित्त अथवा मन को महत्त्व दिया गया है तथा इसे पूर्ण व स्वतन्त्र मानकर[3] इसके आधार पर भवसागर को पार करने की बात कही गई है।[4] संक्षेप में, यह चित्त अथवा मन ही धम्मपद के आध्यात्मिक चिन्तन का आधार है। दूसरे, धम्मपद की संज्ञा में धम्म अथवा धर्म व पद शब्द से भी जिस सद्धर्म, शील, सदाचार, कुशल कर्म अथवा सज्जनों के द्वारा पालनीय व नित्य करणीय कर्त्तव्य को बताया गया है वह वस्तुतः चित्त की विशुद्धि का मार्ग है।[5]

धम्मपद यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर उसका शुद्ध, शान्त व सात्विक चित्त विद्यमान है। किन्तु अनादि तृष्णा अथवा वासना (ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि) के कारण चित्त की यह सात्विकता विकृत हो जाती है। विकृत चित्त कामभोगों की तृप्ति के लिए कृत्य-अकृत्य का ध्यान नहीं रखता तथा शोक और भय से युक्त हो जाता है।[6] शोकाकुल व भयाक्रान्त चित्त से किया गया समस्त व्यवहार न केवल व्यक्ति[7] पर अपितु उसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज पर भी दुष्प्रभाव डालता है। दूसरे शब्दों में, अस्थिर चित्त वाला व्यक्ति अधर्म का पालन कर सांसारिक आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है और निर्वाण लाभ नहीं कर पाता।[8] धम्मपद कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने से चित्त को निर्मल करने का प्रयास करना चाहिए[9], वर्तमान, भूत, भविष्य की चिन्ता किए बिना सद्धर्म का पालन करना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह जन्म-जरा के चक्र से मुक्त हो सकेगा।[10] और उसका चित्त निर्मल होकर पूर्ण शान्त हो जाएगा अर्थात् निर्वाणपद को प्राप्त कर लेगा।[11] चित्त की यह निर्मलता अथवा उसकी शान्ति ही धम्मपद के आध्यात्मिक चिन्तन का लक्ष्य है।

चित्त केन्द्रित इस आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए धम्मपद में कहा गया है कि—व्यक्ति को दूसरों के कहे विरोधी वचनों, उनके द्वारा बताए गए कृत्य-अकृत्य की दुविधा में नहीं उलझना चाहिए।[12] क्योंकि व्यक्ति कुशल-अकुशल कर्म स्वयं ही करता है। अतः उसकी शुद्धि-अशुद्धि भी उसके स्वयं के द्वारा सम्पादित होनी चाहिए न कि किसी अन्य के द्वारा[13]। अर्थात् व्यक्ति का चित्त ही उसके कर्मों का स्रष्टा, नियन्ता व पालनकर्ता है। अतः उसे अपने चित्त को संयमित करने का प्रयास करना चाहिए।[14] चित्त के संयम के लिए किसी नित्य तत्त्व अथवा ईश्वर को मानने की तथा उसकी अनुकम्पा की प्राप्ति के लिए सम्प्रदायानुसार निर्दिष्ट कर्मकाण्ड करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[15] क्योंकि यज्ञ, हवन आदि व्यक्ति को स्वर्गादि का सुख तो दिला सकते हैं किन्तु नैसर्गिक दुःख से चित्त को ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति दिलाकर शान्त नहीं कर सकते।[16] अतः पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति को छोड़कर[17], मन, वाणी और वचन से संयमित होकर[18] चित्त को पूर्णतः मलरहित बनाने का प्रयास करना चाहिए।[19] ऐसे उत्तम चित्त वाला पुरुष, वर्ण, जाति, लिंग, सम्प्रदाय की सीमाओं में आबद्ध होकर के समाज-कल्याण का दावा नहीं करता, प्रचार नहीं करता अपितु अन्य व्यक्ति और समाज स्वतः ही उससे लाभान्वित होते हैं।[20] संक्षेप

* शोध अधिकारी, बौद्ध अध्ययन केन्द्र, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

में, ऐसे निरुपाधिक, पूर्ण व स्वतन्त्र चित्त का चिन्तन ही धम्मपद का आध्यात्मिक चिन्तन है अथवा उसके आध्यात्मिक चिन्तन का वैशिष्ट्य है।

## श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म

अध्यात्म की परिभाषा के अन्तर्गत कहा जा चुका है कि अध्यात्म, धर्म, दर्शन से पृथक् व स्वतन्त्र शास्त्र है। इसमें निहित आत्मतत्त्व का स्वरूप धर्म-दर्शन के आत्मतत्त्व से भिन्न है। औपनिषदिक दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रादुर्भूत श्रीमद्भगवद्गीता[21] (गीता) भी एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यद्यपि इसके अध्यात्म का आधार, वेदान्त का प्रतिपाद्य-निर्गुण, निराकार, नित्य ब्रह्म है[22] तथापि इस परब्रह्म का आत्मरूप से ज्ञान प्राप्त करने वाला अनुयायी सम्प्रदायातीत हो जाता है। साम्प्रदायिक सीमाओं से परे होना ही वस्तुतः गीता के आध्यात्मिक स्वरूप की पहिचान है।[23] इसी वैशिष्ट्य के कारण यह ग्रन्थ विश्व पटल पर लोकप्रिय हुआ क्योंकि इसमें विश्व के प्रत्येक नागरिक के जीवन के लिए मार्गदर्शन है।

गीता का आध्यात्मिक पुरुष स्थितप्रज्ञ है। योगी, कर्मयोगी, तत्त्वदर्शी, ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी, भक्त, साधक आदि इसी के पर्याय हैं। यह एक ऐसा पुरुष है जिसने अपने मन में उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर दिया है,[24] जिसकी इन्द्रियाँ स्वयं उसके वश में हैं।[25] जो शुभ और अशुभ दोनों को समभाव से ग्रहण करता हैं।[25] तथा निरन्तर आत्मचिन्तन में रत, उसी में स्थित होकर[27] निर्विकार परमपद को प्राप्त करता है।[26] आशय यही है कि आध्यात्मिक पुरुष अपने प्रज्ञापूर्ण कर्मों से स्वयं ही अपना कल्याण करते हैं[29], उन्हें इसके लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती।[30]

गीता कहती है कि जब तक शरीर है तब तक कर्मों से विरत रहना असम्भव है।[31] इसका प्रमाण है कि जीवन्मुक्त भी कर्म करते हैं। किन्तु उनके द्वारा किया गया कर्म उन्हें बन्धन में नहीं बाँधता[32] अपितु वह लोकहित का वाहक बनता है।[33] अतः गीता का आध्यात्मिक पुरुष समस्त बाह्य धर्मों अर्थात् मन, इन्द्रिय एवं काया के समस्त स्वभावों से ऊपर उठकर अपने में संतुष्ट रहकर आनन्दचित्त से कर्मों का सम्पादन करता हैं।[34] क्योंकि अनासक्तिपूर्वक किया गया कर्म ही मुक्ति का साधक है।[35]

## विवेचन एवं निष्कर्ष

धम्मपद और गीता दोनों ही स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर अपनी विचारपरम्परा के बृहद् ग्रन्थों के अङ्ग हैं। किन्तु दोनों की स्वतन्त्ररूप से समाज में प्रसिद्धि है। दोनों की प्रधान ध्वनि अध्यात्म है। दोनों में गीता पूर्ववर्ती है। धम्मपद के अध्यात्म का आधार मनोवैज्ञानिक है किन्तु गीता का दार्शनिक। आधारों और विचारधाराओं की भिन्नता के कारण इनके आध्यात्मिक लक्ष्य व उस लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं।

प्रतिपाद्य विषयों का भेद भी उक्त ग्रन्थों के आध्यात्मिक लक्ष्य को अभिव्यक्त करता है। निर्मल चित्त को सर्वस्व मानने वाला धम्मपद अध्यात्म के इसी लक्ष्य को स्वीकृति प्रदान करता है जबकि गीता में नित्य और निरुपाधिक उस आत्मतत्त्व की अनुभूति आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है जो आत्मतत्त्व अपने पूर्ण स्वरूप में सर्वव्यापी ब्रह्म है। प्रथम श्रेणी के अध्यात्म में सर्व अथवा विश्व अथवा समाज अथवा पर प्रत्यक्षरूप से उपस्थित न होकर परोक्षरूप में आर्विभूत होता है जबकि गीता ने अपने अध्यात्म के आत्मतत्त्व अथवा स्वतत्त्व को साक्षात् रूप में पर अथवा विश्व से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध कर दिया है। दोनों ग्रन्थों की इस प्रवृत्ति के कारण इनके अध्यात्म में समाज की भूमिका भी परोक्ष और अपरोक्ष रूप में अभिव्यक्ति पाती है। अतः सामाजिक दृष्टि से धम्मपद की अपेक्षा गीता का समाजदर्शन अधिक व्यापक कहा जा सकता है। धम्मपद का चित्त अपनी निर्मलावस्था में एकांकी रह जाता है जबकि गीता का आत्मतत्त्व विश्वैक्य की अनुभूति का आनन्द लेता है।

बाह्यरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि धम्मपद का अध्यात्म व्यक्ति तक सीमित है और गीता सीधे विश्व से संवाद स्थापित करती है। किन्तु इन दोनों विचारधाराओं की धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि ने जो चरम कोटि के आदर्श प्रस्तुत किए हैं उनमें निर्मल चित्त से सम्पन्न, महाकारुणिक बुद्ध विश्व के कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित करते हैं तथा ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करने वाले योगीश्वर कृष्ण भी इन्द्रियों पर नियन्त्रण और चित्त के संयमन का उपदेश देते हैं। इस प्रकार व्यष्टि से प्रारम्भ हुआ अध्यात्म अन्ततोगत्वा समष्टि में अपनी सार्थकता पाता है और दूसरी ओर समष्टि के चिन्तन से समागत व्यष्टि तत्त्व मन पर विजय की अपरिहार्यता प्रतिपादित करता है। दूसरे शब्दों में, दोनों के आध्यात्मिक समाजदर्शन में प्रक्रियागत भेद है। धम्मपद का समाजदर्शन व्यष्टि से समष्टि की ओर (बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि) तथा गीता का समाजदर्शन समष्टि से व्यष्टि की ओर आता है (3/7)। अतः अधिकारिभेद से दोनों ही ग्रन्थ व्यक्ति और समाज के लिए समानरूप से मार्गदर्शक हैं।

## सन्दर्भ


1. (i). सब्बे धम्म अनत्ताति, यदा पञ्ञाय पस्सति। अथ निब्बिदन्ति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।। धम्मपद, 20/7.
   (ii). पुत्ता मत्थि धनम्मत्थि, इति बालो विहञ्ञति। अत्ताहि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं।। वही, 5/3.
2. आचार्य विनोबा भावे इसे बौद्ध गीता कहकर धम्मपद की 423 गाथाओं को कर्म, साधना और निष्ठा तीन भागों में बाँटकर गीता से तुलनात्मक संकेत करते हैं—द्रष्टव्य—तारााराम, धम्मपदः गाथा और कथा, पृ0 51.
3. अत्ताहि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति। तस्मा सञ्ञमयत्तानं, अस्सं भद्रंव वाणिजो। वही, 25/21.
4. अप्पमादरता होथि, स चित्तमनुरक्खथ। दुग्गा उद्धरथत्तानं पंके सत्तो व कुञ्जरो। वही, 23.8.
5. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा। सचित्तपरियोदपनं, एवं बुद्धान सासनं। वही, 14.5.

6. तण्हाय जायते सोको, तण्हाय जायते भयं। तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थिसोको कुतो भयं। वही, 16/8.
7. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया। मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा। ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं।।. वही, 1/1.
8. (i). अनवट्ठितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो। परिप्लवपसादस्स, पञ्ञा न परिपूरति। वही, 3/6.
   (ii). फन्दनं चलपं चित्तं, दुरक्खं दुन्निवारयं। वही, 3/1.
9. (i). तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो। रयोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो।। वही, 6/13.
   (ii). अनुपुब्बेन मेधावी, थोकथोकं खणे खणे। कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमें मलमत्तनो। वही, 18.5.
10. मुञ्च पुरे मुञ्च पछतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू। सब्बत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपेहिसी।। वही, 24.15.
11. निब्बानं परमं सुखं। वही, 15.8.
12. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं। अत्तनो व अवेक्ख्य, कतानि अकतानि।। वही, 4/7
13. अत्तना व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति। अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति। सुद्धि असुद्धि, नाञ्जो अञ्ञं विसोधये।। वही, 12.9.
14. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया। अत्तनाहि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं। वही, 12.4.
15. न नग्गचरिया न जटा न पंका नानासका थण्डिलसायिका वा। रजोचजल्लं उक्कुटिकप्पधानं सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकंखं। वही, 10.13.
16. यं किञ्चि चिट्ठं च हुतं च लोके, संवच्छरं यजेथे पुञ्ञपेक्खो। सब्बम्पि तं न चतुभागमेति अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो। वही, 8.9.
17. बोध पुञ्ञञ्च पापञ्च, उभो संग उपच्चगा। असोकं विरं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणाः। वही, 26.30
18. हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो, वाचाय सञ्ञातुत्तमो। अज्मात्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं।। वही, 25/3.
19. (i). न सीलब्बमत्तेन, बाहुसच्चने वा पुन। अथवा समाधिलाभेन, विविच्चयसयनेन वा। वही, 9/19/6.
   (ii). फुसामि निक्खम्मसुखं, अपृथुज्जनसेवितं। भिक्खु! विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं।। वही, 19/17.
20. दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो, न सो सब्बथ जायति। यत्थ सो जायति धीरो, तं कुलं सुखमेधति।। वही, 14.15.
21. भगवद्गीता, महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। गीतामहात्म्य में कहा गया है कि सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।.
22. (i). अच्छेद्योऽयदाह्योऽयभमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। भगवद्गीता, 2/24.
   (ii). अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।.....।।वही, 2/25.
23. अक्षरं ब्रह्मं परमं स्वीभावोऽध्यात्मुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ।। वही, 8/3.
24. प्रजहाति यदा कामन सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। वही, 2/55.
25. तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। वही, 2/61.
26. यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। वही, 2/57.
27. श्रुतिविप्रतिपन्न ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। वही, 2/53.
28. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्तवामनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।। वही, 2/57.
29. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। वही, 6/5.
30. श्रुतिविप्रतिपन्न ते यदा सीस्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। वही, 2/53.
31. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशं कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। वही, 3/5.
32. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबन्ध्यते। वही, 18/17.
33. यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। वही, 3/21.
34. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः।। वही, 18/66.
35. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुष।। वही, 3/19.

◆

# साहचर्य की शिक्षा, पर्यावरणीय परिदृश्य में

*डा0 हेमेन्द्र कुमार सिंह**

शिक्षा जीवन भर चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। यह एक महत्वपूर्ण और सर्वव्यापी विषय है। शिक्षा मानव की एक विशेष उपलब्धि है। शिक्षा एक कला है। यह भावनाओं को प्रगट करने की एक रीति है। मानव का सम्पूर्ण जीवन ही शिक्षा का काल है। शिक्षा विकास की प्रक्रिया है। सुकरात, प्लेटो, अरस्तू इत्यादि विद्वानों के अनुसार शिक्षा का उदेद्श्य ज्ञान का अर्जन करना है।

जहाँ तक ज्ञान-अज्ञान का प्रश्न है, अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है, जो विद्वान नहीं है, अज्ञानी व्यक्ति वह है जो स्वयं अपने को नहीं जानता, और इस अवबोध के लिये जब विद्वान व्यक्ति पोथिओं, ज्ञान और सत्ता पर निर्भर करता है, तो वह मूढ़ है। अवबोध केवल आत्मज्ञान से आता है, जो कि अपनी समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवधान है। इस प्रकार शिक्षा का वास्तविक अर्थ स्वयं अपने को समझना है, क्योंकि अस्तित्व अपनी सम्पूर्णता में हममें से प्रत्येक में संकलित है। शिक्षा मानव प्रगति का मुख्य आधार है। शिक्षा जहाँ हमें संस्कारित करके अच्छा इंसान बनने की दिशा देती है, वहीं आर्थिक एवं भौतिक विकास की सीढ़ियाँ चढ़ने में भी सहायक होती है। सरकार का मुख्य लक्ष्य 'सबका साथ सबका विकास' की प्राप्ति में शिक्षा का अमूल्य योगदान हो सकता है।

शिक्षा राष्ट्र निर्माण की आधारशिला है, तथा समाज और संस्कृति को गतिशील बनानें, विकास और शोधन की अनिवार्य कड़ी है। यह समाज में लोगों के अदंर नैतिक मूल्यों एवं संस्कृति का विकास करती है, जिससे मनुष्य में मनसा, वाचा, कर्मणा का भाव जागृत होता है[1], फलतः समाज का चतुर्मुखी विकास संभव होता है, ऐसे में राष्ट्र के प्रत्येक प्राणी को शिक्षित करना आवश्यक ही नहीः अपितु अनिवार्य व महत्वपूर्ण भी है। समाज के समुचित विकास और संवर्द्धन में जिन महत्वपूर्ण तत्वों में शिक्षा सुरक्षा और स्वास्थ्य आदि को शामिल किया जाता है, इनमें से यदि कोई भी कड़ी कमजोर पड़ती है तो समझना चाहिये कि समाज और देश का विकास सही और समुचित दिशा में नहीं हो रहा है । सरकारें आती जाती रहती है किन्तु प्रतिबद्धतायें, समस्यायें, चिन्तायें यथावत समाधान के इंतजार में अपनी जगह बरकरार रहती है।

वेदों से लेकर श्रुति-स्मृति तथा पुराणकाल तक का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा जैसा गूढ़ दायित्व समाज के हाथों ही नियंत्रित और संचालित होता था।[2] शिक्षा पूर्ण रूप से स्वायत्त थी । शिक्षा के कार्यो में या तो राज्य का हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं था या फिर नाम मात्र का था, और वह भी आर्थिक रूप से मदद करने तक सीमित था।

कई बार यह कल्पना करना थोड़ा मुश्किल हो जाता है कि बिना किसी कागज और कलम की सहायता के केवल मौखिक शिक्षा परंपरा में किस प्रकार से इतने महान ग्रंथ पूरी शुद्धता, जो कि आज मौजूद हैं, के साथ दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किए गए। अतीत के वर्तमान मोड़ पर ज्ञान के प्रसार, रचना, सृजन, संवर्धन और उपयोग की प्रक्रिया को शिक्षा और शोध के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। यह संवाद, विनिमय, तकनीकी सहायता और सूचना प्रौद्योगिकी के शोधन के माध्यम से मजबूत होती जा रही है। पुनः ये सभी सतत मानवीय प्रयोगों और पहलुओं के परिणाम हैं। यहां तक कि पचास वर्ष पूर्व, मौजूदा आई-पैड या लैपटॉप का वर्तमान स्वरूप अधिकांश लोगों के लिए कपोल कल्पना थी। मानव को प्राप्त संचित ज्ञान, समझ और बुद्धि से जो भी लाभ और सुविधायें प्राप्त हैं, ये सभी ऐसे समर्पित और तत्पर लोगों जिनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानव हित था, के सतत प्रयासों का नतीजा है। विभिन्न स्थानों और परिस्थितियों में जैसे-जैसे ज्ञान के आधार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और मानव गतिशीलता का विकास हुआ, प्राप्त ज्ञान की सार्वभौमिकता का एहसास हुआ, उसे स्वीकारा गया और ज्ञान को समृद्ध करने की गति को बढ़ाने के लिए इसका उपयोग किया गया। आज, मनुष्य को प्रकृति की ताकत का एहसास है, वे जानते हैं कि धरती माता के पास उपलब्ध खजाने का मानव की बेहतरी के लिए कैसे उपयोग किया जाना चाहियें। वे यह भी समझते हैं कि सभी मनुष्यों का एक समान और साझा भविष्य है। अस्तित्व को बनाए रखने और आने वाली पीढ़ियों के लिए इसे और बेहतर करने हेतु वे मानव जाति की शाश्वत एकता से सहज रूप से उत्पन्न साझेदारी और देखभाल के महत्व को भी समझते हैः अंततः दुनिया एक परिवार है।

अतीत में इस बात के भी प्रमाण हैं कि ज्ञान का उपयोग नकारात्मकता के प्रसार और संवर्धन में किया गया है। उदाहरण के लिए जब मानव महाद्वीपों में गया, उसने वहां उपनिवेशवाद, गुलामी, रंगभेद और इसी प्रकार की अन्य अमानवीय प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। जब मनुष्य को परमाणु शक्ति का ज्ञान हुआ उसने हिरोशिमा और नागासाकी की त्रासदी को भी जन्म दिया। आज पूरी मानव सभ्यता कट्टरता, आतंकवाद और साइबर आक्रमण के डर से त्रस्त हैं। मानव पूरी तरह से यह जानते हुए कि प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं और इसे छोड़कर अन्य किसी ग्रह पर इस जीवन को कायम रखना संभव नहीं है, वैश्विक प्राकृतिक संसाधनों के घोर शोषण में लिप्त है। जब लालच मानव चेतना से उपर उठ जाता है, तब हिंसा के लिए अनुकूल वातावरण और परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप युद्ध होते हैं और

* असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र, जगतपुर पी0जी0 कालेज, जगतपुर, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)।

मानव तथा प्राकृतिक संसाधनों की घोर बर्बादी रोजमर्रा के कार्य बन जाते हैं। इससे पहले कभी भी मानव ने आज की तरह इतनी निर्दयता से संवदेनशील मानव-प्रकृति संबंध को बाधित नहीं किया था। सूखती नदियां, प्रदूषित हवा और संदूषित जल एक आम आदमी को भी सारी कहानी कह देते हैं, स्वास्थ्य संरक्षण और उपचार के क्षेत्र में व्यापक प्रगति भी, भौतिक सुखों की चाहत में प्रकृति के घोर शोषण के परिणाम स्वरूप निश्चित रूप से आने वाली आपदाओं से मानव निर्मित स्वास्थ्य समस्याओं के निराकरण में नाकाम साबित हो रही है। आज, 'यदि गंभीरता और ईमानदारी से उपचारात्मक उपाय नहीं शुरू किए गए तो पृथ्वी ग्रह कब तक जीवित रह पाएगी?', पर वैज्ञानिक तौर पर अंदाजा लगाया जा रहा है। व्याधि का पता है, उपचार भी पता है लेकिन अधिक से अधिक जमा करने और पाने का मोह और लिप्सा देशों और उनके नेताओं को आपदाओं को रोकने में सक्षम नीतियों को लागू करने से रोकती हैं। ये आपदाएं हर वक्त हमारे सिर पर मंडरा रही हैं और पृथ्वी ग्रह के अस्तित्व पर संकट बन चुकी हैं। इन नेताओं और लोगों को क्या हुआ है? क्यों मानव अपने ही आवास को उजाड़ने, अपने ही भाइयों को मारने और सभी मनुष्यों के लिए शांतिपूर्ण, सम्मानजनक और सभ्य दुनिया को असुरक्षित व रहने के अयोग्य बनाने पर तुले हैं। इन प्रश्नों के उत्तर की खोज भी शाश्वत हो सकती है। वेदों में इसे बहुत पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। जो कोई भी वेदान्त से अपरिचित हैं, उन्हें प्लेटो को याद करना उपयुक्त होगा। अपने गणतंत्र में प्लेटो अपने लोगों से यह समझने की आशा करते हैं कि 'एक उत्तम जीवन केवल कुछ महत्वपूर्ण करने की बजाए कुछ महत्वपूर्ण बनना है'। प्लेटो के अनुसार उत्तर 'मुझे क्या करना चाहियें' से 'मुझे किस तरह का व्यक्ति होना चाहिए' के बदलते स्वरूप में मिलते हैं।[3] और इससे हमें शिक्षक और शिक्षा मिलती है। शिक्षक एक निर्दोष व्यक्ति को व्यक्तित्व में परिवर्तित कर देता है। शिक्षक उसे मानवता से देवत्व की ओर ले जाता है। उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर, चारों ओर सत्य, अहिंसा और शांति का महत्व दिखाई देने लगेगा। प्यार और भाईचारे का प्रसार होगा और प्रेम एक अदृश्य आकांक्षा नहीं रह जाएगी। यह शिक्षा का सुदृढ़करण होगा जिसमें शिक्षक से मूल्य प्राप्त होगें, जिन्हें एक तरफ आदर्श होने ओर दूसरी और राष्ट्र निर्माता होने का भान होगा। उसकी भूमिका केवल पाठ्यक्रम लागू करने से कहीं अधिक होगी।

भौतिकवादी वैश्विक रूझान विविध क्षेत्रों और प्रत्येंक को प्रभावित करते हैं, जिसमें शिक्षकों और शिक्षा तंत्र को भी शामिल किया जाता है। मानव जाति के लिए शिक्षा हमेशा ही आशा की एक किरण होनी चाहिए। ज्ञान और ज्ञान की खोज जरूरी है लेकिन केवल यही पर्याप्त नहीं है। मानव जाति के जीवित रहने के लिए बुद्धि और विवेक महत्वपूर्ण घटक होते हैं। जब महात्मा गांधी ने कहा कि सभी की जरूरतों को पूरा करने के लिए प्रकृति के पास पर्याप्त संसाधन है लेकिन किसी एक के भी लालच को पूरा करने के लिए कम हैं[4], उन्होंनें वास्तव में, इन शब्दों में मानव जाति के पूरे भविष्य को रेखांकित कर दिया है। इसमें मनुष्य-प्रकृति के रिश्ते की संवेदनशीलता और पारस्परिकता का पता चलता है और इसमें प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को तुरन्त रोकने की चेतावनी छिपी है ।

जब भारतीय दर्शन में अपरिग्रह का विकास हुआ, यह एक चेतावनी और मूल्य दोनों था, जिसे सुने जाने और अपनाने की जरूरत थी। आज हम नियमित अंतराल पर आयोजित होने वाले पृथ्वी सम्मेलन, जलवायु सम्मेलन एवं अन्य बैठकों में जाहिल वैश्विक चिंता के बारें में सुनते हैं। इन बैठकों से अब तक कोई प्रभावी निर्णय निकलकर सामने नहीं आए हैं। 'मूल्य ह्रास' जिसमें वे सभी नुकसान शामिल हैं जिन्हें मनुष्य पूरी जानकारी और समझ होने के बाद भी, स्वयं पर ही इनको थोप रहा है, पर सभी बात कर रहे हैं। मानव मस्तिष्क को इसका हल तुरंत निकालना चाहिए। इसके लिए एकमात्र उपाय शिक्षा है—स्कूलों, कालेजों और उच्च शिक्षण संस्थानों को प्रमुखता से मूल्य प्रदान करने, पोषण और विकास पर ध्यान देना होगा ।

अन्य सभ्यताओं के इस क्षेत्र में पदार्पण से बहुत पहले ही भारतीय परंपरा में, निपुण और सुशिक्षित लोगों ने न केवल इस ग्रह पर जीवन को समझने का, बल्कि इस ग्रह से अंतिम विदाई के बाद शरीर के साथ क्या होता है समझने का प्रयास किया। इस जिज्ञासा में उन्होनें अपने तरीके से सृजन के परम उद्देश्य को जाना, जिसके परिणामस्वरूप दर्शन का विकास हुआ और आध्यात्म का अभ्यास आरम्भ हुआ, जिसे बाद में पूरी दुनिया ने स्वीकार किया। इस आध्यात्मिक जिज्ञासा के साथ-साथ सांसारिक जीवन के बारे में बेहतर समझ विकसित हुई। शिष्टाचार, दूसरों के लिए चिंता, शाश्वत मानव एकता, जीवन में शांति इत्यादि के महत्व समझ आए और उनकी प्रासंगिकता महसूस हुई। भारतीय ग्रंथों में इस बात पर चर्चा की गयी है कि मानव-प्रकृति संबंध किस प्रकार से पूरी संवेदनशीलता के साथ कायम रहने चाहिये। इनमें यह जिम्मेदारी मनुष्यों को दी गयी है, क्योंकि वे सोचने, आगे के बारे में कल्पना करने, योजना बनाने और जरूरत पड़नें पर नई रणनीति अख्तियार करने की क्षमता से सम्पन्न होते है। सुपरिचित डेरोल्स कमिशन रिपोर्ट (यूनेस्को, 1996) जो 21वीं सदी की शिक्षा पर एक दृष्टि प्रस्तुत करता है, आज मनुष्यों द्वारा झेले जाने वाले निम्नलिखित सात तनावों को चिन्हित किया गया है—

-वैश्विक और स्थानीय—सार्वभौमिक और व्यक्तिगत—परम्परा और आधुनिकता, - दीर्घावधि और लघु-अवधि निर्णय विवेचन—प्रतिस्पर्धा और अवसर की समानता - ज्ञान विस्फोट और उसे समाहित करने की क्षमता, -आध्यात्मिक और वस्तुवादी।[5]

पृथ्वी पर इन तनावों के परिणामों की जद में अब न केवल एक

बल्कि सभी हैं, अतः विभिन्न क्षेत्रों में यथाशीघ्र सुरक्षात्मक पहल करने की जरूरत है। एक तरफ ग्लोबल वार्मिंग का मुद्दा है तो दूसरी ओर वर्तमान पीढ़ी को हिंसा, कट्टरता और आतंकवाद से लड़ना है। ये सभी मानव प्रगति और विकास के साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। इससे आगे बढ़े तो आज व्यावहारिक रूप से सभी देश आर्थिक मंदी का सामना का रहे हैं । विकासशील देश आर्थिक सहयोग, तकनीकों में समर्थन और विभिन्न अन्य क्षेत्रों में प्रौद्योगिकीय प्रगति के लिए विकसित देशों की तरफ देख रहे हैं । ये सभी चीजें मुफ्त में नहीं मिलती हैं और ये चीजे एक देश के अनुकूल और दूसरे के प्रतिकूल हों सकती हैं, इस तरह अक्सर विकास की विचारधारा पर ये संकट उत्पन्न करते है। ये सभी 'नैतिक संकट के कुछ उदाहरण' के जीवंत रूप में प्रकट होते हैं, जो आज प्रत्येंक राष्ट्र झेल रह है। पर्यावरण प्रदूषण के कारण सम्पूर्ण विश्व चिन्तित है, जिसे रोकने के अनेक उपाय भी किये जा हैं। यह प्रश्न दूसरा है कि उनमें कोई समाधान हुआ या नहीं, किन्तु यदि इस विषय पर गंभीरता से विचार किया जायें तो मानसिक प्रदूषण इससें भी अधिक खतरनाक है जो पर्यावरण प्रदूषण का जन्मदाता भी है। प्रदूषित मानसिकता का व्यक्ति स्वार्थान्ध होकर केवल अपने लाभों के विषय में सोचता है। प्रकृति ने सदैव से प्राणियों के साथ उपकार किया है। मानव क्या, सभी प्राणियों को प्रकृति से जीवन प्राप्त होता है, किन्तु मानव लाभान्वित होकर भी इस उपकारी तत्व का नाश करने पर तुला हुआ है जिससे उसकी प्रजनन शक्ति क्षीण हो रही है। इसी विकृति से मानव का शारीरिक असंतुलन आरम्भ होता है। नये-नये रोगो का जन्म, इसी असंतुलन के कारण हो रहा है। जिन रोगों की कभी कल्पना भी न की गयी थी वे रोग उत्पन्न होकर जीवन को अशान्त एवं चिन्ताकुल बना रहें है। इसी कारण सारी सुख-सुविधाओं के बीच भी मानव का जीवन नारकीय होता जा रहा है।

मानव वरदानों को ढूढ़ता-ढूढ़ता हुआ अभिशापों में इतना डूबा कि उन्ही को जीवन का लक्ष्य समझ बैठा। अपने अन्दर के प्रकाश को भूल कर निरन्तर अन्धकार में भटकनें लगा। स्वार्थ के अन्धेरे में वह परमार्थ को एक दम भूल गया। उसे अक्षर ज्ञान तो हुआ, किन्तु अक्षरों का मर्म न समझ सका। संसार की प्रथम पुस्तक ''वेद'' का उसे नामभर याद रह गया किन्तु ऋचाओं की प्रेरणा पर उसने न कभी गंभीरता से विचार किया और न ही उन्हें जीवन में क्रियान्वित किया। ऋचा का मानव के प्रति उदबोधन है कि वह मानसिक विकृति को दूर करने के लिये मेधावी एवं विवेकशील बनें।

**''ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम''[6]**

अर्थात् :- विज्ञानी मनुष्य अन्धकार से हटकर प्रकाश का वरण करे जिससे वह स्वयं को दुर्गति से बचा सके, वस्तुतः अन्धकार मृत्यु है, प्रकाश जीवन है, अतः वैदिक ऋचाओं का आह्वान है कि विज्ञान का ज्ञाता आलोकित पथ पर चले । मानव के अन्दर भले-बुरे का विवेक होना चाहियें, क्योकि बुरे कर्म का दुष्परिणाम है दुर्गति, जिससे जीवन असह्य, बोझिल और शाप बन जाता है। वैदिक वाड्मय विकृत मानसिकता को दूर करने की पुनीत प्रेरणायें ऋचाओं के माध्यम से देता है—

**''या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा०''[7]**

अर्थात् :- हे मानव तू सबके साथ मधुर वाणी का प्रयोग कर।

**''विदा देवा अघानामादिम्या सो०''[8]**

अर्थात् :- हे दिव्य गुण सम्पन्न महात्माओं तुम पापों का अपाकरण जानते हो । जैसे पक्षी अपने बच्चों की रक्षा के लिये उनके ऊपर पर फैला देते है, वैसे ही तुम अपनी प्रीति के पर हमारे ऊपर फैलाओं। अहिंसा के परिपक्व होने पर उसके समीप बैर का त्याग हो जाता है, आवश्यकता है इस पर मनन चिंतन कर, इन्हें जीवन में उतारने की।

जैसे शरीर को पुष्ट बनाने के लियें पौष्टिक आहार लिया जाता है, संसार को सुखद बनाने के लिये सुख-सुविधायें जुटाई जाती है, वैसे ही मन को स्वस्थ बनाने के लिये केवल विद्वान होना ही अपेक्षित नही अपितु सहृदय होना आवश्यक है । दृष्टिपथ में अनेंक ऐसे लोग आते है जिन्होनें दंभवश बहुत कुछ कंठस्थ कर लिया है, किन्तु जो नीति वचन या ऋचायें कंठस्थ की है उनका जीवन उनसे विपरीत है । अतः कहा गया है—

**''योऽर्थज्ञ इति सकलंभद्र मश्नुते''**

अर्थात् :- अर्थज्ञ होकर ही मानसिक विकृतियों से बचा जा सकता है।

विकृत मानसिकता का जहर अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। पारिवारिक अशान्ति का मूल भी यही मानसिक विकृति है जो दाम्पत्य जीवन को नहीं अपितु संबन्धों को भी जहरीला बना देती है जिससे अपने पराये तथा पराये अपने दिखने लगते हैं। दो हृदयों के बीच दरार डालकर विकृत मानसिकता अपरिचित बनी रहती है। इसी विकृत मानसिकता के कारण भ्रष्टाचार का बाग फल-फूल रहा है। इसी विकृत मानसिकता से आहत होकर कवि कहता है—

**चौंकिये मत देखकर अय्याशियों का सिलसिला।**
**है हवाला से बड़े भी कांड इस दरबार में।**
**हथकड़ी पहने सिसककर रो रहा ईमान अब,**
**जेब कतरे पा गये हैं उच्च पद सरकार में।**
**सामने हैं बोल मीठे, और पीछे आरियां,**
**ऐसे लोगों पर नहीं विश्वास करना चाहिये।[9]**

घर से बाहर तक, प्रत्येक विभाग में यह मानसिक विकृति दिखाईपड़ती है जिससे परस्पर कटुता बढ़ती जा रही है। पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ाने में मानसिकता विकृति ने खाद का काम किया है।

नफरत, हिंसा, लूट, लालच, भ्रष्टाचार मिलावटी वस्तुयें बेचना,

धोखा देना, विश्वासघात करना, काम कम और अधिकाधिक लाभ कमाने के प्रवृत्ति, शोषण, विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों को निर्माण, शक्ति का दुरूपयोग, घोटाले, कुर्सी प्रेम, वोट नीति, अधिकारों का दुरूपयोग, नैतिक नियमों व कानूनों की अवहेलना, व अन्य दुर्विचारों के मूल में यही विकृत मानसिकता काम करती है। संसार में स्वर्ग की कल्पना तभी साकार हो सकती है जब मानसिक स्वास्थ्य, एवं प्रदूषित पर्यावरण से मुक्ति मिले, जिसके लिये मानसिक शुद्धि तथा वाह्य शुद्धि, दोनों ही आवश्यक है। अन्ध भौतिकवादी मानव भौतिक उत्कर्ष के चरम सोपान पर आरूढ़ होने के लिये लालायित है। आधुनिकता की इस निर्वाध दौड़ में वह सदियों से सजायी गयी अपनी सांस्कृतिक धरोहर परम्परा एवं मूल्यों को द्रुतगति से त्यागता जा रहा है। अधिकाधिक अर्थोपार्जन की लालसा, अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा एवं विच्छिन्न हो रहे सामाजिक संबन्धों के कारण वह अशान्त है। मानव कुंठा, द्वन्द, विषाद तथा चिंता का शिकार होकर वह नारकीय जीवन जीने को विवश हो गया है, अतः उसे सजग होकर इस पक्ष पर विचार करना है। सवाल को समझे बिना उसका हल निकालना सरल नहीं है। अतः सजग होना आवश्यक है। मानव सभ्यता के विकास के लिये वृक्षारोपक्ष, वन संरक्षण, नदियों के जल की सफाई, जीव जन्तुओं की सुरक्षा, घर के कूडे कचरे को यथा स्थान नष्ट करना, पालीथीन के प्रयोग को तुरन्त बन्द कर, कल कारखानों कें प्रदूषित जल को शोधित कर रासायनिक पदार्थो के सही प्रयोगों को अपनाना होगा, तभी इस वसुन्धरा को सुरक्षित रखा जा सकेगा । सन्त सागर के अनुसार पर्यावरण को सुधारने के लियें स्वस्थ मन का होना आवश्यक है—

**''निर्मल हो पर्यावरण, पुलक उठे मन मोर।**
**तन, मन, जीवन स्वस्थ हो, बढ़ों विपिन की ओर॥''**

एक समय था जब लोग स्वास्थ्य लाभ के लिये पहाड़ों की ऊँचाई पर शुद्ध वातावरण पाने के लिये जाते थे, किन्तु अब प्रकृति से प्राप्त होने वाली शुद्ध वायु आखिर किधर खो गयी? सीमित जनसंख्या ने आक्सीजन के संतुलन को खराब कर दिया जिससे विषम स्थितियां उत्पन्न हो गयी है।

गगनचुम्बी अट्टालिकाओं, ऊचें-ऊंचे बहुमंजिली काम्प्लैक्स तथा फ्लैटों की कतारों ने महानगरों के लोगों की आवासीय समस्या का तो हल किया है, किन्तु इस निर्माण ने कितने वृक्षों को कटवाया है यह निश्चित ही सोचनीय है, किन्तु वृक्षों की इस कटान से भवन स्वामियों को क्या लेना देना वे भूल जाते है कि वृक्षों की इस कटान से मानवीय जीवन कितना दुर्गम हो गया। कल कारखानों की चिमनियों से निकलता जहरीला धुआं, कारों, स्कूटरों, बसों तथा वाहनों का कचरा धीरे-धीरे आसपास की वनस्पतियों पर परत दर परत जमता जाता है और हम विवश होकर इन्हीं शाक सब्जियों कों खाने के लिये बाध्य होते है। यदि मानव मानसिक विकृतियों से मुक्त नही हुआ, तथा आसपास के प्रदूषण के प्रति सचेत नही हुआ, तो वह दिन दूर नहीं जब पश्चाताप के अतिरिक्त उसके पास कुछ नहीं बचेगा।

**''स्वयं डुबाते जा रहे बुद्धिमयी पतवार ।**
**इस नदिया को फिर, कैसे करोगे पार ॥''**

वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ आज ''पर्यायवरण'' एक आवश्यक शब्द बनता जा रहा है। पश्चिमी शब्द को आदर्श मानकर जिस तीव्र गति से हम विकास करते जा रहें हैं, पर्यायवरण उतना ही असंतुलित होता जा रहा है,... और यही असंतुलन भयावह भविष्य का कारण होगा।

आज हर व्यक्ति चाहे वह किसी धर्म या आय वर्ग का हो मनमाने-मर्यादाहीन स्वार्थी आचरण को ही विकास का प्रथम चरण मानता है और ऐसा करके स्वयं ही महिमा मण्डित होता है। यही स्वार्थी आचरण और व्यवहार इस समय की प्रबल आवश्यकता ''पर्यावरण'' को असंतुलित कर रहा है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि हम सभी अपने आचरण में परिवर्तन लायें और पुनः उसी जीवन पद्धति को अपनायें जो हमारे पूर्वजों ने सुखमय जीवन जीने के लिये स्थापित किया था। हमारे पूर्वजों ने जो मान्यतायें स्थापित की थी वे पूर्ण मर्यादित थीं उसमें स्वार्थ तथा अनैतिक आवश्यकताओं को कोई स्थान नही था। हमको अपनी जीवन शैली में सुधार लाने की आवश्यकता है साथ ही आवश्यकता इस बात की भी है कि जन-जन को गहराई से यह समझाया जाये कि ''पर्यावरण'' है क्या? ''पर्यावरण'' कहते किसे हैं इसे क्यों और कैसे संरक्षित, संतुलित रखा जाये? अभी तो अधिसंख्यक को ''पर्यावरण'' आसमान से उतरा हुआ समझ से परे एक अटपटा शब्द भर लगता है।

पर्यावरण के विषय को व्यापक और प्रभावशाली स्वरूप देने के लिये हमको खेतों की मेड़ो से लेकर वायुयानों की ऐशगाहों तक अलग-अलग ढ़ंग से लेकिन एक साथ युद्ध स्तर पर प्रयास करना होगा। देश के प्रत्येक ह्दय में पर्यावरण चेतना जागृत करने के लिये क्षेत्रीय स्तर पर कार्य करना होगा। वैज्ञानिक उन्माद लिये पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण करने वाले लोग भी आज अपने हर आवश्यक कार्य में अपनें-अपने धर्म में प्रचलित मान्यताओं का निर्वहन करते ही हैं कारण चाहे जो भी हो, दिखावा या धार्मिक निर्देशों की अवहेलना करने पर किसी अनिष्ट होने की आशंका। इससे स्पष्ट है कि अभी भी देश के लोगो में धर्म के प्रति आस्था है तथा लोग धार्मिक निर्देशों का पालन कुछ न कुछ अवश्य करते है। फिर क्यों न इसका उपयोग पर्यावरण चेतना फैलाने में किया जायें? विदेशों में ऐसा प्रयोग सफल रहा है।

थाईलैण्ड में बौद्धों ने धार्मिक भावना उभार कर गत वर्षो में पांच करोड़ वृक्ष कटने से बचाया, फिर हमारे देश में जहां पेड़, नदी, पर्वत तथा जानवर भी पूजे जाते है ऐसा अवश्य किया व सफलता पूर्वक कराया जा सकता है। ''यो धार येति इति धर्म'' अर्थात् जो धारण करने

योग्य हो वही धर्म है। जिस कार्य से किसी को पीडा न हो वही धर्म है। जिस कार्य से समाज का कल्याण हो वही धर्म है, फिर भला पर्यावरण संतुलन बनाये रखने, पर्यावरण चेतना फैलाने के लिये धर्म का सहारा लेना तथा इसके प्रचार-प्रसार में धार्मिक भावना का पुट देने में बुराई ही क्या हैं? मेरी अपनी मान्यता है कि पर्यावरण संतुलन हेतु धार्मिक भावना-जागृत की जाती है तो इसका व्यापक और असरदार परिणाम अवश्य सामने आयेगा।कहने का तात्पर्य यह है कि हम धार्मिक भावना का उपयोग पर्यावरण चेतना फैलाने में सरलता के साथ अधिक से अधिक कर सकते हैं। हमने वृक्ष संरक्षण अधिनियम से अधिक प्राभावी ''वृक्ष चालीसा'' को पाया है। व्यवस्था द्वारा स्थापित नियम, अधिनियम तो जानका स्वार्थी तथा उद्दण्ड लोगो के लिये होती है, अज्ञान के लिये तो सरल, सरस तथा प्रेम भरी आकर्षक शिक्षा होती है।

हमारे ये विचार भले ही सर्वमान्य व स्तरीय न हो, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि पर्यावरण संतुलन हेतु हर प्रयास निम्न स्तर से ही प्रारम्भ करना चाहियें क्योंकि देश की अधिकांश जनसंख्या अशिक्षित तथा आय के हिसाब से निम्न ही है। इस वर्ग के लोगों के चैतन्य हो जाने से आधी से अधिक समस्या का निदान स्वयं हो जायेगा।

**सन्दर्भ**


1. योजना,जनवरी 2016,ISSN-0971-8400, पृ0 49 पैरा 1
2. योजना, जनवरी 2016,ISSN-0971-8400, पृ0 19 पैरा 1
3. योजना, जनवरी 2016,ISSN-0971-8400, पृ0 26कालम 1
4. योजना, जनवरी 2016,ISSN-0971-8400, पृ0 26कालम2
5. योजना, जनवरी 2016,ISSN-0971-8400, पृ0 26कालम3
6. ऋ0 3/39/7
7. ऋ0 3/57/5
8. पर्यावरण चेतना वर्ष 6 जून 1999 अंक 2 पृ0 31
9. भीगती पलकें बुलाती, महाश्वेता, पृ0 23


◆

# उत्तर भारतीय संगीत का विकास

*डॉ॰ भीमसेन सरल* *

समय-समय पर लोक-रुचि के अनुसार भारतीय संगीत के स्वरूप आदि में परिवर्तन होते रहे हैं। भारतीय संगीत का सुसंस्कृत रूप अनेक परिवर्तनों के माध्यम से हर युग में पुष्पित व पल्लवित होता रहा है। जिसे आज हम शास्त्रीय संगीत कहते हैं वह हमारे संगीत का मूल-स्वरूप है। भारतीय संगीत का अध्ययन प्रमुख रूप से उसके शास्त्रीय स्वरूप का अध्ययन ही है। लोक संगीत को छोड़कर संगीत के अन्य सभी प्रचलित स्वरूपों जैसे—उपशास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत आदि में शास्त्रीय संगीत का प्रभाव न्यूनाधिक विद्यमान है। इसीलिए भारतीय संगीत के अध्ययन-क्रम में हम प्रमुख रूप से संगीत के शास्त्रीय स्वरूप यानी शास्त्रीय संगीत का ही अध्ययन करते हैं। संगीत के सभी स्वरूप विशेषकर शास्त्रीय संगीत युगों की चेतना के परिणामस्वरूप फलता, फूलता और विकसित होता रहा है।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत पर मुस्लिम आक्रमणों के कारण मूल भारतीय संस्कृति जिसमें संगीत भी सम्मिलित है, उसके स्वरूप आदि में विकृतियाँ आनी आरम्भ हो गईं। वह शास्त्रीय संगीत जो हिन्दू राज्य काल में विद्वान् सुसंस्कृत ब्राह्मणों की धरोहर समझा जाता था, तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते अपने शास्त्रीय पक्ष से हटने लगा था।

मुसलमानों के भारत में आगमन के पश्चात् उत्तर भारतीय भू-भाग में शास्त्रीय संगीत की एक विशिष्ट धारा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे विद्वानों ने हिन्दुस्तानी अर्थात् उत्तर भारतीय संगीत की संज्ञा प्रदान की। ऐतिहासिक दृष्टि से यह धारा प्राचीन भारतीय परम्परा के साथ अन्य धाराओं के सम्मिश्रण से निर्गमित हुई, जिसे विद्वान् एशिया महाद्वीप के विभिन्न भू-भागों से आई हुई संगीत संस्कृति का परिणाम मानते हैं।

मुसलमानों के भारत आगमन से मुस्लिम संस्कृति ने धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति में अपनी पैठ जमाना व उस पर प्रभाव छोड़ना शुरू कर दिया। इस तरह यह दो संस्कृतियों में परस्पर समन्वय का युग भी कहा जा सकता है। इस काल में उत्तर भारतीय भू-भाग में हमारा संगीत अपनी प्राचीन परम्परा व वैदिक सौन्दर्य को स्थापित न रख सका। मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने के कारण भारतीय संगीत एक नवीन मार्ग प्रशस्त करने की ओर उन्मुख हुआ और उत्तर 'भारतीय संगीत पद्धति' के नाम से कुछ परिवर्तनों के साथ यह नवीन स्वरूप को प्राप्त किया। यद्यपि दक्षिण भारतीय भू-भाग मुस्लिम आक्रमणों से वंचित रहा, इसलिए वहाँ के भू-भाग में उसकी अपनी संस्कृति सुरक्षित रही।

प्राकृतिक असुविधाओं के कारण उत्तर एवं दक्षिण भारतीय भू-भाग में पारस्परिक सम्बन्ध नाममात्र का रहा। ऊँचे-ऊँचे पर्वतों व पर्वत श्रृंखलाओं एवं नदियों, पठारों आदि के कारण दक्षिण भारत के संस्कृति व संगीत की विदेशियों से रक्षा होती रही। आज भी दक्षिण भारतीय संगीत में जितनी भारतीयता की छाप एवं मौलिकता उपलब्ध है, उतनी उत्तर भारतीय संगीत में नहीं। यथार्थतः संगीत की ये दोनों पद्धतियाँ प्राचीन भारतीय संगीत की ही दो धाराएँ हैं। इन दोनों के लिए भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' व शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' आधार ग्रन्थ हैं। ऐसा इसलिए है कि 'संगीत रत्नाकर' के रचनाकाल के बाद ही भारतीय संगीत प्रमुखतः दो स्वरूपों में विकसित हुआ है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि यह विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेती है। भारत की यह प्राचीन विलक्षणता संगीत में भी विद्यमान रही है। आज हम भारतीय एवं यावनी मिश्रित संगीत को ही 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उत्तर भारतीय संगीत' कहते हैं। यह कहना गलत न होगा कि मुसलमान संगीतज्ञों ने भारतीय संगीतज्ञों से प्रेम, बल या छलपूर्वक बहुत कुछ प्राप्त किया और अपनी विशिष्टता प्रमाणित करनी चाही। परन्तु इस मेल से हिन्दुस्तानी संगीत अपने नवीन स्वरूप को प्राप्त करता गया। गायन, वादन और नर्तन तीनों कलाओं का नवीन स्वरूप में विकास होता गया। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार की गायन-शैलियों, विभिन्न प्रकार के वाद्यों व वादन-शैलियों तथा कथक नर्तन का निर्माण व विकास हुआ।

गायन शैलियों में ध्रुवपद, धमार, ख़्याल, टप्पा, ठुमरी आदि का जन्म व विकास हुआ तो वादन-कला के क्षेत्र में स्वर वाद्यों में सितार, सरोद, इसराज आदि वाद्यों के रूप में प्राचीन तन्त्र वाद्यों का विकास हुआ तथा ताल-वाद्यों के क्षेत्र में तबला जैसे वाद्य प्राचीन दुक्कड़, जोड़ी या सव्यक-वामक के परिष्कृत रूप में विकसित हुए। स्वर वाद्यों की वादन-शैलियों में गत शैली का आविष्कार व विकास हुआ तथा अवनद्ध वाद्यों के स्वरूप, वादन-शैली व साहित्य में क्रमशः सम्पन्नता आई। नृत्य के क्षेत्र में कथक-नर्तन जैसी शैली का प्राचीन 'ताण्डव-लास्य' मिश्रित नृत्य के परिष्कृत रूप में विकास हुआ।यहाँ यह विचारणीय है कि यद्यपि ध्रुवपद, धमार जैसी गायन शैलियाँ एवं पखावज आदि वाद्यों व उनकी वादन-शैली प्राचीन भारतीय सांगीतिक परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि इनका इन नवीन स्वरूपों में विकास का एक प्रमुख उद्देश्य मुस्लिम संगीत व संस्कृति के प्रभाव से अपने आपका बचाव करना भी रहा है।

ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह तोमर (1486-1516 ई॰) ने युग की आवश्यकता को समझा और ध्रुवपद गायन-शैली का विकास किया। ब्रजभाषा के माध्यम से लोकभाषा की अभिव्यक्ति और नर-नारी

* तबला शिक्षक, माउण्ट लिट्रा जी स्कूल, वाराणसी।

का सनातन प्रेम ही इन ध्रुवपदों का विषय बना। विषय की दृष्टि से यह ध्रुवपद मुस्लिम गायन शैली ग़ज़ल व कव्वाली का जवाब समझा जाता रहा है। फलतः यह सभी को अच्छा लगा। मानसिंह ने पद परम्परा को भी नव जीवन दिया और विष्णु भक्ति से युक्त पदों को विष्णु पद कहा। परम्परा ने हमें अष्टछाप के सूरदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी, नन्ददास इत्यादि कवि दिये। विषय की दृष्टि से इनके द्वारा रचित पद कव्वालियों के जवाब थे।

राजा मानसिंह का काल शान्तियुक्त न होकर अत्यन्त गम्भीर था। न जाने कब शत्रु आक्रमण कर दे और देश-रक्षार्थ प्राण हथेली पर लेकर रणभूमि में जाना पड़े। अतः समयानुसार जनता में त्याग की भावना, ईश्वर पर विश्वास आदि के लिए पदों की रचना तदनुसार ही की गयी। देश की लोकभाषा को संगीत का माध्यम बनाया तथा राजदरबार में प्रतिष्ठित किया। गीत के जिस रूप में छन्द की अपेक्षा ताल का अधिक महत्व रहा, उसमें गेय पद को ध्रुवपद कहा गया जिसकी परम्परा बहुत प्राचीन थी।

ध्रुवपद अपनी लौकिक श्रृंगार व प्रधानता के कारण विभिन्न मुस्लिम दरबारों में भी खूब फला-फूला और भक्ति प्रधानता के कारण यह विष्णुपद के नाम से देवालायों में निखरा तथा भक्ति के माध्यम से देश भर में छा गया। राजा मानसिंह तोमर द्वारा विकसित व संरक्षित की गई इस ध्रुवपद शैली में प्राचीन संगीत पद्धति पूर्ण रूपेण समाविष्ट की गयी थी, जिससे जनता में स्वाभिमान बना रहे। उत्तर भारत में मन्दिरों का धर्म, दरबारों के धर्म से पृथक था जबकि इसके विपरीत दक्षिण के दरबारों और मन्दिरों का धर्म एक था। अतः दक्षिण के बड़े-बड़े सन्त कलाकार वहाँ के राज दरबारों में भी सम्मानित होते रहे लेकिन उत्तर में ऐसा नहीं हुआ।

इसी समय अन्य छोटे-बड़े बादशाहों ने अपनी-अपनी नई शैली का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था, जैसे गुरनाल का सुलतान हुसैन बहादुर भारतीय रागों को ईरानी रूपों में ढाल रहा था, तो मुलतान के शेख बहाउद्दीन जकारिया रागों का मिश्रण कर रहे थे। उधर जौनपुर के सुलतान हुसैन शर्की ख़्याल गायकी का आविष्कार कर उसके प्रचारार्थ प्रयत्नशील थे। ख़्याल गायकी के प्रचारार्थ अथक प्रयन्त करने पर भी उसका विकास लगभग पाँच सौ वर्ष तक नहीं हो सका। कारण भी ध्रुवपद शैली का माधुर्य ही है। मुग़ल दरबारों में जिसने भी गाया ध्रुवपद ही गाया क्योंकि बादशाहों के कान इस रसपूर्ण शैली के आदी हो गये थे।

मुसलमानों के शासनकाल में अकबर का युग भारतीय संगीत का स्वर्ण युग माना जाता है। अकबर से कुछ काल पूर्व जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर के समय प्राचीन परम्परा की प्रबन्ध एवं छन्द गायन शैलियों का स्थान ध्रुवपद शैली ने ले लिया और अकबर के युग में स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू बावरा आदि ने ध्रुवपद की पराकाष्ठा का प्रदर्शन किया। ध्रुवपद शैली, संगीत की शास्त्रीयता से इतनी सम्पन्न थी कि उस समय के जितने भी तन्त्रवादक थे, उन्होंने अपने वाद्य-वादन में ध्रुवपद शैली की गायकी को उतारा। इस शैली की लय-ताल संगत व उपरंजन हेतु इस समय के मृदंग वादकों ने मृदंग के वादन-शैली व साहित्य आदि के स्वरूप को ध्रुवपद शैली के अनुरूप विकसित किया एवं ध्रुवपद शैली के विकास में अपना अप्रतिम योगदान दिया। इसी समय ध्रुवपद का हमसफर वाद्य 'मृदंग' को 'पखावज' नाम प्राप्त हुआ और मृदंग दो नामों से पहचाना जाने लगा, कहीं 'मृदंग' तो कहीं 'पखावज'।

दूसरी ओर स्वामी विट्ठलदास के अष्टछाप के परम्परा के भक्त कवियों ने कृष्ण-लीला के पदों से संगीत की ऐसी अलख जगाई कि उनके कीर्तन और विष्णुपदों से मन्दिरों के प्रांगण में 'हवेली संगीत' का प्रादुर्भाव हुआ। हवेली संगीत के रूप में ध्रुवपद-धमार के ऐसे विशिष्ट घराने का सृजन हुआ, जहाँ से ब्रजभाषा के ध्रुवपद और धमार गीतों का विस्तार होता चला गया। इसी समय सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि भक्त कवियों की वाणी ने भारतीय संगीत को और अधिक निखारा। उसकी आध्यात्मिक और धार्मिक पृष्ठभूमि को दृढ़ता प्रदान की। इन भक्त कवियों के पदों में अनेक वाद्ययन्त्रों के वादन का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिनसे ध्रुवपद गान शैली सौन्दर्य को प्राप्त करती गयी। इन प्रमुख वाद्य-यन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—मुरज, पखावज (मृदंग), झाँझ, मँजीरा, झल्लरी, बाँसुरी, बीन आदि। ध्रुवपद, धमार जैसी गायन शैलियों एवं वीणा, सारंगी, पखावज जैसे वाद्यों का प्रचार-प्रसार मध्यकाल में ही हुआ।

कालान्तर में ध्रुवपद गायन की अलग-अलग 'शैलियाँ' या 'रीति' विकसित हुई, जिसे 'बानी' कहते हैं। ये बानियाँ चार रूपों में विकसित हुईं, जिनके नाम हैं—गोवरहार बानी, खण्डार बानी, डागुर बानी और नौहार बानी।

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अलाउद्दीन खिलजी (1296 से 1316 ई॰) के दरबारी संगीतज्ञ एवं प्रख्यात फारसी कवि अमीर खुसरों ने गायन एवं वादन दोनों क्षेत्रों में कई पद्धतियों का विकास व प्रचार किया। अमीर खुसरों भारतीय एवं ईरानी संगीत से भलीभाँति परिचित थे। एक प्रकार से इन्हीं के द्वारा सर्वप्रथम भारतीय और ईरानी संगीत के मिश्रण का कार्य आरम्भ हुआ तथा अकबर के समय तक ईरानी व भारतीय संगीत का समन्वय होता रहा। जिसके परिणामस्वरूप ईरानी संगीत की कई विशेषताएँ भारतीय संगीत में आ गईं।

अमीर खुसरों ने सर्वप्रथम भारतीय संगीत में कव्वाली रीति को अपनाया। दक्षिणी संगीतज्ञ गोपाल नायक खुसरों के समकालीन थे। अमीर खुसरों की गोपाल नायक से सांगीतिक प्रतियोगिता के कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब गोपाल दिल्ली के दरबार में आये तो उन्होंने उस श्रेणी का गायन किया जिसे 'गीत' कहते हैं। उनके समान योग्य संगीतज्ञ के शक्तिशाली एवं सुमधुर

कण्ठ के योग से उस शैली का सौन्दर्य निखर उठा। अमीर खुसरों जो सिंहासन के नीचे छिपकर संगीत सुन रहे थे, बादशाह के आदेश पर उस शैली को याद करने का प्रयत्न करते रहे। एक दिन खुसरों ने उसी शैली पर आधारित एक कव्वाली और तराना गाया। फलस्वरूप खुसरों को सम्मान मिला और गोपाल उस सम्मान से वंचित रहे।

उत्तरी भारत के संगीत में इस प्रकार फारसी (ईरानी) सभ्यता और संस्कृति के कारण नया मोड़ आया, पर दक्षिण भारत के प्राचीन संगीत की सुरक्षा और वृद्धि होती रही।

ध्रुवपद के समान ही ख़्याल भी भारतीय संगीत की एक प्रमुख विशेषता है, जिसका गायन के साथ सारंगी, वायलिन, सरोद, बाँसुरी आदि स्वर वाद्यों में वादन भी प्रचलित है। ख़्याल गायन-शैली के आविष्कार के सम्बन्ध में विद्वानों में दो मत है—एक यह कि इसका आविष्कार अमीर खुसरों ने किया है और दूसरा यह कि इसकी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है जो 'साधारणी' नामक गीति का परिष्कृत रूप है और उसी को ख़्याल नाम प्रदान कर दिया गया। इस मत के अनुयायियों का यह तर्क भी है कि इसी प्रकार प्राचीन भारतीय त्रितन्त्री वीणा का नाम 'सहतार' रख दिया गया और लोग सहतार (सितार) को अमीर खुसरों का ही आविष्कार समझते हैं।

इसी प्रकार 'तबला' नामक अवनद्ध वाद्य के आविष्कार के विषय में यह भ्रांति फैली हुई है कि तबला के आविष्कारक अमीर खुसरों हैं जबकि यह विभिन्न अध्ययनों से प्रमाणित हो चुका है कि प्राचीन त्रिपुष्कर के 'सव्यक' और 'वामक' का ही परिष्कृत रूप 'तबला' है।

जहाँ तक अमीर खुसरों को ख़्याल का आविष्कारक मानने की बात है, उसके अनुसार फारसी कविता अर्थात् 'कव्वाली' एवं हिन्दुस्तानी संगीत के गीत प्रकारों के मिश्रण से जो गीत प्रकार प्रचार में आया उसे ख़्याल कहा गया। अमीर खुसरों ने 'कव्वाली' के इस मिश्रण की रचना को तत्कालीन प्रचलित भारतीय रागों में निबद्ध करके उसे 'कव्वाली ख़्याल' की संज्ञा दी। आज जो छोटा ख़्याल प्रचलित है, वह कव्वाली ख़्याल का ही विकसित रूप है। छोटा ख़्याल के पश्चात् एक गम्भीर गायन शैली भारतीय संगीत में प्रचलित हुई। उसे 'कलावन्ती ख़्याल' अथवा 'बड़ा ख़्याल' कहते हैं।

ख़्याल के सम्बन्ध में इतिहास में एक और उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ तक अमीर खुसरों की बात है, उनके ग्रन्थों में 'कव्वाली' तथा ग़ज़ल' का स्पष्ट उल्लेख है परन्तु ख़्याल का बिलकुल नहीं। तानसेन के समय में भी ख़्याल गीत अथवा ख़्याल गायकों का नाम सुनने में नहीं आता। ख़्याल गीत लोक-संगीत के अन्तर्गत गाये जाते थे। आज भी राजस्थान तथा ब्रज के कुछ प्रदेशों में 'ख़्याल' नामक लोकगीतों की परम्परा प्राप्त होती है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' साहित्य में ख़्याल और टप्पा नामक गीतों के गायन का उल्लेख है। अतएव इस शैली के निर्माण में तत्कालीन ख़्याल गीतों के गायन का उल्लेख है। अतः इस शैली के निर्माण में तत्कालीन ख़्याल गीतों का योगदान रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

बड़ा ख़्याल की रचना मुग़ल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले (1719 से 1748 ई॰) के आश्रित गुणी कलाकार सदारंग एवं अदारंग ने की और ख़्याल शैली को शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठा दिलाई, ऐसी मान्यता है। ख़्याल गायन को सर्वप्रथम प्रश्रय मिलने का स्थान ग्वालियर को ही समझा जाता है। विलम्बित ख़्याल के आविष्कार के सम्बन्ध में एक मत और प्रचलित है। इसके अनुसार इसका आविष्कार 15वीं शताब्दी में जौनपुर के बादशाह सुलतान हुसैन शर्की ने किया है और लोकप्रिय बनाया। धीरे-धीरे ख़्याल गायन की कई शैलियाँ विकसित हुई जिन्हें घराना कहते हैं।

ख़्याल गायन के बाद ठुमरी, टप्पा, दादरा, जैसी गायन शैलियों का उदय हुआ। इन गायन-शैलियों को उपशास्त्रीय संगीत की मान्यता प्राप्त है। ठुमरी गायन कब व कैसे प्रचार में आया, कहना मुश्किल है। यद्यपि ठुमरी जैसी शृंगारिक गीत शैली के प्रचार का आभास अकबर के समय से ही मिलने लगता है तथापि वाजिद अली शाह के समय तक ठुमरी का वातावरण बन गया था। जिस प्रकार ख़्याल-गीत-गायन ग्वालियर में प्रश्रय प्राप्त कर पनपा उसी प्रकार ठुमरी-गीत-गायन लखनऊ में प्रश्रय प्राप्त कर विकसित हुआ। कालान्तर में ठुमरी गायन की लखनवी, बनारसी, पंजाबी आदि शैलियाँ विकसित हुई।

ऐसा माना जाता है कि 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पंजाब के शोरी मियाँ ने टप्पा गायन शैली को उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत विकसित किया। पंजाब के ऊँट हाँकने वाले टप्पा नामक लोकगीत गाते थे। उन्हीं लोकगीतों को शोरी मियाँ अर्थात गुलाम नबी शोरी ने शास्त्रीय राग खमाज, काफी, भैरवी आदि में परिणत करके प्रचारित किया। शोरी मियाँ कव्वाल-घराने की सन्तान थे, जो ख़्याल गाते थे।

वादन के क्षेत्र में प्रचलित प्राचीन वाद्यों में कुछ परिवर्तन करके नवीन वाद्यों का जन्म व विकास भी मध्य-युग व मुग़लकाल में हुआ। इन वाद्यों के वादन-शैली में भी प्रमुखतः दो रूपों में विकास व प्रचार हुआ। वादन-शैली एक तो गायन-शैली विशेषकर ध्रुवपद और ख़्याल के अनुरूप विकसित हुई, जिसे 'गायन अंग' का वादन कहते हैं और दूसरी 'गतकारी अंग' की शैली का जन्म व विकास हुआ। 'गायन अंग' व 'गतकारी' दोनों की शैलियों में विलम्बित और द्रुत दोनों रूपों में वादन प्रचलित हुआ। 'गत अंग' के वादन में मसीतखानी और रज़ाखानी गतों का जन्म व विकास हुआ। मसीतखानी गत के जन्मदाता तानसेन के वंशज मसीत खाँ माने जाते हैं तथा रज़ाखानी गत के ग़ुलाम रज़ा खाँ।

स्वर-वाद्यों व वादन-शैली के विकास के साथ-साथ प्रचलित गायन, वादन व कथक नर्तन में लय-ताल संगत व उपरंजन हेतु तबला जैसे परिष्कृत वाद्य शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठित हुए। तबला नामक वाद्य का विकास प्राचीन पुष्कर के दो भाग सव्यक और वामक के लोक

प्रचलित रूप 'जोड़ी' या 'दुक्कड़' में कुछ परिवर्तन करके किया गया। प्रचलित संगीत के स्वरूप के अनुरूप आवश्यकतानुसार पखावज (मृदंग) और तबला जैसे अवनद्ध वाद्यों की वादन-शैली व साहित्य आदि में विकास हुआ। इन वाद्यों के वादक-कलाकारों ने इनकी वादन-शैली व साहित्य को इतना विकसित स्वरूप प्रदान किया कि इनके बिना संगीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कालान्तर में इन वाद्यों की अनेक वादन-शैलियों का विकास हुआ, जो घरानों के रूप में प्रचलित हुए।

नृत्य के क्षेत्र में मुग़लकाल में कथक जैसी शैलियाँ विकसित व प्रचलित हुईं। कथक उत्तर भारत में एकमात्र शास्त्रीय नृत्य है जो सदियों से पौराणिक, ऐतिहासिक और अब सामाजिक आख्यानों को भी बयान करता आ रहा है। कथक का जिक्र 'शब्द कल्पद्रमु' आदि प्राचीन ग्रन्थों एवं रामायण महाभारत में भी हुआ है। 16वीं से 18वीं शताब्दी के कांगड़ा, पहाड़ी और राजपूत शैली आदि के चित्रों में जो नृत्य मुद्राएँ अंकित हैं वे कथक नृत्य के काफी निकट की हैं। ब्रजभाषा और राजस्थान के कुछ अंचलों के साहित्य में भी जिस शैली के चित्र मिलते हैं वे भी कथक के काफी समीप के हैं। यद्यपि यह अत्यन्त प्राचीन नृत्य शैली है, लेकिन इसका 'कथक' नाम बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की देन है। एक जनश्रुति के अनुसार 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इलाहाबाद के निकट के हंडिया तहसील के निवासी ईश्वरी प्रसाद ने इस नृत्य का प्रचार-प्रसार किया। कालान्तर में कथक नृत्य की कई शैलियाँ घरानों के रूप में विकसित हुईं।

मध्य युग व मुग़ल काल में राजाओं, नवाबों के दरबारों तथा मन्दिरों में उत्तर भारतीय संगीत प्रश्रय प्राप्त करते हुए फलता-फूलता रहा। इस दौरान संगीत के विकास में कई बार रुकावटें भी आईं लेकिन कुछ बादशाहों, नवाबों व कलाकारों के प्रयासों से वह पुनः गतिशील होती गयी। इस दौरान उत्तर भारतीय संगीत ने कई उतार-चढ़ाव देखे।

भारत में ब्रिटिश राज स्थापित होने के साथ ही संगीतकारों को मिलने वाला राजाश्रय भी धीरे-धीरे बन्द होने लगा। रियासतों में आश्रित कलाकारों के व्यक्तिगत स्वार्थ और स्वयं को सर्वोपरि मानने की संकुचित भावनाओं तथा कहीं-कहीं संगीत के संरक्षण हेतु घराना प्रथा का जन्म हुआ। इन घरानों के द्वारा संगीत की अभिवृद्धि एक संकुचित सीमा में होती रही। धीरे-धीरे शास्त्रीय संगीत एक तरफ़ महलों और दरबारों में कुछ गिने-चुने सुविधा सम्पन्न व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन मात्र बनती गयी और दूसरी तरफ़ नाथद्वारा परम्परा व मन्दिर के चहार-दीवारी में संगीत फलता-फूलता रहा। इन्हीं दिनों संगीत के लिए महफिलें भी सजने लगीं और इन्हीं महफिलों में दूर-दूर से कलाकार बुलाये जाते रहे। इस प्रकार संगीत के संरक्षण व अभिवृद्धि का कार्य एक सीमित दायरे में सुविधा सम्पन्न कला रसिक व्यक्तियों द्वारा होता रहा।

ब्रिटिश काल में संगीत के स्वरूप आदि में पुनः विकृतियाँ आने लगीं। अधिकांश कलाकार मनमाने ढंग से संगीत की मूल विशेषताओं का क्षरण करते हुए उसकी सार्वजनिक प्रस्तुति करते रहे। फिर भी यह संगीत की विशेषता ही है और कुछ कलाकारों के अथक परिश्रम का फल कि तमाम तरह की इसमें विकृतियाँ आने के बावजूद कहीं-न-कहीं यह अपने मौलिक स्वरूप की रक्षा भी करता रहा और उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी रहा।

आधुनिक काल में प्रमुख रूप से 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध व बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पं॰ विष्णु नारायण भातखण्डे एवं पं॰ विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जैसी विभूतियों ने हिन्दुस्तानी संगीत को सामान्य जनता के सुनने व सीखने के लिए सुलभ करने का कार्य किया। इन्हीं के द्वारा जगह-जगह पर संगीत प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये और भारतीय संगीत का विधिवत् शिक्षण पहली बार शुरू हुआ। पं॰ भातखण्डे ने देश के कोने-कोने में पहुँचकर अस्त-व्यस्त संगीत निधि को समेटकर लिपिबद्ध किया और इसे ठोस पद्धति का रूप दिया। वहीं पं॰ पलुस्कर ने हिन्दुस्तानी संगीत को भक्ति भाव से जोड़कर सामान्य जनमानस को इसकी ओर उन्मुख करने का कार्य किया और स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ संगीत को जोड़ दिया। इन दोनों विभूतियों ने अनेक राष्ट्रीय स्तर के संगीत सम्मेलन भी करवाए। इनके सद्प्रयासों से संगीत को पुनः नवजीवन प्राप्त हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा सभी कलाओं को प्रोत्साहन मिला और इसके प्रसार का कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। संगीत महाविद्यालय, संगीत सम्मेलन, आकाशवाणी, दूरदर्शन, संगीत नाटक अकादमी, कला केन्द्र आदि संस्थाएँ भारतीय संगीत के शास्त्रीय सिद्धान्त और उसके प्रायोगिक रूपों के उत्थान व विकास के लिए प्रयत्नशील रही हैं। बड़े-बड़े संगीत के महोत्सव, संगीत विषयक विचार-गोष्ठियाँ, सेमिनार, कार्यशाला, प्रदर्शनात्मक व्याख्यान एवं संगीत प्रतियोगिताओं का आयोजन केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय स्तर पर होने लगे। अनेक संगीत संस्थाओं की स्थापना हुई और संगीत को उच्च स्तर पर एक विषय के रूप में मान्यता मिली। परिणामस्वरूप शास्त्रीय संगीत व इससे सम्बन्धित अन्य स्वरूपों (उपशास्त्रीय, सुगम) की पहुँच घर-घर तक हो गयी।

इस प्रकार, उत्तर भारतीय संगीत विकास के मार्ग पर चलते हुए वर्तमान में निम्न स्वरूपों में प्रचलित है-

### 1. गायन-संगीत

उत्तर भारतीय भू-भाग में वर्तमान में ध्रुवपद, धमार, ख़्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी, माँड, चैती, कजरी, गीत, भजन, ग़ज़ल, कव्वाली, हवेली संगीत (नाथद्वारा परम्परा), गुरुमत संगीत (गुरूवाणी), रवीन्द्र संगीत आदि गान-शैलियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि रवीन्द्र संगीत, हवेली संगीत, गुरुमत संगीत इत्यादि विभिन्न विधाएँ उत्तर भारतीय भू-भाग में प्रचलित हैं, जो उत्तर भारतीय संगीत से पृथक मानी जाती हैं

तथापि उत्तर भारतीय भू-भाग में प्रचलित व विकसित होने के कारण उत्तर भारतीय संगीत से इनका अटूट लगाव है। इन संगीत शैलियों में हवेली संगीत का विकास ध्रुवपद (विष्णुपद) के आधार पर हुआ है तो रवीन्द्र संगीत में ध्रुवपद एवं ख़्याल का व्यापक प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं इन संगीत विधाओं के साथ उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित पखावज, तबला, सारंगी, बाँसुरी आदि वाद्यों के द्वारा ही लय-ताल व स्वर-राग की संगत प्रदान की जाती है।

इनमें से कुछ गान-विधाएँ शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत, तो कुछ उपशास्त्रीय और कुछ सुगम (भाव) संगीत के अन्तर्गत स्थान पाती हैं। उत्तर भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के लोकगीतों का अध्ययन यहाँ पर अपेक्षित नहीं है। यह एक अलग व वृहद् अध्ययन का क्षेत्र है।

## 2. वादन-संगीत

वादन-संगीत के अन्तर्गत दो तरह के वाद्यों का वादन होता है, एक—स्वर-राग प्रधान वाद्य और दो—लय-ताल प्रधान वाद्य।

स्वर-राग प्रधान वाद्यों में दो प्रकार के वाद्य आते हैं—एक वे जिनमें मिजराब या जवे के प्रहार से ध्वनि उत्पन्न की जाती है और दूसरे वे जिनमें गज के घर्षण या फूँक (हवा) से ध्वनि उत्पन्न की जाती है। घर्षण या फूँक से बजाये जाने वाले वाद्यों की ध्वनि में स्थिरता अधिक होने से, वह कण्ठ ध्वनि से समानता रखती है। जबकि मिजराब या जवे के प्रहार से उत्पन्न होने वाली ध्वनि सूक्ष्म खण्डों की होने के कारण, इनमें छन्द और लयकारी के वादन की सुविधा रहती है। इस प्रकार वादन-कला का विकास दो रूपों में हुआ। एक प्रकार का वादन गायन-शैली के अनुरूप विकसित हुआ तो दूसरे प्रकार का वादन गत-शैली के अनुरूप विकसित हुआ। अतः वादन-संगीत की दो प्रमुख शैलियाँ या स्वरूप वर्तमान में दृष्टिगत होती हैं—एक-गायकी अंग की शैली और दो-गतकारी अंग की शैली।

गायकी अंग के वादन में भी दो तरह की शैलियाँ हैं—एक ध्रुवपद अंग और दूसरा ख्याल अंग। ध्रुवपद अंग की शैली में ध्रुवपद-गायन के अनुरूप वादन किया जाता है तो ख्याल अंग की शैली में ख्याल-गायन शैली का ही वादन किया जाता है।

इसी प्रकार गत शैली के वादन में प्रमुख रूप से दो प्रकार की गतों का प्रचलन है—एक मसीतखानी गत और दो रज़ाखानी गत। 'गत' प्रमुखतः सितार-वादन की विशेषता है, जिसे अन्य वाद्यों पर भी बजाया जाता है।

## 3. नर्तन-संगीत

उत्तर भारतीय संगीत में नर्तन-संगीत के अन्तर्गत कथक नृत्य को महत्व प्राप्त है। उत्तर भारत की प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य शैली के रूप में 'कथक नृत्य' विश्वविख्यात है। कथक नृत्य का इतिहास अनेक परिधियों से घिरा हुआ है। यद्यपि इसके जन्म को लेकर विद्वानों में विभिन्न मत है, तथापि यह निश्चित है कि कथक मन्दिरों का नृत्य है तथा यह एक प्राचीन नृत्य शैली है। मुस्लिम युग में मुस्लिम प्रभाव से यह नवीन स्वरूपों में विकसित हुआ। कथक एकल नृत्य है, परन्तु अभिनव प्रयोगों के इस दौर में नृत्य नाटिकाएँ तथा समूह में भी नृत्य होने लगे हैं।

## सन्दर्भ सूची


1. बनर्जी, डॉ॰ असित कुमार—'हिन्दुस्तानी संगीत : परिवर्तनशीलता', शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
2. बृहस्पति, आचार्य कैलाशचन्द्र देव—'ध्रुवपद और उसका विकास', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
3. शर्मा, स्वतंत्र—'भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण', टी॰एन॰ भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद।
4. कपूर, तृप्त—'उत्तर भारत में संगीत शिक्षा', हरमन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
5. सक्सेना, डॉ॰ राकेश बाला—'ब्रज के देवालयों में संगीत परम्परा', संगीत कार्यालय, हाथरस।
6. गर्ग, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण—'ब्रज-संस्कृति और लोक संगीत', संगीत कार्यालय, हाथरस।
7. मित्र, राजेश्वर—'मुग़ल भारत का संगीत चिन्तन', अनु॰—मदनलाल व्यास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
8. शर्मा, अनीता—'प्राचीन सांगीतिक परम्पराएँ एवं ध्रुवपद शैली : एक अध्ययन', संजय प्रकाशन, दिल्ली।
9. शर्मा, डॉ॰ महारानी—'संगीत मणि' (भाग-1), श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन, इलाहाबाद।
10. सरल, डॉ॰ भीमसेन—'गायन-सिद्धान्त', ल्यूमिनस् बुक्स, वाराणसी।
11. सरल, डॉ॰ भीमसेन—'स्वर-वादन-सिद्धान्त', ल्यूमिनस् बुक्स, वाराणसी।
12. मिश्र, विजय शंकर—'मनके : भाव, सुर, लय के', प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
13. 'संगीत—मुसलमान और भारतीय संगीत अंक', जनवरी-2013, संगीत कार्यालय, हाथरस।


◆

# भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण विधियां, उनका उल्लंघन एवं उपचारात्मक उपाय: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

*डॉ0 अशोक तिवारी* *

पृथ्वी रूपी उपग्रह जिस पर जीवित प्राणी तथा पशु और पक्षी निवास करते है, का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि सभी जीवित प्राणियों के मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। जीवित प्राणियों से तात्पर्य केवल मानव समुदाय जानवरों चिड़ियों मछलियाँ, कीड़े मकोड़े तथा अन्य जीव जन्तु ही नहीं है बल्कि विभिन्न प्रजातियों के पौधे, लतायें, घास तथा जंगल की अन्य वस्तुएं भी हैं। वे शुद्ध हवा, शुद्ध पानी और शुद्ध मृदा के आधार पर जीती है। पहले प्राणी तथा अन्य जीव जन्तु शांति पूर्वक रहते थे परन्तु जब मानवों ने अमानवीय व्यवहार शुरू किया तभी से क्लेश का युग प्रारम्भ हुआ और दूसरे के अस्तित्व के लिए नयी समस्याओं को जन्म दिया।

भारत इस समय पर्यावरण के सर्वनाश के किनारे खड़ा है जिसमें धरती का और क्षरण तथा उस पर से हरियाली का नष्ट होना अंधकार में वृद्धि करेगा। जंगल किसी भी राष्ट्र के हरे-भरे फेफड़े होते हैं। परन्तु उन जंगलों को विस्तृत विकास योजनाओं के लिए नष्ट किया जा रहा है। इस संदर्भ में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर की टिप्पणी उल्लेखनीय है :

**'अत्यधिक औद्योगिकरण तथा अक्षम्य निर्वनीकरण और जीवित प्रजातियों के अमानवीय उन्मूलन के कारण शोषण तथा क्रूरता और लाभ तथा आनन्द के लिए असामाजिक भूख पैदा हो गयी है जिसके साथ मानववाद तथा संरक्षणवादी नहीं रह सकते। आज गंगा यमुना में स्नान करना शारीरिक पाप है न कि आत्मा का मोक्ष क्योंकि इन नदियों का पवित्र पानी प्रदूषित तथा हानिकर हो गया है।'**

पर्यावरण की सुरक्षा के लिए भारत के संविधान में कोई वैधानिक व्यवस्था नहीं की गयी है। इसे समवर्ती सूची में सम्मिलित कराने के सुझावों को भी स्वीकार नहीं किया गया है परन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39, 42 एवं 49 में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ प्रावधान पाये जाते है अनुच्छेद 246, 248, 252 एवं 253 संसद तथा राज्य विधायिकाओं को अधिकृत करता है कि वे पर्याप्त संरक्षण हेतु कानून बनाये।

सन् 1972 में विज्ञान और प्रोद्योगिकी विभाग ने पर्यावरण योजना तथा समन्वय पर एक समिति का गठन किया। इस समिति को मानव पर्यावरण को संरक्षित तथा सुधारने की समस्याओं को चिन्हित तथा उनकी खोज करना था तथा पर्यावरण की समस्याओं को सुधारने हेतु सुझाव भी देने थे।

सन् 1976 में संविधान के बयालीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 48-क जोड़ा गया। अनुच्छेद 48-क का प्रावधान है कि राज्य देश के पर्यावरण की संरक्षा तथा उसमें सुधार करने का और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

इसी संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 51-क 'छ' के रूप में पर्यावरण सम्बंधी नागरिकों का मूल कर्तव्य जोड़ा गया है। संविधान का अनुच्छेद 51-क 'छ' उपबंधित करता है कि ''भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणिमात्र के विरूद्ध दयाभाव रखे।''

सन् 1974 का जल प्रदूषण 'प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण ' अधिनियम, तथा वायु 'प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण' अधिनियम, को भारतीय संसद द्वारा सन् 1981 में पारित किया गया जिससे कि उन निर्णयों को प्रभावी किया जा सके जो सन् 1972 के मानव पर्यावरण पर स्टाकहोम में आयोजित अंतराष्ट्रीय सम्मेलन के लिये किये गये थे तथा यह घोषणा की गयी थी कि प्रदूषण मुक्त वातावरण में रहना मानव का मूलभूत अधिकार है तथा उसकी रक्षा तथा उसमें सुधार करना उसका उत्तरदायित्व है ।

भारत में संविधान के अनुच्छेद 253 के अंतर्गत पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 पारित किया गया जिससे संयुक्त-राष्ट्र संघ के उस सम्मेलन के निर्णय का अनुपालन हो सके जो मानव पर्यावरण पर सन् 1972 में स्टाकहोम में हुआ था।

भारतीय न्यायपालिका ने भी पर्यावरण संरक्षण हेतु कुछ महत्वपूर्ण सिध्दान्त एवं पर्याप्त दिशा निर्देश भी दियें हैं। जो एक नूतन पर्यावर्णीय विधि शास्त्र का सृजन करता हैं। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय वाद निम्नलिखित है :

**खैरदीन बनाम वासन सिंह ( ए0आई0आर0 1935 )**[1]

लाहौर, के मामले में लाहौर उच्च न्यायालय ने खुला नेत्र सिद्धांत की व्याख्या करते हुए कहा है कि यदि कोई व्यक्ति अपने स्वतंत्र चयन 'विकल्प' से जानबूझकर प्रदूषित क्षेत्र में निवास करने आता है तो उस क्षेत्र से लोक उपताप हटाने की मांग करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

**रतलाम म्यूनिसिपैलिटी बनाम वर्धीचन्द्र ( ए0आईआर01980 )**[2]

सु0को0, के मामले में न्यायधिपति कृष्ण अय्यर ने खुला नेत्र सिद्धांत को अनोखी दलील, भद्दी दलील मानते हुए अस्वीकार कर दिया और धारा 133 के अंतर्गत लोक उपताप हटाने का आदेष जारी करने की अधिकाररिता को मान्य घोषित किया।

* प्रवक्ता, आर.एस.बनारस लॉ कॉलेज, सुन्दरपुर, वाराणसी।

**एम0सी0 मेहता बनाम भारत संघ एम0आई0आर0 ( 1987 एण्ण 395 )[3]**

सु0 को0, ओलियम गैस लीकेज केस के वाद में एक नये सिद्धांत, जिसे पूर्ण दायित्व का नियम कहते हैं, सृजन किया गया है। इस नियम के अंतर्गत बिना किसी दोष या चूक या उपेक्षा के भी दायित्व उत्पन्न होता है तथा इस नियम के अंतर्गत के अपवाद मान्य नहीं है जो राइलैण्ड बनाम फ्लैचर के कठोर दायित्व के अंतर्गत मान्य है।

**एम0सी0 मेहता बनाम भारत संघ एम0आई0आर0( 1988 )[4]**

मामले में न्यायालय ने कानपुर के निकट जाजमउ में स्थित चर्म शालाओं से निकलने वाली गंगा का पानी प्रदूषित होने पर चर्म शालाओं में कार्यरत कर्मकार की रोजगार की अपेक्षा प्रदूषण सुरक्षित रखना आव यक बताते हुए चर्म शालाओं को बन्द करने का आदेश दिया।

**एम0सी0 मेहता बनाम यूनियन ऑफ इडियाँ ( 1988 ) सु0को0 के0 471[5]**

उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि लोक हित वाद किसी भी व्यक्ति द्वारा फाइल किया जा सकता है। चाहे उसका उसमें हित है अथवा नहीं। लोक हित वाद कोई भी व्यक्ति या संगठन या संस्था फाईल कर सकती है।

पर्यावरण संरक्षण हेतु कामन लॉ के अंतर्गत उपताप, उपेक्षा, अतिचार और कठोर दायित्व के लिए उपचार है। इसी प्रकार कुछ अन्य सांविधिकउपचार दिये गये हैं, जैसे पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 की धारा 19 के अंतर्गत नागरिक वाद दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 धारा 91 के अंतर्गत नागरिक वाद, (वायु प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1981 की धारा 43 के अन्तर्गत नागरिक वाद, जल (वायु प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1974 की धारा 49 के अंतर्गत नागरिक वाद, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 133[6] के अंतर्गत कार्यवाही जो लोक उपताप से सम्बन्धित है, भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 268-290[7] के अन्तर्गत कार्यवाही का प्रावधान है। इसके आतिरिक्त भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय में तथ अनुच्छेद 226[8] के अंतर्गत उच्च न्यायालय में याचिका दाखिल करके कार्यवाही करना भी शामिल है।

प्रौद्योगिक विकास का अस्पष्ट प्रभाव अंतरिक्ष विकास तथ उड्डयन के क्षेत्र में भी पड़ा है। इस प्रकार बाह्य अंतरिक्ष तथा ब्रह्माण्ड भी मानवीय गतिविधियों से निरापद नहीं है जो अंतरिक्ष तथा बाह्य अंतरिक्ष में मानव गतिविधियों का नकारात्मक पहलू-सीमा अतिक्रमण की अंतर्राष्ट्रीय समस्या पैदा कर सकता है। इस संदर्भ में बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय संधियां की गयी जिसमें घोषणा की गयी कि अंतरिक्ष तथा बाह्य अंतरिक्ष की शांतिपूर्ण प्रयोग किया जाय तथा इसे मानव जाति का सामान्य विरासत समझा जाय। इन सिद्धांतो का समावेश आपसी हितो के टकराव को टालने तथा पर्यावरण के हानियों के लिए अंतर्राष्ट्रीय दायित्व स्थापित करने के लिए किया गया।

इन सभी प्रयासों के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि वांछित परिणाम प्राप्त नही हो सके हैं। पिछले लगभग 35 वर्षों में वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों, न्यायाधीशों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, अर्थ शास्त्रियों तथा प्रशासको की सबसे खतरनाक समस्या विश्वव्यापी जलवायु परिवर्तन यी है। इसे ग्रीन हाउस प्रभाव कहा जाता है इसे ही ग्लोबल वार्मिंग, आजोनक्षरण तथा अम्लीय वर्षा आदि कहा जाता है। ये सभी समस्यायें पूरे ग्रह के पर्यावरण के लिए अत्यंत विनाशकारी है तथा ये इसे पौधों, जानवरों तथा मनुष्यों के लिए न रहने योग्य निर्जन बना रही है।

पर्यावरणीय विधायनों के समुचित क्रियान्वयन हेतु जहाँ एक तरफ प्रदूषण नियंत्रक बोर्ड एवं अधिकारियों का गठन किया गया है, वही दूसरी तरफ विवाद की दिशा में त्वरित निर्णय हेतु पर्यावरणीय अधिकरण की स्थापना भी की गयी है परन्तु इन सब प्रयासों के बावजूद पर्यावरण संरक्षण की समस्या में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पीछे मुख्य कारण यह है कि यद्यपि पृथ्वी प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण है और ईश्वर द्वारा निर्मित प्राणियों के सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है, परन्तु यह मनुष्य के लालच को संतुष्ट करने में असफल रही है।

मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण प्रणाली का अविभाज्य अंग है। वह न तो इसके उपर है न इसके बाहर। कोई भी धारा अपने स्रोत से उपर नहीं जा सकती। हमने अपने पर्यावरण में सुधार करने की क्षमता विकसित कर ली है। अतः हमे पर्यावरण को संरक्षित करने की इच्छा शक्ति, समझ तथा क्षमता विकसित भी विकसित करनी चाहिए। इसे जन मानस की चेतना जगाने के साथ किया जाना चाहिए। बहुत सी समितियाँ आर्थिक विकास की वेदी पर पर्यावरणीय गुणों का बलिदान करने को तत्पर दीख रही है। प्रश्न यह उठता है कि किस तरह से विभिन्न आर्थिक और तकनीकि उपलब्धियों के द्वारा प्रदत्त लाभ तथा पर्यावरण के नुकसान के बीच संतुलन कायम किया जाय। हम क्या खो रहे है और क्या पा रहे हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पर्यावरण प्रदूषण तथा त्वरित आर्थिक विकास के बीच में कैसे संतुलन पैदा किया जाय तथा उसके क्या उपचारात्मक उपाय है।

**संदर्भ ग्रंथ-सूची**


1. प्रसाद अनिरूद्ध : पर्यावरण एवं पर्यावरण संरक्षण विधि, पृ0सं0 498
2. वही, पृ0सं0 498
3. प्रसाद अनिरूद्ध : पर्यावरण एवं पर्यावरण संरक्षण विधि, पृ0सं0 541
4. पाण्डेय जे0 एन0 : भारत का संविधान, पृ0सं0 397
5. वही, पृ0सं0 397
6. सिंह सी0पी0 : पर्यावरण विधि, पृ0सं0 159
7. वही, पृ0 158
8. वही, पृ0 168


◆

# काशी हिन्दू विश्वविद्यालय : शताब्दी वर्ष; आधुनिक नालंदा के सौ वर्ष

*प्रो० सदानंद शाही* *

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना उन्नीस सौ सोलह के साल चार फरवरी को पड़ी थी । फरवरी का महीना वसंतागम का महीना है। वसंत पंचमी प्रकृति में नवोन्मेष का संदेश लेकर आती है। इसीलिए महामना ने वसंत पंचमी को स्थापना दिवस निश्चित किया। दो हजार सोलह की वसंत पंचमी के दिन यानी तेरह फरवरी को सुबह-ए-बनारस की सुनहरी किरणें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दूसरी शताब्दी में प्रवेश की गाथा गा रही होंगी। यह किसी भी शिक्षण संस्थान के जीवन के लिए गौरवशाली क्षण है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वृहत्तर परिवार, देश दुनियाँ में फैले पूर्व छात्रों के लिए यह और भी महत्व का विषय है। क्योंकि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना न तो किसी सरकार ने और न ही किसी एक राजे महराजे, उद्योगपति-पूँजीपति ने की है। यह स्वतन्त्रता की कामना से लबरेज भारत की सामूहिक जनाकांक्षा की अभिव्यक्ति है जिसे भारतीय फकीरों की महान परम्परा के मनीषी महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने मूर्तरूप दिया।

भारत के भूगोल पर कब्जा करने के बाद सात समुंदर पार से आए अंग्रेज़ व्यापारियों ने भारत के मन पर काबिज होने की जुगत शुरू कर दी। इसके लिए यहाँ की शिक्षा व्यवस्था को तहस नहस करके अँग्रेजी शिक्षा का जाल फैलाने की कोशिशे हुई। 1782 में कलकत्ते में मदरसा खुला, जिसमें अरबी की शिक्षा दी जाती थी। 1791 में काशी में संस्कृत कालेज खुला। इन सब छिटपुट प्रयासों के बाद शिक्षा के माध्यम से भारत की चेतना पर काबिज होने की असली कोशिश 1835 में लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की सिफारिश करके की। 1854 में कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1858 में बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालय बना। 1882 में शिक्षा कमीशन बैठा और इसी सन् में लाहौर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। 1887 में लार्ड लिटन ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की। भारत की चेतना पर कब्जे की इन्हीं कोशिशों के बीच राष्ट्रीय शिक्षा चिन्ता ने जन्म लिया।

अमृतसर में खालसा कालेज बना। राची में नया कॉलेज बनाने के लिए दान मिला। अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना हुई। नवाब रामपुर ने बरेली कालेज की स्थापना की। राष्ट्रीय शिक्षा के लिए राजा बलरामपुर आगे आए। विवेकानंद की प्रेरणा से टाटा अनुसंधान केन्द्र बना। देश में राष्ट्रीय शिक्षा के लिए वातावरण बन रहा था। देश के आकाश में राष्ट्रीय शिक्षा के बादल उमड़-घुमड़ रहे थे।

महामना मदन मोहन मालवीय ने इसी वातावरण में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का सपना देखा। बनारस में ही राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की तीन धारायें एक साथ सक्रिय थीं। 1904 में मिन्ट हाउस में काशी नरेश प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में महामना ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का प्रस्ताव रखा। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने 1907 में यूनिवर्सिटी ऑफ इंडिया का प्रस्ताव रॉयल चार्टर के पास भेजा था। राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का एक और सपना दरभंगा नरेश रामेश्वर सिंह के नेतृत्व में पल रहा था। इसे सौभाग्य ही कहेंगे कि राष्ट्रीय शिक्षा के लिए काशी में यत्नशील ये तीनों धारायें एक में मिल गयीं। 1911 में दरभंगा नरेश रामेश्वर सिंह ने अपने सपने को मालवीय जी के सपने से जोड़ दिया। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने इस महान सपने को अपने सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल की ठोस जमीन देकर मूर्त रूप में अवतरित होने दिया। यह हमे सदैव याद रखना चाहिए। इस तरह एक राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र का कारवाँ मालवीय जी के शुभ्र धवल नेतृत्व में आगे बढ़ गया। भारत के इतिहास में एक फकीर के नेतृत्व में नया नालंदा जन्म ले रहा था। इसका निर्माता कोई एक राजा महाराजा नहीं था। इसमें भारत की जनता ने अपनी पूँजीभूत आकांक्षाओं को मूर्त होते हुये देखा। विश्वविद्यालय के लिए धन एकत्र करने के लिए राजे महराजों से लेकर सामान्य जनता तक में होड़ मच गई थी। धन जमा करने के लिए मालवीय जी का कारवाँ जब लखनऊ पहुँचा तो चकबस्त ने कौमी मुसद्दस लिखा। 3 दिसम्बर 1911 को मालवीय जी के भाषण के पहले चकबस्त ने यह मुसद्दस सुनाया, जिसकी कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ इस तरह हैं—

**'इलाही कौन फरिश्ते हैं ये गदाए वतन।**
**सफाए कल्ब से जिनके ये बज़्म है रौशन।**
**झुकी हुई है सबों की लिहाज से गर्दन।**
**हर इक ज़ुबां पे है ताज़ीम और अदब के सुखन।**
**सफे खड़ी हैं जवानों की और पीरों की**
**खुदा की शान यह फेरी है किन फकीरों की।**
**फकीर इल्म के हैं इनकी दास्तां सुन लो।**
**पयाम कौम का दुख दर्द का बयां सुन लो।**
**ये वो दिन है जो है यादगार हाँ सुन लो।**
**है आज गैरत-ए-कौमी का इम्तहाँ सुन लो।। .....**

यह नज़्म बताती है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का सवाल कौम की गैरत का प्रमाण बन गया था। यह राष्ट्रीय शिक्षा की जनाकांक्षा का प्रतीक बन गया था। इसमें भारत के सामान्य स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान सब शामिल थे। मुरादाबाद में मालवीय जी के व्याख्यान के बाद एक मुसलमान सज्जन आँखों में आँसू और हाथ में पाँच रुपये लिए हुए खड़े हुए और ले जाकर मालवीय जी के चरणों पर रख दिए और कहा मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, तब भी इस नेक काम में मैं पाँच रुपये देता हूँ। इस दान से सबकी आँखे डबडबा आयीं। एक दूसरा प्रसंग है—मुजफ्फरपुर में एक भिक्षा माँगने वाली ने अपने

* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दिन भर की कमाई दान दे दी। एक व्यक्ति ने अपनी फटी कमीज दान में दे दी, जिसे नीलाम करके धन जुटाया गया। नीलामी में कमीज खरीदने वाले व्यक्ति ने वह कमीज भी विश्वविद्यालय के संग्रहालय के लिए वापस कर दी। औरतों ने अपने गहने तक दान में दे दिए। एक सेठ ने पाँच हजार रुपये दिये तो सेठानी ने अपने हाथ का कंगन दे दिया। कंगन नीलाम हुआ तो सेठ ने कंगन खरीद कर सेठानी को दे दिया, पर सेठानी ने उस कंगन को दोबारा संग्रहालय के लिए दे दिया।

औरतों के लिए गहनों से ज्यादा प्रिय कुछ नहीं होता। गहना औरतों के लिए केवल शौक की वस्तु नहीं है। वे मुश्किल समय के लिए गहने को सँभाले रहती हैं और वक़्त आने पर गहना निकालती हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना ऐसी आत्यंतिक जरूरत थी जिसे देश की असंख्य स्त्रियों ने महसूस किया और अपने गहने तक दान में दिए।

जिस तरह गाँधी ने स्वाधीनता आंदोलन में भारत की आम जनता को जोड़ा लगभग वैसे ही मदन मोहन मालवीय ने इस राष्ट्रीय कहें या कौमी संस्थान के निर्माण के गौरव में शामिल होने का अवसर हर आम ओ खास शख्स को दिया। अंग्रेजों की दलील थी कि भारतीय लोग निर्माण नहीं कर सकते, वे संस्था नहीं चला सकते, देश नहीं चला सकते, आदि आदि। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण ने अंग्रेजों की इस दलील का न केवल जवाब दिया, बल्कि विश्वविद्यालय की स्थापना से उसे थोथा साबित कर दिया।

मालवीय जी के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना भारत के दुखों से मुक्ति का उपाय था। महामना अच्छी तरह जानते थे कि भारत की गरीबी और बदहाली के मूल में अशिक्षा है। वे यह भी जानते थे कि साल दर साल आनेवाली महामारी और अकाल से निबटने का स्थायी हल शिक्षा से ही निकल सकता है। भारत के दुर्भाग्य से शिक्षित भारत ही निबट सकता है। भारत की शैक्षिक जरूरतों के लिए अंग्रेजों द्वारा स्थापित महज परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय नाकाफी थे। इसीलिए उन्होंने प्राचीन गुरुकुलों और पश्चिम के आधुनिक विश्वविद्यालयों के तर्ज पर आवासीय विश्वविद्यालय की स्थापना की। ऐसा विश्वविद्यालय जहाँ शिक्षा के साथ-साथ चरित्र का भी निर्माण हो सके।

महामना ने विश्वविद्यालय के लिए जो ध्येय निश्चित किए वे इस प्रकार हैं—

1. विशेषतः हिन्दू समुदाय को और सामान्यतः सार्वभौम (सभी) को हिंदुओं की संस्कृति, उनके श्रेष्ठ-चिंतनों और उनकी प्राचीन सभ्यता में जो कुछ विशिष्ट और महान था, उसका ज्ञान कराने के लिए हिन्दू शास्त्र व संस्कृत भाषा के अध्ययन को एक साधन के रूप में प्रोत्साहित करना।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की सभी शाखाओं में शिक्षण तथा शोध कार्य को प्रोत्साहन देना।
3. आवश्यक व्यावहारिक प्रशिक्षण के साथ ऐसे वैज्ञानिक, तकनीकी एवं व्यावहारिक ज्ञान का संवर्धन तथा प्रसार करना जो देशी उद्योगों को प्रोत्साहन दे एवं देश के भौतिक संसाधन का विकास करने में सहायक हों।
4. धर्म और नीति को शिक्षा का आवश्यक या अभिन्न अंग मानकर नवयुवकों में सुंदर चरित्र का गठन या चरित्र निर्माण के विकास को प्रोत्साहित करना।

प्रख्यात वैज्ञानिक शांतिस्वरूप भटनागर ने इस महान् उद्देश्य को विश्वविद्यालय के कुलगीत में बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—'प्रतीचि प्राची का मेल सुन्दर'। इस मेल में पूरब और पश्चिम के सर्वोत्तम का मेल था। बौद्धिकता, तार्किकता और हार्दिकता के मेल के साथ अखिल भारतीय समावेशिता का आग्रह काशी हिंदू विश्वविद्यालय की विशिष्टता है। आगे चलकर विश्वविद्यालय की इस विशिष्टता ने देश को ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल तथा नैतिकता और आदर्श से लबरेज युवा मस्तिष्क दिये जो अपने समकालीन विश्व के युवकों से होड ले सके।

इन आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए मालवीय जी ने संस्कृत और धर्म विद्या के साथ विज्ञान, कृषि, तकनीक, विधि और आयुर्वेद की शिक्षा का विधान बनाया। धर्म को लेकर मालवीय जी का नजरिया बहुत साफ था। उनका मानना था कि धर्मविद्या की शिक्षा मनुष्य को संकीर्ण और कट्टर नहीं बल्कि उदार और उदात्त बनाती है। आधुनिक और आत्मनिर्भर भारत के निर्माण के लिए कला कौशल और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक थी तो आयुर्वेद की शिक्षा साधारण जनता को चिकित्सा-सुविधा देने के लिए। इसीलिए आयुर्वेद में शोध और शिक्षा के साथ चिकित्सालय की स्थापना की गयी। विश्वविद्यालय के भवन भारतीय स्थापत्य कला के बेहतरीन नमूने हैं। भारत कला-भवन, केंद्रीय पुस्तकालय, विश्वनाथ मंदिर तथा परिसर की वनस्पति बहुलता हमारी बौद्धिक-सांस्कृतिक विरासत की उदात्तता का आख्यान हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना नए भारत के निर्माण की चुनौतियों का समाधान खोजने के लिए की गयी थी। अपने सौ साल की यात्रा में तमाम ऊँच-नीच के बावजूद विश्वविद्यालय अपने कुल गीत की उद्घोषणा के अनुरूप सर्व विद्या की राजधानी होने के संकल्प-पथ पर निरंतर अग्रसर है। आज सर सुंदर लाल चिकित्सालय तथा ट्रामा सेंटर उत्तर प्रदेश बिहार, मध्य प्रदेश, झारखंड की बहुत बड़ी आबादी के लिए सस्ते और उत्कृष्ट चिकित्सा का केंद्र बना हुआ है। कौशल विकास के अनूठे केंद्र के रूप में बरकछा परिसर का विकास, पर्यावरण संस्थान एवं तमाम भारतीय भाषाओं के साथ मातृभाषा भोजपुरी के अध्ययन अनुशीलन के लिए केंद्र की स्थापना इस विश्वविद्यालय की मौलिकता का अभिनव आयाम है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विशिष्टता इसकी मौलिकता में ही निहित है।

आजकल हम विश्वविद्यालयों की रैंकिंग को लेकर परेशान रहते हैं। लेकिन रैंकिग से ज्यादा जरूरी है विश्वविद्यालय की मौलिकता। हमारे विश्वविद्यालय की मौलिकता तार्किकता और हार्दिकता के मेल में है। इस मौलिकता ने भारतवर्ष को किस-किस रूप में प्रेरित और

प्रोत्साहित किया, इसका आकलन होना बाकी है। विश्वविद्यालय के शिलारोपण कार्यक्रम के अवसर पर गाँधी जी ने विद्यार्थियों के लिए जो व्याख्यान दिया था, वह इस विश्वविद्यालय का महान दस्तावेज है। उसमें गाँधी ने कहा कि मातृभाषाओं में शिक्षा होनी चाहिए। गाँधी जब-जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आये उन्होंने यह याद दिलाया। चाटुकारिता और झूठ से बचने की सलाह दी।

सौ वर्ष किसी विश्वविद्यालय के लिए बहुत ज्यादा नहीं होते। आने वाली शताब्दियों में विश्वविद्यालय के सामने अलग तरह की चुनौतियाँ हैं। ऐसे में उसे देश और समाज की चुनौतियों का सामना करने लायक शिक्षित मस्तिष्क देना है। शिक्षित मस्तिष्क का निर्माण विश्वविद्यालय के खुले वातावरण में ही संभव है। भूमंडलीकरण की आँधी सब कुछ को एक जैसा कर देना चाहती है। ज्ञान-विज्ञान की अनेक नयी शाखाएँ जन्म ले रही हैं। हमारी अपनी समाजार्थिक समस्याएँ हैं। वैश्विक चुनौतियों और स्थानीय आकांक्षाओं में तालमेल बिठाने की चुनौती विश्वविद्यालय के सामने है। इसके लिए विश्वविद्यालय का वातावरण इसके परिसर की तरह ही उदार और उदात्त होना चाहिए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहा करते थे कि विश्वविद्यालय ऐसी जगह है जहाँ विचारों की टकराहट होती है (या होनी चाहिए)। विचारों की टकराहट तभी संभव है जब विश्वविद्यालय में असहमति की गुंजाइश होगी। विश्वविद्यालय के महान संस्थापक महामना के पास असहमति से संवाद बनाये रखने की अद्भुत सामर्थ्य थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पुरानी प्रोसिडिंग से पता चलता है कि विश्वविद्यालय के संस्थापक पर भी सवाल उठाये गए। मालवीय जी कभी भी उन सवालों से घबड़ाए नहीं, विचलित नहीं हुए, बल्कि आगे बढ़कर उनसे संवाद किया। वे जानते थे कि असहमति के बगैर मौलिकता संभव ही नहीं है। वे यह भी जानते थे कि मौलिक हुए बिना कोई विश्वविद्यालय न तो नये ज्ञान का सृजन कर सकता है, न ही ज्ञान की नयी व्याख्या कर सकता है और न ही उसका प्रचार-प्रसार कर सकता है। मालवीय जी कभी भी सवालों से घबड़ाए नहीं, विचलित भी नहीं हुए; बल्कि आगे बढ़कर असहमति से संवाद किया। इसीलिए मालवीय जी महामना हैं–महान मन वाले। मदनमोहन मालवीय की यशःकाया काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अपने संस्थापक की तरह महान–मन के साथ जब अगली शताब्दी में कदम रख रहा है, उम्मीद की जानी चाहिए कि वह इतिहास विधाता द्वारा दी गयी भूमिका को बखूबी अंजाम दे सकेगा।

◆

# अल्मा कबूतरी उपन्यास में सामाजिक परिवेश एवं नारी स्थिति

*टीकम चन्द मीना* एवं डॉ0 सत्यपाल शर्मा***

वर्तमान हिन्दी साहित्य में जिन नये साहित्यकारों ने आम आदमी के स्वर, उसकी पीड़ा, उसकी त्रासदी को अपने साहित्य में उकेरा है उनमें मैत्रेयी पुष्पा का नाम प्रमुख है। सत्ता के लेखकीय, व्यक्तिगत जीवन पर वे निरन्तर जूझती रही हैं। एक अनवरत संघर्ष और तीखा प्रहार करना, यह उनकी संघर्षशील मानसिकता व लेखन का परिचायक है। वे बहुआयामी व्यक्तित्व की धनी हैं। आज तक उनके कई उपन्यास और कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ कृतियों के लिए पुष्पा जी को अनेक सम्मानों से पुरस्कृत भी किया गया है।

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में आदिवासी कबूतरा जाति द्वारा लेखिका ने एक ऐसे समाज को प्रस्तुत किया है जो समाज की मुख्य धारा से छिटका हुआ है। ऐसे समाज में स्त्री की स्थिति बड़ी विषम है, तो पुरुषों का जीवन भी कम संघर्षमय नहीं होता। पग-पग पर अपमान, जलालत और उच्च जाति का तिरस्कार सहना उनकी आदत में है। इसके अलावा कोई रास्ता इनके पास नहीं होता है। लेखिका ने कबूतरा आदिवासियों की कथा के माध्यम से ऐसी ही अनेक जातियों की सामाजिक स्थिति और विषमता को पाठक के सामने रखकर एक नए सिरे से सोचने के लिए विवश किया है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने आदिवासी कबूतरा जाति की समाज व्यवस्था चित्रित करके पाठकों को आश्चर्यचकित कर दिया है। आज उसे विलुप्त जातियों में गिना जाता है। जिसकी संख्या आज गिनी-चुनी रह गई है। बुन्देलखण्ड के कुछ इलाकों में उनकी संख्या को दर्ज किया गया है। वे लोग कोई निश्चय जगह पर न बसकर गाँव-गाँव घूमते-फिरते किसी के खेत में डेरे डालकर अपना जीवन व्यतीत करते रहते हैं। उपन्यास में मंशाराम माते का दादा कहता है–'मैं झींक रहा हूँ। साले कबूतरा पूरा डेढ़ बीघा दाबे हुए हैं। आधा बीघा हग-मूतकर बरबाद करते हैं। कसर रह जाती है सो दारू का विषैला पानी बहाकर पूरी कर देते हैं। दो बीघे का मतलब बत्तीस मन गेहूँ। मंडी में बेचो तो हजारों रूपये। घर में रखे तो पूरी साल का अन्न।''[1]

वे सामूहिक रूप से बसने के बजाय फैले हुए होते हैं। दूर-दूर तक फैले हुए होते भी दूसरे डेरों से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। उनके डेरे समग्रता एवं एकता के अद्‌भूत प्रतीक हुआ करते हैं।

कबूतरा पुरुष प्रधान समाज होता है, किन्तु अधिकतर डेरों में पुरुष के बजाय स्त्रियों की उपस्थिति अधिक रहती है, क्योंकि डेरे के अधिकतर पुरुषों को चोरी करने, डाका डालने या तो शराब बेचने के जुल्म में अपराधी घोषित किया जाता है। अपराधी अपने अपराधों के डर से या पुलिस से बचने के लिए डेरों से भाग निकल कर नजदीकी जंगल में जा बसते हैं। कभी-कभी पुलिस की नजरों से बचते वे लोग अमावस्या की रातों में जंगल से आकर अपने परिवार और औरतों से मिलते हैं और वापस अपनी दुनिया में जा बसते हैं। वे छापामार गुरिल्ले की भाँति होते हैं जो रात पर किसी के घर झपट्टा मारकर धन हथियाते हैं। ऐसा करना उनकी सव्य की, बिरादरी की या तो बिरादरी कम मुखिया की ख्याति हुआ करती है। आदिवासी कबूतरा जाति का सरमन मुखिया मानता है कि-'कबूतरी के मन से कहीं जंगलिया कबूतरा न निकल जाय, उसका निकलना जाति का निकलना होगा और यह सरमन मुखिया की नाकामयाबी मानी जाएगी। नाकामयाबी नहीं, जाति के लिए गद्दारी भी।''[2]

आदिवासी कबूतरा जाति में पंचायत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। वह डेरों के बुजुर्गों से मिलकर बनती है। पंचायत अपने समाज का उत्कर्ष एवं नियंत्रण करती है। उसके प्रमुख व्यक्ति को 'मुखिया' कहा जाता है। मुखिया संपूर्ण बिरादरी की संचालन करता है। अपने समाज में व्याप्त माल-मिलकत के झगड़े, पारिवारिक एवं धार्मिक झगड़ों का फैसला स्वयं पंचायत करती है। समाज का कोई भी सदस्य समाज की व्यवस्था के खिलाफ व्यवहार करे तो पंचायत उसे समाज से बहिष्कृत करती है। आलोच्य उपन्यास में कदमबाई अपने पुत्र राणा को कबूतरा समाज व्यवस्था के खिलाफ पढ़ाती है, परिणामस्वरूप कदमबाई को डेरे की पंचायत द्वारा अपनी जाति से बहिष्कृत किया जाता है, किन्तु आज पढ़े-लिखे कबूतरा जाति के लोग अपनी ही जाति की पंचायत या पंचायत के नियमों का विरोध करते हैं। उपन्यास का पात्र रामसिंह कहता हैं-''तुम्हारी पंचायत को मैं नहीं मानता मुखिया जी। तुम्हारे पंचों के भी दाँत हैं, जो आदमी को फाड़ते नहीं, फँसाते हैं। राणा की माँ तुम्हारी पंचायत की शिकार है। उसे बस्ती भर की मजबूरी बना दिया।''[3]

किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था का उल्लंघन करना अपनी जातिगत समाज व्यवस्था को खत्म करना है। पंचायत की ताकत को ईश्वरीय ताकत समझा जाता है। इस संदर्भ में राणा सोचता है। ''माँ छोटी पंचायत के लिए तैयार है। तीन गाँव के डेरों के कबूतराओं का सामना करेगी। बात नहीं बनेगी तो बड़ी पंचायत होगी-पाँच जातियों के पाँच लोग पंच बनाए जायेंगे, माँ अपनी बात उनके सामने रखकर न्याय मांगेगी।''[4]

इस प्रकार पंचायत के अलावा आदिवासी कबूतरा समाज को नियंत्रित करने के और भी बहुत सारे माध्यम होते हैं, जो परम्परागत समाज के रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं।

---

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असि.प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी।

**नारी की स्थिति**

आदिवासी कबूतरा समाज में नारी की स्थिति न के बराबर है किन्तु स्त्री-पुरुष आधिपत्य के संदर्भ में वह पुरुष पर प्रशासन करती नजर आती है। वे अपने पुरुषों की महत्ता पौरुष बताने में समझती हैं। उनका पति दूसरी स्त्रियों के पतियों की तुलना में अधिक से अधिक मर्दानगी बताए वही चाहती हैं। वह सिर्फ जीवन जीने के लिए पुरुष का सहारा नहीं चाहती, बल्कि चोरी, डकैती करके चोरों की दुनिया में अपनी नाम उजागर करे यही चाहती है। प्रस्तुत उपन्यास की कदमबाई अपने चोर, डकैत, अपराधी पति जंगलिया को जी-जीन से चाहती है। चोरी के अपराध में पुलिस से बचते जंगलों में भटकते जंगलियों के लिए कदमबाई का विरह उत्कृष्ट बन पड़ा है। वह अपने पति को मिलने के लिए तत्पर बनती शृंगार से सजती है-'कदमबाई ने सोलह सिंगार किए। गोबर से रगड़कर पाँव धोए ऐड़ियाँ चिकनी हो गई। सरमन की औरत से बकरी का दूध माँगकर चेहरे पर मला और पानी के छींटे देकर निखारा, कांति दो गुनी हो गई। एक बिंदी की तलाश में डेरे-डेरे फिरी थी, रूप सौगुना हो जाए।''[5]

किन्तु अफसोस की बात है कि कज्जा मंशाराम माते धोखे से कदम के पति जंगलिया की हत्या कर उसके शरीर को प्राप्त करता है। कदमबाई जानती है कि मंशाराम माते उसके पति जंगलिया का हत्यारा है, किन्तु इस दुनिया में कोई औरत बिना मर्द के नहीं रह सकती। मर्द उसका सहारा है। वैसा ही जेसे बेल के लिए पेड़ होता है। मर्द शीशम का पेड़ है और औरत उसकी अमरबेल। बिना पेड़ का सहारा पाये वह जी नहीं सकती। कदमबाई उन सारी परिस्थितियों को महसूस करती है और न चाहने पर भी मंशाराम माते के साथ बार-बार शारीरिक संबंध बाँधती अपनी जीवनयापन करती है। वह एक अच्छी पत्नी, माँ और अच्छी औरत के रूप में उपन्यास में चित्रित हुई है।

कदमबाई के अलावा अल्मा का पात्र भी उपन्यास का प्रमुख नारीपात्र है जिसके नाम के आधार पर लेखिका ने उपन्यास का शीर्षक रखा है। अल्मा रामसिंह की पुत्री है। वह यौवनावस्था में राणा के प्रेम में बँधकर उसी को जी-जान से चाहती है। अपने मन में राणा के प्रति सच्चा प्रेम होने के कारण वह राणा के साथ शारीरिक संबंध भी बाँधती है, किन्तु राणा को पति के रूप में स्वीकारने से पहले ही उसके पिता रामसिंह की किसी के द्वारा हत्या हो जाती है। पिता की हत्या के बाद अल्मा को दुर्जन कबूतरा के घर पहुँचाया जाता है। दुर्जन धन का लोभी होता है। वह कुछ रुपयों में अल्मा को सूरजभान के हाथों बेच देता है। सूरजभान के घर में बन्दी अल्मा सूरजभान से श्रीराम् शास्त्री के घर पहुँचती है। वहाँ वह श्रीराम शास्त्री की रखैल बनकर अपना जीवनयापन करती है। रखैल का रूप भी ज्यादादिन नहीं रहता। एक दिन मंदिर जीर्णोद्धार के समय श्रीराम शास्त्री की किसी के द्वारा गोली मारकर हत्या की जाती है। श्रीराम शास्त्री की मृत्यु के बाद अल्मा विधवा बनती है। वह समाज के सारे विधि विधानों के अनुसार श्रीराम शास्त्री की पत्नी के रूप में श्रीराम शास्त्री का क्रियाकर्म करती है और अंत में अपने स्व0 पति श्री राम शास्त्री की रिक्त विधानसभा सीट की दावेदार बनती है।

**स्त्री-पुरुष यौन संबंध**

भारतीय आदिवासी समाज स्त्री-पुरुष यौन संबंधों को लेकर दूसरे समाजों की तुलना में भिन्न है। उनके समाज में यौन संबंधों की स्थापना के लिए विवाह संस्था के अतिरिक्त दूसरे रूप भी पाये जाते हैं। कुछ आदिवासी जातियों में पुरुष महिलाओं को वेश्या बनाकर धन अर्जित करते हैं अथवा वेश्यावृत्ति से उनका कमाया हुआ खाते हैं। कुछ आदिवासी जातियों में नवयुवक एवं नवयुवतियों को अपनी ही आदिवासी जाति में स्वच्छन्दतापूर्वक यौन संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता रहती है, परन्तु ये आदिवासी जातियाँ विजनजाति के पुरुष अथवा नारी से यौन-संबंध स्थापित करने के विरोध में कठोर नियमों का पालन करती हैं, और जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि आदिवासी की जो लड़की किसी विजनजातीय पुरुष से यौन संबंध स्थापित करती है, तो उस नवयुवती एवं उसके माता-पिता को आदिवासी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

आलोच्य उपन्यास में मैत्रेयी जी ने बुन्देलखण्ड की आदिवासी कबूतरा जाति के स्त्री-पुरुष यौन संबंधों पर गहराई से प्रकाश डाला। कबूतरा घुमक्कड़ जाति होती है। एक गाँव से दूसरे गाँव जाकर कोई निर्जन जगह या किसी के खेत में डेरा डाले अपना जीवन गुजार लेती है। उनका मूल व्यवसाय शराब बेचना होता है। शराब बेचने का व्यवसाय होने के कारण उनके यहाँ हरेक किस्म के लोग आया-जाया करते हैं। स्त्री के नसीब में अपने पति का सुख अधिक दिनों तक नहीं रहता। शराब बेचने या चोरी करने के जुल्म में पुलिस द्वार अधिकतर कबूतरा जाति के पुरुषों को अपराधी घोषित किया जाता है। ये सारे अपराधी पुलिस से बचने के लिए अपने डेरों से दूर जंगलों में जाकर बसते हैं। जंगलिया की अनुपस्थिति में कज्जा मंशाराम माते कदम के रूप पर मोहित होकर धोखे से जंगलिया की हत्या करके कदमबाई के साथ शारीरिक संबंध बाँधता है। कदमबाई कहती है—'वादे के हिसाब से वह पास आया, वह छाया को देखते ही मदहोश हो गई। गदराई हुई गेहूँ की बालें पेट को गुदगुदा रही थीं, गुनगुनी बांहों ने उसका बदन बाँध लिया।

हाय, सदा घाघरा उतारता आता था, आज पहले चोली के बटन खोल रहा है। एकांत में फरसद पर गया? याद नहीं कि घड़ियाँ गिनी-चुनी हैं? कदम ने घाघरा खुद ही नीचे हो सरका दिया। बंद आँखों में अपने ही गोरे बदन की छाया जगमगाई। आँखों पर रखे हाथों की उंगलियों से झांकना चाहती थी कि गर्म सांसों ने होठों पर कब्जा कर लिया। सारे डर-भय को दबाने की खातिर उसने अपने पुरुष को भींच लिया। आनंद लोक में विचरने वाली कदमबाई, दोगुनी ताकत से भिड़

रही थी। मिलन की डोर से बंधी स्त्री हर लम्हें नई से नई मुद्राएँ अपनाने लगी। अब केवल वह थी, बाकी कोई न था। धरती, धरती न थी देह के साथ उठती-दबती चादर। आसमान, आसमान न था। तारों का झमकता झूलना.....।

कदमबाई का ऐसा करना मजबूरी है, क्योंकि वह मंशाराम माते के खेत में डेरा डाले बसी है। उनका रक्षण स्वयं की बिरादरी के अलावा मंशा भी करता है। वह न चाहते हुए भी मंशा से बार-बार यौन संबंध रखती है। उसके पति जंगलिया की मौत का जिम्मेदार स्वयं मंशा होता है। कदमबाई यह सारी बातें जानते हुए भी मंशा को सहजता से स्वीकारती है। केवल स्वीकारना ही नहीं, वह मंशा को अपना रक्षक मानकर रक्षक को खुश रखने हेतु बार-बार अपना शरीर देती रहती है। ''कदमबाई की देह सिमट आई। सिमटी हुई देह में सितारे खिल पड़े। उसकी इच्छा हुई, मंशाराम के सीने पर सिर टिका दे। मंशाराम का हाथ जिस यात्रा को तय करने में लगा था, कदम उससे एकदम अनजान बैठी रही। छूना, निरखना, भींचना और चूमना उसे मंशाराम के हवाले छोड़ दिया। उसका कुछ भी करना उसे अपनी ही इच्छा मालूम दे रही है।''[6]

मंशा माते के पात्र में अश्लीलता की बू आती है। वह कदमबाई के साथ यौन संबंध रखता। कभी-कभी अपनी पत्नी को खुश करने के लिए स्वयं न चाहने पर भी पत्नी के साथ यौन संबंध बाँधता है। 'पत्नी इशारे समझती है। उसकी बाँह बढ़ी, औरत खुद ब खुद खिंच आई। उन्होंने होंठ आगे किए, पत्नी चेहरा करीब ले आई। चूसने के बाद बोले, पगली। तेरी जगह कौन ले सकता है इस संसार में? उनका सरकता हुआ हाथ आनंदी के गालों को सहला रहा था, उंगलियों की पोंरे गीली हो गईं। वे हरे-भरे होते गए। छाती से छाती भिड़ाकर, कंधे से कंधा सटाकर जीवनसाथी की तरह बिचरने लगे।

उपर्युक्त कदमबाई और मंशा माते के यौन संबंधों के अलावा राणा और अल्मा के बीच भी यौन संबंध दिखाई देता है। अल्मा कबूतरा रामसिंह की इकलौती युवा पुत्री है जिसके घर मंडोरा खुर्द में बसी कदमबाई का पुत्र राणा पढ़ने के लिए आता है। नित्य दिन पढ़ाई करता राणा जवानी की दहलीज पर पैर रखता अल्मा के प्रति आकर्षित होता है। अल्मा भी राणा की कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रभावित होती हुई प्रति आकर्षित होती है। एक रात दोनों एकांत का मौका पाकर आमने-सामने आते हैं। राणा को रात के अंधेरे में, एकांत में देखकर अल्मा अपने आपको वश में नहीं कर पाई और वह स्वयं काम से पीड़ित होती राणा पर टूट पड़ती है। मैत्रेयी जी लिखती हैं-''गजब अल्मा ने कुर्ती उतार दी। रजाई में राणा समेत सब कुछ छिपा लिया। .... मगर छूना-परसना... हाथों में गेहूँ के आटे की रंगत के लिए ठोस अमियों के आकार, दूधों पर नाचती हुई फालसाई फिरकियाँ। राणा की हथेलियों में नटखट जुगनू छिपे हैं।''[7]

इस प्रकार आदिवासी कबूतरा जाति में स्त्री-पुरुष के यौन संबंध भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं।

**अत्याचार**

प्रस्तुत उपन्यास में अंग्रेजी हुकूमत के अनुरूप ढली पुलिस के भ्रष्ट और अत्याचारी रूप को मैत्रेयी जी ने विशेष ढंग से उभारा है। इस उपन्यास में शोषक वर्ग, पुलिस कर्मचारी और शोषित वर्ग आदिवासी कबूतरा समाज है। लेखिका ने राजनीति के उस घिनौने रूप को बेनकाब किया है, जिसमें पुलिस जैसे सामान्य पद को पाकर भी इंसान कितना अहंकारी, क्रूर और अमानवीय हो सकता है, एक छोटे सरकारी पद का कैसे दुरूपयोग करता है और डंडे के बल पर गरीब और कमजोर वर्ग का किस तरह शोषण करता है। अपने छोटे-छोटे व्यवसायों को लेकर श्रम के बल खड़े आदिवासी कबूतरा समाज के पास प्रजा की रक्षक पुलिस किस प्रजा भक्षक बनकर जाती है उसका जीवन्त उदाहरण मलिया काका के कथनों से प्राप्त होता है। मलिया कहता है-मैं रोटी का टुकड़ा हूँ कदम, पुलिस के आगे फेंकने के लिए। पुलिस आए और खाली चली जाए, यह दरोगा-सिपाही की तौहीन है। वे गुर्राने लगते हैं फिर। मरे हुओं को ही फिर मारने लगते हैं। कहो, आपस में ही एक-दूसरे का सिर फोड़ने लगें। लाचार आदमी-मुजरिम लेकर थाने की चौखट पर न चढ़ पाए तो बूट वर्दी का पराक्रम क्या?

वैसे ही आदिवासी कबूतरा जाति का जीवन संघर्षों से भरा हुआ है। उनके पास न तो खेत-खलिहान हैं न तो कोई आर्थिक उपार्जन के साधन। वे अपने श्रमबल से कुछ भी करने में सक्षम होते हैं। अंग्रेज शासन काल के दौरान अपने इलाकों के लिए अंग्रेजों के खिलाफ धनुष लेकर लड़े थे। वे अंग्रेजों की नाक में दम करके रहे थे। इसलिए तत्कालीन अंग्रेज शासकों ने इन्हें अपराधी करार दिया और उसी अपराधी की मोहर आज तक लगी रही है। वे जन्मजात अपराधी माने गये हैं। अपना जीवन निर्वाह करने के लिए कभी चोरी, डकैती या शराब बनाकर बेचने का व्यवसाय कर रहे हैं। भ्रष्ट शासन से सज्ज अत्याचारी पुलिस शराब बेचने के जुल्म में उसे अपराधी घोषित करके दण्ड स्वरूप उससे घूस प्राप्त करती है। घूस न देने पर उन लोगों की सख्त पिटाई अपने कीलदार बूटों के नीचे उन लोगों के शरीर को रौंदती है। भीखम कहता है-''मैं नहीं जाऊँगा। सिपाही पकड़ ले जाएँगे। एक बार नहीं दो बार थाने जा चुका हूँ। बर्तन भाँड़े धुलवा लें। मालिश करा ले। पर वे तो ऐसा काम कराते हैं, कि..... चौपायें की तरह खड़ा कर देते हैं और फिर हमला.....लौटकर आया था, तब कैसे हाल था, याद है?

पुलिस चाहती है कि अंकुआ फूटने से पहले बीज को मसल दिया जाय। पुलिस के पास लेखनी है। अपनी लेखनी से जो कुछ भी करना चाहती है, वह कर सकती है। पुलिस की लेखनी गरीबों को लूटने या गरीबों के बयान लिखने का काम करती है। इस बात की पुष्टि देते केहर सिंह कहता है-'साले दरोगा एस0पी0 एसपियों की नीयत खूब पहचानता हूँ मैं। जनता को कलम के हर तरफ से लूटने वाले सोचते हैं उन्होंने आला बयान लिख डाले। फलाँ कबूतरा ने फलां किसान के

खेत से चने के दस पौधे उखाड़ लिए, हरित क्रांति को खतरा है। साईकिल की चेन उतार ली, गरीब की सवारी पर हमला है।''[8]

उन अत्याचारों को सहता आदिवासी कबूतरा समाज न्यायिक शासन प्रणाली के पास न्याय माँगने के लिए जाता है तो न्याय के बदले उसे जुल्मों का शिकार हो जाना पड़ता है या उसकी जेब झाड़ ली जाती है। लोकतंत्रीय शासन प्रणाली नाममात्र के लिए जनता का शासन है। वास्तव में इसमें जनता के अधिकारों का दुरूपयोग होता है। विशेषकर चुनाव के समय पर। प्रस्तुत उपन्यास में तत्कालीन भ्रष्ट शासन प्रणाली का भी उल्लेख हुआ है।

**सन्दर्भ सूची**


1. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 10
2. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 79
3. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 109
4. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 257
5. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 21
6. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 22
7. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 80
8. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 181


◆

# संस्कारों की बस्ती बी0एच0यू0 में जीवन का संक्रान्तिकाल

*डॉ0 माया जोशी* *

मार्च 2014, महाशिवरात्रि का दिन। समीपवर्ती शिव मन्दिर में पूजा-अर्चना कर घर लौटी। आते ही मेज पर छोड़े मोबाइल फोन में एक मिस्ड कॉल और एक मैसेज पाया। मैसेक क्या था, वर्ष 1982 के अति संक्षिप्त, अतृप्तिपूर्ण सुयोग के उपरान्त बीते पूरे 32 वर्षों की छटपटाहट का अत्यन्त सुविधाजनक और मनोनुकूल समाधान का प्रतीक था। लगा स्वयं बाबा विश्वनाथ ने संतुष्ट हो मुझे यह वरदान दे डाला है। 'अवढर दानी' यों ही तो नहीं कहलाते न! 75 वर्ष की आयु में भी उसी छात्रावस्था जैसे उत्साह-उल्लास से विभोर हो उठी। इस बार 10 दिन तक रह पाने का विधान बन गया था।

हाँ, इस बीच एक दिन अकस्मात् मन में यह विचार कौंधा था कि मैं अपने बी0एच0यू0 में व्यतीत हुए समय को इतना मूल्य देती हूँ, यह निर्विवाद है, किन्तु यह भी उतना ही अकाट्य तथ्य है कि इसका श्रेय समग्रतः न सही अधिकांशतः मेरे विमेन्स कॉलेज (तत्कालीन नाम) को जाता है। कारण, जहाँ एक छोटे शहर से आई मैंने वह सब देखा-जाना, निरखा-परखा और आत्मसात् किया जिसने मेरे वर्तमान को गढ़ा, आधार दिया और पूर्ण सक्षमता, आत्मविश्वास तथा विवि की प्रतिष्ठा का सजगता से सम्मान करते रहने का पाथेय मेरे आँचल के छोर में बाँध मुझे कार्यक्षेत्र में उतारा।

10 अप्रैल, 2014 : वाराणसी पहुँची। सर्वप्रथम बाबा विश्वनाथ तक पहुँच कृतज्ञता-ज्ञापन किया। देर हो जाने के कारण रात्रि शहर में ही व्यतीत करनी पड़ी, किन्तु आकुल विवशता में ही 11 अप्रैल प्रातः 8.00 बजे वि.वि. सिंहद्वार से प्रविष्ट हुई। उस समय की अपनी मनःस्थिति को शब्द नहीं दे पाऊँगी। पूरे 32 वर्षों की साध का सहज ही पूरी होना किसी चमत्कार से कम न था। आगे बढ़ते ही बायीं ओर बाउण्ड्री वॉल के पीछे अपना विमेन्स कॉलेज, जैसे माँ द्वार की ओट में खड़ी अपनी सन्तान की आतुर प्रतीक्षा करती है। जानती है कि उसके रहने से जल्दी पहुँचने का कोई संबंध नहीं, फिर भी माँ का नैसर्गिक स्वभाव!

थोड़े विराम के बाद 10.30 बजे के लगभग महिला महाविद्यालय के गेट पर पहुँच गयी। पुलक और उत्साह को नापनेवाला कोई एपरेटस होता तो वह भी शायद उच्चतम अंक तक पहुँच जाता। हाथ में बी0एच0यू0 से सम्बद्ध और अब तक सहेजकर रखी गई सामग्री की फाइल लिये गेट के अन्दर कदम रखा, रोमांचित हो उठी। दाहिना हाथ अनायास ही धरती की ओर बढ़ा, पवित्र धूलि का स्पर्श कर सिर तक पहुँचा—सब कुछ यंत्रवत्। दृष्टि उठाई, सामने हॉस्टल था 'माकनजी खटाऊ छात्रावास' वैसे का वैसा ही जहाँ मैं कभी-कभी अपनी बोर्डर क्लासमेट्स के साथ जाया करती थी। दाहिनी ओर गार्ड रूप था, मैं निकट पहुँची। वह उठकर खड़े हो गये, इस बीच वह अनुमान लगाकर सब कुछ समझ चुके थे। मैंने पूछा, ''एण्ट्री करनी है?'' बोले, ''अरे नहीं!'' मैंने फिर भी औपचारिकता-निर्वाह की दृष्टि से अपना परिचय देना उचित समझा, ''मैं यहाँ 57 साल पहले पढ़ती .....'' कंठावरोध ने वाक्य पूरा न होने दिया।

'परत उताइल पाँव' के अनुरूप महाविद्यालय के मुख्य भवन की ओर आगे बढ़ती गई। दृष्टि हर ओर, हर अंश में चिर-परिचित अतीत को खोजती-पहचानती, पुलकित होती चली। साज-सज्जा और कहीं नवनिर्मिति को छोड़ सब कुछ वैसा ही मिला, सुपरिचित आत्मीय-सा। कितना भी बदले किन्तु सब कुछ नहीं बदल जाता, विशेषकर मूल आत्मा, संस्कृति, स्वरूप चाहे व्यक्ति हो, शहर अथवा स्थान विशेष। यह बड़े सुखद सन्तोष की अनुभूति होती है।

प्राचार्या महोदया से मिली, अपना परिचय दिया, आने का मन्तब्य बतलाया। उन्होंने अन्य प्रोफेसर्स से भी मिलवाया। हिन्दी की प्रोफ़ेसर डॉ0 पुष्पा अग्रवाल के साथ ऑडिटोरियम गई जो प्रायः मुझे हॉण्ट-सा करता था कारण कि वहाँ हमारी कम्पलसरी इंग्लिश और हिन्दी की कक्षाएँ लगती थीं। दो दिवसीय महाविद्यालय-भ्रमण ने 1956-59 की अवधि को पुनर्जीवित कर दिया। यों भी अतीत व्यतीत होकर भी पूरी तरह चुक नहीं जाता, जब-तब स्मृति में जुगनू की तरह रह-रहकर अपने वजूद का अहसास कराता दिपदिपा उठता है।

मन फ़्लैशबैक में पहुँच गया। मैं छोटे से शहर से आई थी। इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा कोएड0 में हुई थी। शायद इसीलिए रूढ़िवादी संकोच और बाध्यताओं से मुक्त होकर विमेन्स कॉलेज में 'कोज़ी कॉर्नर' जैसी अनुभूति हुई। निरखते-परखते अधिकाधिक आत्मसात् करने लगी।

सिलेबस में पाठ्य विषयों के ग्रुप बने हुए थे। बहुत लालसा होते हुए भी पृष्ठभूमि न होने के कारण न संगीत मिल सकता था और न पेण्टिंग (मैं टेक्निकल ड्रॉइंग की छात्रा रही थी)। हिन्दी-अंग्रेजी साहित्य मैं छोड़ नहीं सकती थी। वश चलता तो संस्कृत भी न छोड़ती, किन्तु इन तीनों का ग्रूप नहीं था। अंततः हिन्दी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य और डामेस्टिक साइंस वाला ग्रुप लिया। इसके अतिरिक्त कम्पलसरी इंग्लिश और आधुनिक भारतीय भाषा के अन्तर्गत हिन्दी का विकल्प चुना। उस समय डॉ0 के0 वेंक्टेश्वरम् हमारी प्राचार्या थीं, उनकी सेवानिवृत्ति के पश्चात् डॉ0 मिस पी0सी0 धर्मा ने पदभार ग्रहण किया।

सत्र चल निकला। हमारी प्रोफ़ेसर्ज जितनी विदुषी तथा अपने-अपने विषय की विशेषज्ञ, उतनी ही सहज और आत्मीयता से लबरेज भी थीं। अंग्रेजी मे मिसेज़ एल0 मेनन की बाल-सुलभ मुस्कान वाली छवि माँ की-सी आत्मीयता का आभास कराती थी। मुझे याद है, शीत

* नैनीताल, उत्तराखंड

ऋतु कभी की शुरू हो चुकने पर भी ठण्ड का अनुभव न करने के कारण मैं बहुत समय तक स्वेटर नहीं पहनती थी। जब भी मैं सामने पड़ती वह मुझे टोकतीं और कृत्रिम भय जतलाकर कहतीं, ''आयल नॉट मार्क यू प्रेजेण्ट।'' और फिर हँस देतीं। वह इंग्लिश पोयट्री और रस्किन लेतीं थी। 'Kublai Khan', 'Ulysses', 'La Bella Dam Sans Merci' और 'Ode to a Grecian Urn' जैसी कविताएँ पढ़ाते हुए वह अपने नेत्र-संचालन, हाव-भाव और टोन से प्रसंगानुकूल वातावरण की सजीव सृष्टि कर देती थीं। स्टाफ़ कवार्टर्स के ई-सेक्टर में हमारे घर के सामने वाली लाइन में थोड़ा-सा आगे ही उनका आवास था। दो-तीन बार स्वयं मेरे यहाँ सन्दर्भ-ग्रन्थ देने आईं, इतनी चिन्ता, इतनी सहजता! एक बार किताब के साथ ही (मेरी अनुपस्थिति के कारण) ईण्डनोट रखकर दे गयीं जो आज भी मेरी अमूल्य निधि के रूप में संरक्षित है—

Dear Maya,

You will find here some points on 'Ruskin's influence today'. Please take down points and also the remarks of E.T. Cook on Ruskin given in Gokak - I have kept the bookmark-C IV

उनके सहज व्यक्तित्व, सबके प्रति आत्मीयता के सभी कायल रहे होंगे। इस बार रिक्शे से लंका मार्केट जाते हुए मार्ग में पड़ते अपने महिला महाविद्यालय की ओर संकेत करते हुए मैंने रिक्शाचालक को बतलाया कि मैं वर्ष 1956 से यहाँ पढ़ी थी। वह भी तत्काल बोल उठा, ''हमारे पिताजी यहाँ माली हुआ करते थे। उस समय मिसेज़ मेनन थीं।''

मिसेज़ लीला देसाई अंग्रेजी में नाटक लेती थीं जिनमें शेरिडन का 'द राइवल्स' और शेक्सपियर का 'मैकबेथ' पाठ्यक्रम में थे। आकर्षक साउथ सिल्क की साड़ी और बालों में एक फूल अवश्य होता। विश करने पर मुस्कान से स्वीकार करते हुए आत्मीयता की गहरी दृष्टि से देखतीं। ऐसे में फ़ासले भला कहाँ रह जाते हैं? थोड़ा स्पीड से पढ़ाते थी, इसलिए कभी-कभी ऐसा भी हो जाता था कि वह कहीं आगे बढ़ चुकी होतीं और हम थोड़ी-सी भी चूक के कारण ढूँढ़ते रह जाते थे। उनका बतलाया Spoonerism, Melapropism और Witchcraft अभी भी याद हैं। फ़ेयरवेल पार्टी की सूचना और निमंत्रण देते हुए उन्होंने हमें विशेषरूप से ड्रेसअप होकर आने को कहा, बतलाया कि यह होस्ट का सम्मान करने का प्रतीक होता है। आज भी मैं पारिवारिक या आस-पास की ही पार्टी में ही इस टिप को फ़ॉलो करती हूँ और हर बार उन्हें याद करती हूँ। पार्टी में वह हमारी टेबल पर बैठीं, हमारे साथ ओर हर डिश का आग्रह कर हमारे भारी मन को हल्का करने का प्रयास करती रहीं। फ्रूट क्रीम के लिए (नरिशिंग होने के कारण) उनका विशेष आग्रह आज भी याद है।

मिस पुष्पा सुन्दरम आधुनिक इंग्लिश पोयट्री लेती थीं। वह भी सदा आकर्षक साउथ सिल्क साड़ी में होतीं। व्यवहार में वह भी बहुत सहज थीं। हमारी प्रश्नाकुलता या शंका को भाँपकर पूछतीं और तत्काल समाधान करतीं। स्वर और उच्चारण इतनी स्पष्टता से करतीं जिसे सामान्य भाषा में distinctive feature of pronunciation या 'चबा-चबाकर बोलना' कहा जाता है। उनकी भाव के अनुसार उठती-गिरती टोन और उपयुक्त स्थान पर pauses का प्रभाव मैंने आत्मसात् किया और कालान्तर में शिक्षण करते अथवा स्पीच देते हुए यही मेरी भी प्रवृत्ति बन गया। अपनी छात्राओं को शैली, कीट्स, वायरन, वर्ड्सवर्थ पढ़ाते हुए मैंने बड़ी शिद्दत से उन्हें सदा याद किया है।

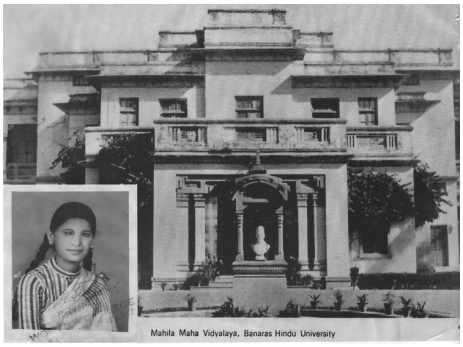


मित्र विमला देवधर (विमला ताई कहलाती थीं) नॉवेल्स के अन्तर्गत Thomas hardy का 'The Mayor of Casterbridge' और 'Far from the Madding Crowd' लेती थीं, साथ ही Short Stories भी। वेशभूषा ओर व्यवहार में जितनी सहज-सरल उतनी ही ममतामयी भी थीं। स्वर बहुत शान्त, माँ की लोरी का आभास कराता सा! यों प्रकट में बहुत खुली मुखरता भले ही उनका स्वभाव नहीं था किन्तु अन्तर्मन में उनकी चिन्तातुरता, केयरिंग प्रवृत्ति का प्रमाण यह रिमाइण्डर है जो उन्होंने पूर्व निर्धारित और भली प्रकार ज्ञात फ़ेयरवेल पार्टी के संदर्भ में मुझे मेरे घर पर भिजवाया था (प्रिपरेशन लीव चलने के कारण—

Banaras Hindu University,
Banaras : 06.04.1959

My dear Maya,

I hope that you remember today's party. Please come to the college this evening at 5 p.m. for the English Optional Gathering.

Thanks,
Yours Sincerely
V.S. Deodhar

उनके संकेतित 'mob mentality' और 'rustic characters' जैसे terms अब भी प्रसंग आने पर उनका स्मरण कराते हैं।

हिन्दी साहित्य में श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी अपने नाम के अनुरूप ही ज्ञान का प्रकाण्ड कोष थीं। हिन्दी काव्य में 'रसायन' संकलन के भाग एक तथा दो पाठ्यक्रम में निर्धारित थे। इनमें से 'रसायन-भाग एक' (मध्यकालीन काव्य) वह पढ़ाती थीं—

''श्रीमती त्रिवेदी पाठ्यक्रम में निर्धारित 'मानस' का अंश लेती रही हैं। यों इनका स्वाध्याय बहुक्षेत्रीय रहा है, इनके विषय में सब कोई भली-भाँति जानते हैं कि इनके सम्मुख 'तुलसी' शब्दमात्र उच्चारित कर देना पर्याप्त है। फिर तो अपने 'ज्ञानवती' नाम को सार्थक करती हुई वह अपना अस्तित्व भुलाये हुए-सी अनथक, धारा-प्रवाह बोलती चलेंगी, घण्टों-घण्टों तक!

ऐसा ही एक अवसर : परीक्षाएँ सन्निकट हैं। पाठ्यक्रम समाप्त कर श्रीमती त्रिवेदी एक्सट्रा क्लास ले रही हैं। रविवार है आज, ऑडिटोरियम में क्रमशः उन्नतोन्मुख होती सीटों पर बैठा छात्रा-समूह, सामने मंच पर हमारी प्रोफ़ेसर! पाठ्य पुस्तक अलग धरी रह गई हैं, हम आपाद्-मस्तक तुलसीसरि में निमग्न हैं। उनका भाषण अनवरत चल रहा है। तुलसी को माध्यम बनाकर मानो हमको हिप्नोटाइज़ कर दिया है। किन्तु यह अवस्था केवल स्थूल भौतिक अस्तित्त्व ही विस्मृत करा पाई है, बुद्धि परम सचेष्ट हो ज्ञान ग्रहण करने में निरत है। हम कौन हैं, कहाँ हैं, किस स्थिति में हैं आदि हर विचार पीछे टूट गया है। मात्र मानसकार तुलसी का समग्र स्वरूप मानस-चक्षु के समक्ष साकार हो पाया है। अब तक का एतद्विषयक सारा ज्ञान जैसे कोरा दिगभ्रम ही था।

भाव-जगत से इस लौकिक धरा पर पुनः चेतना-पंखों से उतर श्रीमती त्रिवेदी अपने भाषण पर विराम लगाती हुई कक्षा छोड़ती हैं। हम सब भी जैसे मोहाविष्टता से विमुक्त हो जाग से उठे हैं। पाया कि आज हमारी लगातार पूरे पाँच घण्टों की क्लास हुई, केवल तुलसी को लेकर!

—'तुलसी की काशी में' शीर्षक आलेख से

उनके कंठ-स्वर में 'सियाराममय सब जग जानी .... 'भायप भगति' और 'जो न होत जग जनम भरत को। सचर अचर चर अचर करत को।।' जैसे अंश इस समय भी ध्वनित से हो रहे हैं। शिक्षण में उनकी तल्लीनता की ही अमिट छाप मुझ पर ऐसी पड़ी कि मैं पूरे करियर में बहुधा एक्स्ट्रा लेकर भी छात्राओं को अधिकाधिक लाभ देने में संलग्न रही। निर्धारित कक्षावधि में तो पल-पल का उपयोग (दायित्व और विषय का आग्रह तो होता ही है) उनके अतिरिक्त ज्ञानवर्द्धन मैं करती ही रही थी।

श्रीमती विद्या गुप्ता 'रसायन-भाग दो' के अन्तर्गत आधुनिक काव्य पढ़ाती थीं। प्रसंग आने पर खुलकर हँस भी लेतीं। एक स्थान पर अनुप्रास के आवश्यकता से अधिक प्रयोग को लक्ष्य कराते हुए उन्होंने अपनी ओर से जोड़ा, ''तुक की तरकारी को तला गया रे तला गया''ए उनकी यह टिप्पणी याद है। व्याख्या करते हुए अथवा कवि के सन्दर्भ में कभी-कभी लाक्षणिक, चुटीली शैली का प्रोग करतीं। इस प्रकार विषयवस्तु को रोचक तथा सहज बनाना, छात्राओं को साथ लेकर चलना उनकी विशेषता थी। स्पष्टवक्तृता और अन्तर्भेदी दृष्टिकोण के साथ ही छोटी-मोटी अप्रियता को टालकर सहज बनाना उनके स्वभाव की विलक्षणता थी। रसायन भाग-2 अभी भी मेरे पास है जो उनका स्मरण दिलाने हेतु पर्याप्त है।

श्रीमती शान्ति वाजपेयी गद्य लेती थीं। अपने नाम क अनुरूप ही मन्द स्मित लिये आन्तरिक शान्ति-शीतलता-स्निग्धता से ओत-प्रोत उनका स्वरूप हमारी मानसिक थकान के भार को हल्का कर देता था। स्वर्ण जयन्ती समारोह में सौभाग्यवश वह भी आई हुई थीं। वैसी की वैसी ही लग रही थीं। बालसुलभ उत्फुल्लता से उद्भासित उनका मुखमण्डल पहचान मैंने अपना पूर्व-परिचय उन्हें दिया और हमारे बीच थोड़ी देर वार्तालाप भी हो सका।

भविष्य में एम0ए0, पीएच0डी0 का विषय तो हिन्दी था ही, शिक्षण में भी अंग्रेजी के साथ उसका स्थान निरन्तर बना रहा। अन्ततः शेरवुड कॉलेज जैसी प्रतिष्ठित शिक्षा संस्था में (मेरी सेवानिवृत्ति के बाद) मुझे आग्रहपूर्वक अध्यापन के लिए बुलाया गया। यह निर्विवाद तथ्य है कि इस सम्पूर्ण यात्रा में हिन्दी तथा अंग्रेजी की इन प्रोफ़ेसर्स का कितना अमूल्य योगदान रहा होगा! बात केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं है, शैली और प्रभाव भी उतने ही अनमोल तथा चिरस्थायी होते हैं।

डोमेस्टिक साइन्स भले ही नया विषय था, किन्तु डॉ0 अन्नपूर्णा शुक्ला की शिक्षण शैली ने सब कुछ सहज़ बना दिया। चुस्त चाल, हल्की स्पीडी, कभी-कभी डॉक्टर्स कोट में मंद मुस्कान लिये उनकी एण्ट्री होती। तीन पेपर्स, उन्हें एलॉट थे—'बैक्टीरियोलॉजी' 'हैल्थ एण्ड हायजीन' और 'मैटरनिटी एण्ड चाइल्ड वैलफ़ेयर'। बहुत अच्छी तरह समझाते हुए पढ़ाती थी। कभी का छूट गया विज्ञान का विषय पूरी स्पष्टता से फ़िक्सअप हो गया था। नवम्बर, 1989 में महाविद्यालय की प्राचार्या के पैड पर डायमण्ड जुबली के लिए उनका पत्र आया था (दुर्भाग्यवश मैं उपस्थित नहीं हो सकी), सब कुछ स्मृति में सजीव हो उठा।

मिस बीथिका मुकर्जी डोमेस्टिक साइन्स का चौथा 'चाइल्ड सायकोलौजी' लेती थीं। केश-विन्यास और पहनावे में बंगाली गरिमा, 'मृदु मंद-मंद मन्थर-मन्थर' सधी हुई चाल, जरा भी दायें-बायें नहीं। चाल और वाणी दोनों में धैय और संयम! पढ़ाते हुए भी उसी स्थिरता और धैर्य से समझाती थीं। मैं (उस समय की मेरी आयु के अनुसार कहूँ तो) उनकी फ़ैन हो गयी थी। यह शायद उन्होंने भी लक्ष्य कर लिया था कि मैं उन्हें ध्यान से सुनते-सुनते रहने के साथ अनवरत नोट्स भी लेती चलती थी। एक नोटबुक आज भी मेरे पास सुरक्षित है। मैं उनकी चाल की भी मुरीद थी और मेरी रोल मॉडल होने के कारण कब-कैसे स्वतः मैं उसी में ढल गयी! यह तो अपनी छात्राओं-सहकर्मियों के प्वाइण्टआउट कराने पर ध्यान में आया। उनकी पढ़ायी चाइल्ड सायकोलॉजी

अपनी छात्राओं तथा अपने परिवार-समाज के सन्दर्भ में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

अपनी इन प्रोफ़ेसर्स की छवि, उनकी शिक्षण विधि, उनके अपने-अपने कण्ठ-स्वर स्मरण में तुरन्त ऐसे सजीव हो उठते हैं जैसे की-बोर्ड की किसी भी फ़्रैट्स पर अँगुली रखते ही उसका अपना स्वर बज उठता है या रिमोट से संचालित कोई भी चैनल स्क्रीन पर प्रस्तुत हो जाये।

इनके अतिरिक्त मिस मल्ला (हिस्ट्री), मिस माया यादव (एनसीसी) श्री रानाडा उकील (पेण्टिंग), मिस/मिसेज इन्दुमती पुरोहित (संगीत) मिसेज मनोरमा अग्रवाल आदि भी स्मरण आती हैं, जैसे अभी कल की ही बात हो। संस्कृत में शायद श्रीमती पद्या मिश्रा थीं जिनका नाम भले ही याद नहीं किन्तु उत्फुल्ल छवि और चश्मे के पीछे से अपनत्व में बाँधती दृष्टि स्पष्टतः याद है। यदि इन सामान्य प्रोफेसर्स के नामोल्लेख में कहीं कोई त्रुटि हो गई हो, क्षमा चाहूँगी।

जीवन में शिक्षकों की कितनी अहम भूमिका होती है, इसे मुझसे अधिक भला कौन अनुभव कर सकता है? बात केवल उनसे प्राप्त ज्ञान तक ही सीमित नहीं है, परिस्थितियों ने मुझे 'ऑब्जर्व' करने और फिर 'एब्जॉर्ब' करने की जो प्रवृत्ति थमा दी थी, उसके कारण इनसे मिले प्रभाव ही मेरे व्यक्तित्त्व में रच-बस गये। मैं इस अर्थ में बहुत भाग्यशाली रही। मैं इतनी बड़ी गर्वोक्ति यों ही नहीं बल्कि समय-समय पर प्राप्त प्रशस्ति, विद्यालय-परिवार और अभिभावकों के अभिमत, पुरस्कारों और मानपत्र के आधार पर कह पा रही हूँ।

तीन वर्ष की अवधि यों तो बहुत बड़ी नहीं होती, किन्तु यही तो वह नींव थी जिसने मेरे भावी स्वरूप को विश्वस्त आधार दिया, मुझे संस्कारित किया। बी0एड0 के अध्ययन का योगदान यदि शिक्षण का सैद्धान्तिक पक्ष था तो बी0ए0 का व्यावहारिक। शिक्षक और छात्रों के पारस्परिक संबंध, इस संबंध की अन्योन्याश्रित मर्यादा, अनुशासन के साथ स्नेहपूर्ण संरक्षण का समन्वय आत्मीयतापूर्ण प्रोत्साहन आदि की गाइडलाइन विमेन्स कॉलेज ने ही सौंप दी थीं।

संगीत कक्ष के आस-पास अवकाश के समय लोभवश (पहले उल्लेख कर चुकी हूँ कि पृष्ठभूमि न होने के कारण मुझे संगीत विषय नहीं मिल पाया था) मँडराते हुए वहाँ से आती हुई अभ्यास की गूँज ने शास्त्रीय संगीत के दिव्यलोक का आभास कराया। उससे तथा यदा-कदा आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रमों से इतनी तो उपलब्धि हुई कि मैं शिक्षिका की भूमिका में उपशास्त्रीय संगीत पर आधारित स्वर-रचना, नृत्य-नाटिकाओं तथा समूह नृत्यों का निर्देशन और पार्श्वगायन में भी सक्षम हो गयी।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य से सर्वप्रथम प्रत्यक्ष परचिय इसी कॉलेज में हुआ—अवसर था वसन्तोत्सव का। तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी0वी0 गिरि सपत्नीक आये थे। राग बहार, बसन्त बहार पर आधारित गायन, वादन और भरत नाट्यम की प्रस्तुति दी गयी थी। इससे पूर्व केवल इलस्ट्रेडेड वीकली से ही पं0 उदयशंकर के दल अथवा विदेशी बैले का परिचय मिला था (तब तक टेलीविज़न नहीं आया था)। इसी प्रकार के अन्य आयोजनों से महादेवी वर्मा, पंत, प्रसाद, निराला की कविताओं पर आधारित नृत्य-नाटिकाओं का निर्देशन करने में मुझे आत्मविश्वास मिल सका।

कला विभाग के समीप से भी आकर्षण और लोभवश निकलती, अन्दर स्कैचिंग-पेण्टिंग में व्यस्त छात्राओं के कार्य पर दृष्टि डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ती। कभी विभाग के बाहर अल्पना प्रतियोगिता में कार्यरत छात्रओं का कौशल देखने का संयोग जुटा लेती। ऑफिस से लगे हॉल (जो हमारा कॉमन रूम था, पुस्तकालय भी) में लगे महापुरुषों के विशाल ऑयल पेण्टिंग के चित्र भी अपना प्रभाव छोड़ते रहे।

कालान्तर में समय ने परिपक्व बना दिया और अपने मन के मलाल की क्षतिपूर्ति अथवा शमन का मार्ग सूझ गया। शिक्षण प्रारम्भ करते हुए अपनी बहन को साथ रख उसे संगीत गायन दिया दिया। आज वह अपने इन-लॉज़ की भरी-पूरी संगीत की बिरादरी तथा अपने निजी परिवार में भी संगीत के परिवेश में है। इसी प्रकार मैंने अपने पुत्र की दक्षता तथा अभिरूचि देखकर उसे 6 वर्षीय एप्लाइड आर्ट का कोर्स करा दिया। इन लोगों के सान्निध्य में मैं भी अछूती नहीं रह गयी हूँ और लाभान्वित तो हुई ही हूँ।

बांग्ला भाषा, बंगाली परिधान, वेशभूषा, रवीन्द्र संगीत, बंगाली नृत्य (अपने लास्य और शान्त-सौम्य मुद्राओं, पदक्षेप के कारण विशिष्ट पहचान लिये) आदि से परिचय तो इसी महाविद्यालय की देन है। खाली पीरियड या ब्रेक में लॉन में बैठकर अपनी जूनियर बंगाली छात्राओं से बांग्ला गीत सुनती, कभी न दैनिक व्यवहार के कुछ वाक्यों, शब्दों का बांग्ला में रूपान्तर जानती। आगे चलकर मेरे लिए रवीन्द्र टैगौर रचित शान्ति निकेतन में ढोलोत्सव के अवसर पर आयोजित 'तोरा खोल द्वार खोल, लागल जे दोल, स्थॉले जॉले बॉनो तॉले लागत जे दोल, ओ रे गृहवाशी! जैसे नृत्यों का निर्देशन इसीलिए बड़ा सहज हो गया था। उन छात्राओं का योगदान मैं कृतज्ञ भाव से स्मरण करती रही हूँ।

मेरे संरक्षक मेरे फूफाजी स्व0 श्री त्रिलोचन पन्त (प्रोफ़सर इतिहास विभाग तथा महामना मालवीय जी के पूर्व सचिव) थे। अंग्रेजी साहित्य की क्लास आरम्भ में ही लगने के कारण मैं कैम्पस से अकेली ही आया करती थी। किन्तु लौटते हुए हम सहपाठियों के ग्रुप में वीणा व्यास, बेली सिन्हा, कमला विश्वनाथन, विद्या श्रीवास्तव, उमा मिश्रा, मोहिनी आदि होतीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुत्री मालती से मेरी अन्तरंगता थी (उसके साथ अधूरे बने जिम में बैठकर बातें करना और कैण्टीन जाकर चार आने (अब के 25 पैसे) में भरा-पूरा मसाला डोसा खाना याद है)। इनके अतिरिक्त सहपाठी तथा तत्कालीन छात्राओं में मेरी बहनों रमा पंत, सुशीला पंत के साथ ही अरूणा मरवाहा, शालिनी वाजपेयी, आरती मॉइत्रा, निर्मला यादव, चन्द्रमणि सिंह, प्रभा सिंह, भक्तिप्रभा शर्मा, गिरिजा सकलानी, धर्मा श्रीवास्तव, कुसुम छिब्बर,

प्रतिभा मिश्रा, कौमुदी द्विवेदी, लीलू पाण्डे, माधुरी टेटली, करुणा जोशी, आनन्दमयी अडवाणी, नलिनी मल्ला, वाणी मजूमदार तथा बहुगुणा सिस्टर्स (हर्षी, हिट्टी, सुधा) आदि भी अपनी किसी न किसी विशिष्टता के कारण यों याद हैं जैसे अभी कल की ही बात है।

वहाँ रहते हुए किसी पाठ्येत्तर क्रिया-कलाप में मैं सक्रिय भागीदारी नहीं कर सकी। कारण, नियमित अभ्यास के लिए हॉस्टल की छात्राओं का सहज उपलब्ध हो जाना, मेरा आवास लगभग डेढ़-दो मिलोमीटर दूर युनिवर्सिटी पोस्ट ऑफिस से भी आगे होना साथ ही डबल अंग्रेजी, डबल हिन्दी (तब हम ऐसे ही कहा करते थे) में अपने स्तर पर नियमित अध्ययन के कारण समय नहीं निकल पाता था। लेकिन वहाँ से लौटकर टीचिंग करियर शुरू करते ही स्पीच, खेलकूद, गायन, निर्देशन, मंच-संचालन, फैन्सी ड्रेस आदि में सक्रिय हो गई। इस विसंगति पर स्वयं भी कौतुकपूर्ण विस्मय होता रहा।

कॉलेज के स्वर्ण जयन्ती समारोह की सूचना समाचार पत्र से मिली थी। नैनीताल में शीतावकाश चल रहा था, अतः समय भी था, सुविधा भी। तत्काल प्राचार्या महोदया डॉ0 वार्ष्णेय (वह बी0एड0 में हमारी प्रोफ़ेसर भी रही थीं) को लिखा। उतनी ही तत्परता से उनका टेलिग्राम मिला—'प्लीज़ डू कम! ट्रेवलिंग अलाउन्स फ़स्ट क्लास ग्रान्टेड।' (इसमें से 'प्लीज़ डू कम' को सहेज लिया और 'ट्रैवलिंग फ़र्स्ट क्लास ग्रान्टेड' को तारपत्र में ही छोड़ दिया। भला कोई लड़की अपने मायके आने के लिए अपने माता-पिता से राह खर्च लेती है क्या?) उसके तुरन्त बाद कार्यक्रम के सभी निमंत्रण-पत्रों का पूरा सैट भी डाक से मिल गया।

पाने-बटोरने, आत्मसात करने की छात्रावस्था में ही इति नहीं हो गयी थी। यों भी जिज्ञासा सदैव आयु के आँकड़ों का अनुगमन करती नहीं चलती। समयाभाव के कारण मैं केवल Veledictory Session में ही उपस्थित हो पायी थी, किन्तु उसमें लिये नोट्स के कुछ महत्तवपूर्ण अंश निम्नवत् हैं—

- हमारा दृष्टिकोण हमारा perception सब कुछ बदल रहा है। प्रश्न औरत और मर्द का नहीं, प्रश्न यह है कि औरतें केवल रिप्रोडक्टिव भूमिका में ही बनी रहेंगी या प्रोडक्टिव भूमिका भी निभायेंगी!
- लड़की समानान्तर भूमिका निभाये, प्रश्न एजूकेशन के साथ समाज को बदलने का भी है। शिक्षा समाज को बदलने का मूल साधन अवश्य है, पर अकेला नहीं बदल सकता। समाज को खुद को भी बदलना होगा।
- भारत बहुत विरोधाभासों का देश है। एक सड़क पर जाने कितनी शताब्दियाँ एक साथ चलती-फिरती मिलेंगी। अगर क्रॉस-सेक्शन करें तो पायेंगे कि भारत जाने कितनी परत दर परत सभ्यताओं और वैरायटीज़ से निर्मित है।

—मुख्य अतिथि, डॉ0 हेमलता स्वरूप

- औरत के घर के कामकाज का कोई मोल नहीं हो सकता। भारतीय नारी की सादगी, क्षमता और त्याग का आदर है। ..... जो आज यहाँ कहा गया है उससे चिंतन चालू रहना चाहिए। इस कॉन्फ्रेंक्स की कभी इतिश्री नहीं होनी चाहिए।
- मैंने यहाँ बहुत से हसीन चेहरे देखे, हल्म का नूर है उनके चेहरे पर। ऐ रोशन चेहरो! जाओ और अपने मुल्क को रोशन करो!

—इस्मत चुग़ताई, लेखिका

- अपनी पुरानी बहना को बुलाकर यह दिखलाना चाहती थी कि ये थीं त्याग की मूर्तियाँ! चौखटे के भीतर जो तस्वीर बनानी होती है वह चौखटे के ही अनुरूप होती है न!
- हमारे विद्यालय ने हमको यही सिखलाया है कि खरी बात कह दो लेकिन ध्यान रखकर। कभी-कभी एक शब्द भी शब्दबेधी बाण बन जाया करता है।
- इस कॉन्फ्रेन्स में जो कुछ सामने आया है, उसे निरन्तर जाग्रत रखा जाना चाहिए, अन्यथा यह सिर्फ एक डल अफ़ेयर बनकर रह जायेगा।
- यहाँ आना एक साथ होना एक मिलन बेला है, अतः धन्वाद देना ठीक नहीं।
- बहुत कुछ मिला सुनने को, ऐसा जो महीनों तक के लिए विचार-मंथन की सामग्री जुटा गया है।

—डॉ0 सरोजिनी वार्ष्णेय, प्राचार्य

महाविद्यालय की जनरल विदाई समारोह समारोह में हमें महाविद्यालय भवन की एक छाया प्रति भेंट की गई थी, हमें आजीवन अपने महाविद्यालय से असंम्पृक्त न होने देने की एक सार्थक सूझबूझ भरी मनुहार साफ झलक उठी। मुझे टाइटिल मिला—

**परिवर्तन ही यदि उन्नति है**
**जो हम बढ़ते जाते हैं।**
**किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे**
**पूर्वभाव ही भाते हैं॥**

इस बार वर्तमान प्राचार्या महोदया ने मुझसे कहा कि मैं कभी लिखकर भेजूँ कि मेरे महिला महाविद्यालय ने मुझे क्या दिया, अर्थात् इसकी मेरी जीवन में क्या भूमिका रही। लिखते हुए बड़ी असमंजस में रही हूँ। यदि उन्होंने पूछा होता कि महाविद्यालय ने मुझे क्या नहीं दिया, तो इने-गिने दो-एक मुद्दे गढ़ने में फिर भी सहजता होती। उतनी विराट सम्पदा का व्योरा देने में मुझे अधिक समय लग गया।

अब तक के पृष्ठों में मैं यहाँ से प्राप्त उपलब्धियों का लेखा-जोखा देती चली हूँ। किन्तु यदि 'ओवरऑल इम्पैक्ट' का प्रश्न उठे तब भी जाने कितना कुछ निकल आयेगा। प्रयास कर संक्षेपण करती हूँ—

- कभी क्लास बंक न करना, शहर तो क्या लंका तक भी नहीं (छात्रावस्था में)

- शान्ति-सद्भवनापूर्ण सह-अस्तित्त्व, सहभागिता।
- साहित्य-कला-संस्कृति के विराट संसार का परिचय।
- भारतीय जीवन शैली—'सादा जीवन उच्च विचार' तथा 'जियो और जीने दो'
- 'काक चेष्टा बको ध्यानं' वाली जिज्ञासु प्रवृत्ति आजीवन बनी रहे, आजीवन 'शिक्षार्थी' बने रहो।
- 'अप्पो दीपो भव'—परमुखापेक्षी न बनो, आत्मानुशासन से अपनी मर्यादा-सीमा स्वयं तय करो।
- परम्परा और आधुनिकता का संतुलित सामंजस्य।
- अपना अर्जित ज्ञान उन (विशेषकर विद्यार्थियों) में वितरित करने में कृपण न बनो, जिन्हें इसकी अपेक्षा है। इससे तुम्हारा भी ज्ञान बढ़ेगा ही।
- अनुशासन और आत्मीयता का एक साथ संतुलित निर्वाह।
- कर्त्तव्य-निष्ठा और ईमानदारी से प्राप्त सन्तोष स्वाभिमान सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम साधन है।
- 'सम्मानाईः सदा भव'—आइकार्ड में अंकित महामना के इस निर्देश ने तो सदा के लिए बहुत बड़ा दायित्व सौंप दिया। यह केवल परीक्षा उत्तीर्ण कर सम्मान पाने का आशीष नहीं था, वरन् आजीवन अपने राष्ट्र, संस्कृति, विश्वविद्यालय और महाविद्यालय की प्रतिष्ठा पर आँच न आने देने का दायित्व, कभी भी सन्मार्ग से च्युत न होने की चेतावनी।
- अतीत को विस्मृत न करो, किन्तु दृष्टि सदा नये आकाश भी खोजती चले।

सूची यहीं समाप्त नहीं होगी, साथ ही लेखनी भी विराम लेना नहीं चाहेगी जानती हूँ। किन्तु लटबंध तो बनाना ही पड़ेगा न! उस समय कॉलेज की वार्षिक पत्रिका तो तो नहीं निकलती थी, किन्तु निजी तौर फोटो के पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर कुछ छात्राओं के फोटो अवश्य हैं। कहते हैं—

'Memories fade faster than photographs', 'लेकिन यहाँ तो इसके एकदम उलट है! स्मृतियाँ चिर सजीव, उनके उतने ही चटख रंग और झीने आवरण के पीछे छिपी सी जब चाहो दौड़कर आ पहुँचती हैं।

आयु के सतहत्तरवें वर्ष में पहुँचकर अपनी गाथा के पन्ने पलटने पर पाती हूँ कि मेरा जीवन स्वयं में कुछ नहीं है, है तो बस व्यक्तित्व के कैनवॉस पर इन प्रभावों से निर्मित बड़ा-सा 'कोलाज', जीवन की भित्ति पर पड़े इन प्रभावों की अनवरत शृंखला वाली 'ग्रफ़िटी वॉल' अथवा वहाँ से मिली विरासत की साक्षी देता एक सशस्त दस्तावेज! जो भी हो, मैं अन्तःसमृद्ध सी हो गयी, मेरा अहोभाग्य!

यह सब सायास सम्भाले मैं चल रही हूँ, क्योंकि घट से जल को बाहर निकाल देने पर घट के अस्तित्व-अनस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही—

''दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्त्तव्य उसे सौंप जाता है जब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है, जल उठना ही ..... उसका प्रणाम है।''

—महादेवी वर्मा

◆

# गंगा : पर्यावरणीय दृष्टिकोण, चुनौतियाँ एवं समाधान

*निधि सिंह* , नरेन्द्र कुमार शर्मा** एवं प्रो0 आर0 के0 मल्ल****

गंगा को हिन्दू धर्म में पवित्र एवं पूज्यनीय माना जाता है। भारतीय प्राचीन ग्रंथों में गंगा का स्वरूप माँ के तुल्य रखा गया है। इसे जीवनदायनी भी कहा जाता है। माँ गंगा का उद्गम उत्तराखण्ड के देवप्रयाग में भागीरथी तथा अलकनन्दा के संगम पर होता है। भागीरथी गोमुख हिमखण्ड के तल से निकलती हैं (ऊँचाई - 3892 मी0 (12769 फीट), निर्देशांक $30^0 59'$ N $78^0 55'$E)। भारत के पाँच राज्यों उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, पश्चिमी बंगाल में गंगा तथा बांग्लादेश में पद्मा 2525 किमी0 का सफर तय करती हुयी बंगाल की खाडी में समाहित हो जाती है (प्रवाह मुख औसतन 12015 घन मी0/से0)। गंगा भारत के 26.4% क्षेत्रों का आवरण करती है जहाँ इसे सहायक नदियों से सबसे अधिक 3270 MLD जल का सहयोग मिलता है। गंगा हिन्दुओं के लिए एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं जहाँ हिन्दू तीर्थ यात्रियों द्वारा धार्मिक स्नान तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए अस्थियों को विसर्जित किया जाता है। धार्मिक स्थानों में हरिद्वार, कानपुर, इलाहाबाद तथा वाराणसी आकर्षण के केन्द्र बने हुये हैं। माँ गंगा को हिन्दू पौराणिक ग्रन्थों में सफेद साड़ी पहने तथा मगरमच्छ पर बैठे हुए दर्शाया गया है। गंगा की प्रमुख सहायक नदियाँ दायें से—महाकाली, कमाली, कोशी, गंडक, घाघरा तथा बायें से—यमुना, सोन, महानन्दा इत्यादि हैं। गंगा बेसिन में जल चक्र दक्षिण पश्चिम मानसून द्वारा नियंत्रित होता है जिसमें 84% वर्षा जून से सितम्बर के महीने में होती है।

### गंगा का स्वर्ग से धरती पर अवतरण का इतिहास

गंगा का इतिहास बहुत ही प्राचीन है इसे देव नदी भी कहा जाता है जो स्वर्ग में बहती थी। गंगा के धरती पर अवतरित होने के पीछे एक पौराणिक कथा है कि ऋषि कपिल मुनि के श्राप से राजा सगर के 60,000 पुत्र भस्म हो गये थे जिनको मोक्ष दिलाने के लिए गंगा का अवतरण हुआ। भागीरथी ने अपने पूर्वजों को मोक्ष दिलाने के लिए कपिल ऋषि से प्रार्थना की जिसके उत्तर में ऋषि ने भागीरथी को भगवान विष्णु की पूजा करने को कहा जो हजारों सालों तक चला जिससे प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने गंगा को धरती पर भेजा। किन्तु गंगा का प्रवाह बहुत अधिक होने के कारण भगवान शिव ने अपनी जटाओं में इसे धारण किया था जिससे उनका प्रवाह धीमा हो गया और वह पृथ्वी पर बह सकीं अन्यथा बहुत विनाशकारी सिद्ध होतीं। हिन्दुओं द्वारा इस दिन को **'गंगादशहरा'** के रूप में मनाया जाता है। जब गंगा धरती पर आयीं तब भागीरथी ने उनका मार्गदर्शन किया जिससे गंगा कई धाराओं में बट गयी तथा सगर के 60,000 पुत्रों की अस्थियों को पवित्र कर मोक्ष की प्राप्ति करायी।[1]

### गंगा में जैवविविधता

गंगा जिन-जिन क्षेत्रों से होकर निकलती हैं वहाँ की मिट्टी बहुत ही उपजाऊ होती है तथा विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों को बसेरा भी देती है जिसमें प्रमुख है- जंगली एशियन हाथी *(Elephas maximus)*, शेर *(Panther atigeris)*, भारतीय गैंडा *(Rhinoceros unicornis)*, बारह सिंहा *(Rucervus duvaucelii)*, भारतीय बाघ इत्यादि। बंगाल टाइगर केवल सुन्दरबन डेल्टा में ही पाये जाते हैं। सुन्दरवन डेल्टा के मीठे पानी का स्तर अब लगभग सीमित हो गया है। इसका मुख्य कारण पर्यावरण की क्षति है, जिसके परिणाम स्वरुप गंगा के ऊपरी तलहटी में कुछ प्रजातियाँ खतरे में है जैसे शेर, हाथी, भालू आदि। गंगा के पानी में पायी जाने वाली कुछ प्रमुख मछलिया है फीदरबैक *(Notopteridac Family)*, barbs *(Cypriridac)* walking catfish *(Calrias batrachus)*, gouramis *(Anabantidac)*, और milk fish *(chanos chanos)*.[1]

गंगा में पायी जाने वाली मछली शार्क *(Glyphis gangetic)* का अस्तित्व प्रदूषण के कारण लगभग समाप्त होने को है। गंगा में एक प्रचलित मछली डॉल्फिन है। जिसे भारत का **'राष्ट्रीय जलजीव'** भी घोषित किया गया है। गंगा घाटी में बहुत सारे पक्षी भी पाये जाते हैं। जिनमें मैना, तोता, कौआ, चील इत्यादि हैं।[1]

### समस्या का आगाज

मानव कार्यों के विकास से वातावरण को सीधे तौर पर नुकसान पहुँचा है। जिससे गंगा के प्रदूषण स्तर में तेजी से वृद्धि हुई है। जो करीब 400 मिलियन लोगों को नुकसान पहुँचा रही है।[2,3] शहरों से सीधा सीवेज, इन्डस्ट्रीयल वेस्ट तथा पूजा पाठ और धार्मिक कार्यों के उपयोग में लाया गया साधन सामग्री को प्लास्टिक के थैलियों में भर कर नदियों में फेंक दिया जाता है जिसका जैविक विघटन नहीं हो पाता है तथा वह प्रदूषण की समस्या को और बढ़ाती जाती है। गंगा में शव जलाने के बाद उनकी हड्डियों तथा अस्थियों को गंगा में विसर्जित कर दी जाती है इसके अलावा पहले के समय में कालरा के महामारी के दौरान शवों को सीधे नदी में फेंक दिया जाता था जिससे बीमारी और फैलती है। लगभग आज भी कुछ पूजनीय मनुष्य, गर्भवती महिला, कुष्ठ या बड़ी माता से पीडित लोग, साँप द्वारा डँसा हुआ व्यक्ति, आत्महत्या करने वाला, गरीब तथा पाँच वर्ष से कम बच्चों के शवों

* शोध-छात्रा, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** शोध-छात्र, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
*** प्रोफेसर, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

को जलाया नही जाता अपितु गंगा में सीधा बहा दिया जाता है और सड़ने के लिये छोड़ देते हैं। इसका सीधा दुष्प्रभाव उन गरीब लोगों पर पड़ता है जो इस पर रोजमर्रा के कार्यों जैसे नहाना, कपड़ा धोना तथा खाना पकाने के पानी पर निर्भर होते हैं। वर्ल्ड बैंक के अनुसार जल प्रदूषण के कारण स्वास्थ्य पर खर्च किया गया रकम जीडीपी के 3% के बराबर है इसके अलावा 80% बीमारी तथा एक तिहाई मृत्यु भी जल द्वारा पैदा हुई बीमारियों द्वारा होती हैं।[4] इसका असर ना केवल मानव जाति पर अपितु जल जीवों पर भी पड़ रहा है जिसका एक सीधा उदाहरण गंगा रीवर डॉल्फिन पर पड़ते दुष्प्रभाव का है जो प्रदूषण तथा बांध निर्माण के कारण गंभीर खतरे में है। इनकी संख्या 15 सालों में एक चौथाई पहुँच गयी है तथा अब यह गंगा के प्रमुख सहायक नदियों से विलुप्त हो चुकी हैं। वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फण्ड के एक ताजा सर्वेक्षण के अनुसार इनकी संख्या केवल तीन हजार शेष मात्र है। उपरोक्त प्रदूषण के स्रोतों के अलावा गैर कानूनी तरीके से गंगा से निर्माण कार्य के लिये पत्थर तथा बालू का खनन भी होता है। यह तब हो रहा है जबकि कुम्भ मेले का 140 वर्ग मी0 क्षेत्र उत्खनन के लिये प्रतिबन्धित है।[5]

### सिंचाई, नहर, बांध तथा बैराज

गंगा नदी का जल सबसे अधिक खेती के लिये उपयोग होता है इसके अलावा जल विद्युत उत्पादन बड़ी तथा छोटी स्तर की व्यवसाय, घरेलू कार्य तथा पीने के लिये उपयोग में लाया जाता है। सबसे पहले तथा प्रमुख तौर पर फरक्का बांध का निर्माण 21 अप्रैल 1975 में हुआ था जो बांग्लादेश में हुगली नदी के प्रवेश करने के बिन्दु के नजदीक बनाया गया है। टिहरी बांध को भागीरथी नदी पर बनाया गया है तथा बनसागर बांध को सोम नदी पर बनाया गया है। केन्द्रीय विद्युत प्राधिकरण तथा उत्तराखण्ड विद्युत विभाग में 70 विवादास्पद परियोजनाओं का निर्माण किया गया है। जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि भागीरथी का 80% तथा अलकनंदा का 65% भाग प्रभावित होगा। जिसके लिये यह आवश्यक है कि गंगा पर निर्माणाधीन तथा प्रायोजित कार्यों का सकुशल पर्यावरणीय आकलन हो जिससे गंगा के स्वरूप में कोई अन्तर न आये।[6]

### गंगा में अपशिष्ट जल निकासी की अवस्था

केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सीपीसीबी) ने गंगा के 138 नालों का निरीक्षण किया जिसमें पाया गया कि 76% प्रदूषण का भार केवल उत्तर प्रदेश द्वारा उठाया जाता है जिसमें यूपी के छोइया, परमीया, सीसा, मोनाल प्रमुख प्रदूषक स्थान है जबकि पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक प्रदूषण के 54 बिन्दु स्रोत पाये जाते हैं। यह आंकड़े दर्शाते है कि यदि इन प्रमुख नालों में प्रदूषण भार को नियन्त्रित किया जाय तो जल के गुणस्तर को सुधारा जा सकता है।[7]

प्रदूषण का स्तर जानने के लिए सीपीसीबी के पास जल निरीक्षण के गंगा नदी पर 57 केन्द्र हैं तथा यह 9 महत्वपूर्ण मानदण्डों (तापमान, pH, विशिष्ट चालकता, डीओ, बीओडी, टोटल कोलीफार्म, फिकल कोलीफार्म, नाइट्रेट, नाइट्राइट) का नियमित तौर पर निरीक्षण करती हैं जिनमें यह पाया गया है कि ऋषिकेश से लेकर बिहार तक गंगा के पानी में बीओडी का स्तर तय मानक से अधिक है। गंगा के ऊपरी प्रसार में अधिक आक्सीजन होने के उपरान्त भी संक्रमण का स्तर बढ़ता जा रहा है जो मैदानी भागों में आकर अधिकतम हो जाता है। यहाँ नदी का प्रवाह भी शून्य के करीब पहुँच जाता है। यूपी में अत्यधिक 687 अत्यन्त प्रदूषक औद्योगिक केन्द्र हैं जिनमें चमड़े का कारखाना 8%, चीनी गुदा पेपर तथा डिस्टीलरी 70% प्रदूषक तत्वों को नदी में जोड़ती हैं। सीपीसीबी द्वारा निरीक्षण में 404 में से केवल 23 औद्योगिक केन्द्रों पर अभियोग की आवश्यकता नहीं पड़ी।[7]

### सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट कार्य मूल्यांकन

घरेलू सीवेज भी नदी में प्रदूषण का एक प्रमुख कारण है। गंगा में गंगोत्री से डायमण्ड हार्बर के बीच में स्थापित एसटीपी की क्षमता 1208 एमएलडी है जबकि अधिकारिक तथा अनाधिकारिक तौर पर सीवेज लोड 2723 एमएलडी तथा 6087 एमएलडी क्रमानुसार है। जिससे अधिकारिक स्थापित उपचार क्षमता 55% का अन्तर और अनाधिकारिक डेटा के अनुसार 80% का अन्तर पैदा होता है। सीपीसीबी के अनुसार नदी के किनारे स्थित 50 शहरों द्वारा उत्पन्न 2723 एमएलडी सीवेज नदी के प्रदूषण में 85% का योगदान देते हैं जिसके लिये सभी असक्रिय एसटीपी को कार्यरत किये जाने की जरूरत है।[6] सन् 2013 के सीपीसीबी रिपोर्ट में 64 सीवेज उपचार संयंत्र में से 51 का निरीक्षण यह दर्शाता है कि 60% से कम क्षमता का उपयोग किया जा रहा है तथा 30% संयंत्र असक्रिय है। सीवेज उत्पादन का आंकलन पानी की आपूर्ति की मात्रा पर आधारित है जिसमें 80% अपशिष्ट जल के रूप में वापस नदी में आता है हालांकि यह पता नहीं लगाया जा सकता है कि कितना पानी वितरण में खो दिया गया है और कितना भूजल प्रयोग में लाया जाता है। बिहार में जीपीआई (grossly polluting industries) सबसे कम (19%) अपशिष्ट जल उत्पन्न करती है तुलना में जितना जल वह उपयोग करती है। जबकि पश्चिम बंगाल के जीपीआई द्वारा सबसे अधिक (19%) अपशिष्ट जल उत्पन्न होता है।[7]

### प्रदूषित पानी का दुष्प्रभाव

जल जनित और आतों के रोगों की घटनाओं जैसे जठरान्त रोग, हैजा, पेचिस, हैपिटाइटस ए, उन लोगों में करीब 66% पाई गई है जो गंगा के पानी का नहाने, पीने, बर्तन धोने और मंजन करने के लिये उपयोग में लाते हैं। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद (आइसीएमआर) द्वारा हाल ही के अध्ययन का कहना है कि नदी में हानिकारक प्रदूषक की संख्या इतनी अधिक है कि उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल के नदी के पास रहने वाले लोगों में किसी अन्य देश की तुलना में कैंसर का खतरा सबसे अधिक है। आईसीएमआर के तहत राष्ट्रीय कैंसर रजिस्ट्री कार्यक्रम द्वारा आयोजित अध्ययन चौकाने वाला निष्कर्ष दर्शाता

है जिसमें नदी भारी धातुओं और घातक रसायनों से भरा है जो कैंसर का कारण है।[8]

**संगठनात्मक व्यवस्था**

जल संसाधन मंत्रालय, नदी विकास तथा गंगा पुनरोद्धार, भारत मंत्रालय जल को राष्ट्रीय संसाधन के रूप मे संरक्षण, प्रबंधन तथा विकास के लिये प्रयासरत है। भारत सरकार द्वारा सन् 1986 में गंगा एक्शन प्लान (जीएपी) की शुरूआत की गयी तथा इसे सन् 2009 में नेशनल गंगा रीवर बेसिन अथॉरिटी (एनजीआरबीए) के पुनर्गठन के साथ फिर से शुरू किया गया जिसका प्रमुख उद्देश्य था स्वीकार्य मानक तक पानी की गुणवत्ता में सुधार एवं अपशिष्ट जल को नदी में छोड़ने से पहले साफ करना। लेकिन जीएपी के खर्च में दुगुना वृद्धि करने के बाद भी सरकार को कुछ खास लाभ नही पहुँचा जिसका मुख्य कारण वहाँ के लोगों से राय मशविरा न लेना, सार्वजनिक शौचालयों की कम संख्या, खुले में शौच करना, नदी में शहरी और औद्योगिक कचरे के विसर्जन पर अपूर्ण नियन्त्रण, नदियों और नालियों और नालियों के माध्यम से गंदे पानी को बहने को पर्याप्त रूप से मोड़ना, अधजले शरीर को बहाना, धोबी द्वारा गन्दे कपड़ों की धुलाई, मूर्तियों का विसर्जन, मरे हुए पशुओं को फेंकना आदि है।

एनजीआरबीए को संयुक्त केन्द्र-राज्य संरचना में वर्ष 2009 में स्थापित किया गया जो कि एक योजना, वित्त पोषण, निगरानी, प्रभावी उपशमन के लिए एक प्राधिकरण है जिसका निर्माण केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के गंगा के समन्वय प्रदूषण तथा संरक्षण के लिये सामूहिक प्रयासों को मजबूत बनाने के लिये किया गया है। इसके अलावा केन्द्रीय वर्ष 2014-15 में एकीकृत गंगा संरक्षण मिशन जो कि ''नमामि गंगे'' है कि स्थापना के लिए 2037 करोड़ रूपये आवंटित किये गये हैं (जिसमें 1500 करोड़ नमामि गंगे के लिये, 355 करोड़ एनजीआरबीए के लिये तथा 100 करोड़ यमुना नदी एवं अन्य सहायक नदियों की परियोजनाओं के लिये तथा 82 करोड़ 'राष्ट्रीय नदी संरक्षण कार्यक्रम' के लिये आवंटित किया गया है।) गंगा नदी और उसकी सहायक नदियों के कायाकल्प का कार्य 01 अगस्त 2016 से प्रभावी रूप से जल संसाधन, नदी विकास तथा गंगा संरक्षण मंत्रालय को स्थानान्तरित किया गया है।[9,10]

एन0जी0आर0बी0ए0 के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है गंगा नदी बेसिन पर्यावरण प्रबंधन योजना (जीआरबीईएमपी) तैयार तथा लागू करना। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा यह जिम्मेदारी **''भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान''** के 7 संघो को दी गयी है। जिसके लिये 6 जुलाई 2010 को एम0ओ0इ0एफ0 तथा 7 आईआईटी के बीच समझौते का एक ज्ञापन एम0ओ0यू0 पर हस्ताक्षर किया गया।

**जीआरबीईएमपी अंतरिम रिपोर्ट**

आईआईटी कंसोर्टियम अगस्त 2013 एक समृद्ध राष्ट्रीय गंगा नदी के पूर्णोद्धार के लिये वातावरण के विश्लेषण करने के कार्य को विषयगत मूल्यों में बाँटा गया है—जो पर्यावरण गुणवत्ता और प्रदूषण, जल संसाधन प्रबंधन, नदी संबंधी भू-आकृति विज्ञान, पारिस्थितिक और जैव विविधता, सामाजिक-आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक, नीति कानून और शासन, भू-स्थानिक डाटाबेस प्रबंधन तथा संचार है। प्रत्येक विषयगत अध्ययन आईआईटी संकाय सदस्यों और विशेषज्ञों के चुनिंदा समूह द्वारा आयोजित होगा। ध्यान केन्द्रित करने की दृष्टि से 7 महत्वपूर्ण मिशन की पहचान भी की गयी है—''अविरल धारा'', ''निर्मल धारा'', पारिस्थितिक बहाली, भू-वैज्ञानिक सुरक्षा, आपदा प्रबंधन, धारणीय कृषि एवं पर्यावरण का ज्ञान निर्माण और संवेदीकरण। मानवीय गतिविधियों के हानिकारक निष्कर्षों से मुकाबले के लिए तथा सहायक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिये कार्य योजना तैयार की जा रही है।[9]

**अनुशंसायें**

सरकार द्वारा गंगा के निर्मलीकरण के लिए निरंतर प्रयासरत रहते हुए भी गंगा सफाई अभियान में अपेक्षित तेजी नहीं आ सकी है जिसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान सरकार द्वारा कुछ कठोर तथा कारगर कदम उठाये जायें जिसमें निम्नलिखित है—औद्योगिक अपशिष्ट जल से पुनः इस्तेमाल में लाये जाने वाले जल में वृद्धि, पर्यावरण बहाली पारिस्थितिकी की सुरक्षा, आपदा प्रबंधन, धारणीय कृषि, पर्यावरण ज्ञान निर्माण और संवेदीकरण, पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाली गतिविधियों पर निषेध, एन0जी0आर0बी0 तथा पर्यावरण की दृष्टि में लाभकारी कार्य गतिविधियों को बढ़ावा, कार्यान्वयन तंत्र में सुधार, एन0जी0आर0बी0 के प्रबंधन के लिए व्यापक कानून, पर्यावरण निगरानी तथा प्रभाव आचरण, अनुसंधान नीति और शासन, पारिस्थितिकी प्रवाह के लिए नदी में पानी का प्रवाह कुछ ऐसे ही अनुशंसाएँ हैं जिनके द्वारा गंगा के स्वास्थ्य तथा सुंदरीकरण को बढ़ावा मिलेगा।[11]

**जलवायु परिवर्तन का प्रभाव**

जलवायु परिवर्तन एक नयी समस्या के रूप में सामने आया है। इण्टरनेशनल पैनल फॉर क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) के प्रथम से लेकर पॉचवें ऑकलन रिपोर्ट में जलवायु परिवर्तन पर गंभीर प्रकाश डाला गया है जिसमें ग्लोबल वार्मिंग के बढ़ने से हिमखण्ड के पिघलने का खतरा साथ ही जलवायु के परिवर्तन के कारण वर्षा का अनुमान लगाना बहुत ही अनिश्चित हो गया है।[12] कहीं कम तो कहीं अधिक वर्षा से सूखा तथा बाढ़ का खतरा बढ़ गया है। भारत में आईपीसीसी रिपोर्ट यह दर्शाता है कि वर्षा की मात्रा में कमी, वर्षा के दिनों में कमी तथा एक दिन में अधिक वर्षा में वृद्धि आयेगी। जिससे भू-जल स्तर में गिरावट, कृषि को नुकसान तथा अन्य हानिकारक प्रभावों से गुजरना पड़ेगा। यह अनुमान लगाया जा रहा है कि सन् 2020 में यदि सभी फसलों को पूर्ण रूप में सींचा जाए तो उनकी उत्पादन क्षमता में 90% की वृद्धि हो सकती है। किन्तु पानी की कमी से ऐसा सम्भव नहीं हो पायेगा। इससे निपटने के लिए सन् 2008 में प्रधानमंत्री भारत सरकार

द्वारा नेशनल एक्शन प्लान फॉर क्लाइमेट चेंज (एनएपीसीसी) को बनाया गया जो नीति निर्माण, अनुकूलन क्षमता, आपदा प्रबंधन निर्माण के कार्यों में तेजी लायेगी तथा पुर्वानुमानित तथा अपूर्वामानित खतरों से लड़ने की क्षमता विकसित करेगी। इसके लिये यह आवश्यक है कि एनएपीसीसी के सभी उद्देश्यों का पूर्ण रूप से क्रियान्वयन किया जाये।[13]

**संदर्भ-ग्रंथ-सूची**


1. गंगेज वीकिपीडिया। (https://en.wikipedia.org/wiki/Ganges)
2. गंगा "June 2003 Newsletter". Clean Ganga. Retrived 30th July 2016
3. Salemme, Elisabeth (22 January 2007). "The world's Dirty Rivers". Time. Retrieved 15th October 2016
4. Bharati, Kant. R 2006, Interlinking of Indian rivers, ISBN 978-8183820417
5. "Looting the Ganga Shamalessly". The Tribune, 16 June 2011
6. Narain. S 2014, "Ganga. The river it's pollution and what we can do to clean it". Centre for Science and Environment, New Delhi.
7. सीपीसीबी-2013 ''पालुशन एसेसमेंट : रिवर गंगा'' मिनिस्ट्री ऑफ इनवायरमेंट एण्ड फॉरेस्ट, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, परिवेश भवन, इस्ट, अर्जुन नगर, दिल्ली, 110032 (www.cpcb.nic.in)
8. "Ghosh. A 2012, "Ganga is now a deadly source of cancer, study says". Times of India. http://articles.timesof India. Indiatimes.com/2012-10-18/patna/3454229 I gall bladder-cancer-cancer-patients-prostate
9. जीआरबीइएमपी- 2013 ''गंगा रिवर बेसिन इनवायरमेंट मैनेजमेंट प्लान : इंटरिम रिपोर्ट, जीबारबीइएमपी इंटरिमः आईआईटी कन्सोर्टियम। (ऊँइंइंह्वीग्सिंज्दू.ई)
10. एनुअल रिपोर्ट, 2014-15 मिनिस्ट्री ऑफ वाटर रिसोर्सेज। (Annual_Report_2014-15_MWR.pdf)
11. सीपीसीबी- 2015 ''ए प्लान ऑन कन्जर्वेशन ऑफ वाटर क्वालिटी ऑफ रिवर गंगा- सेगमेन्टल एप्रोच'' मिनिस्ट्री ऑफ इनवायरमेंट फारेस्ट, एण्ड क्लाइमेट चेंज, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली-110003 (gangasegmentapproach_cpcb_2015.pdf)
12. IPCC, 2013: Climate change: the Physical Science Basis. Contribution of working Group I to the fifth Assessment Report of the Intergovernmental Panel on climate change. Combridge University Press, Cambridge, UK & New York, USA, 1535pp, doi: 10.1017/CB0978110-7415324.
13. NAPCC 2008, "National action plan on climate change", Govt. of India. Available at- http:/pminida.nic.in/climate%20 change_16.03.09. pdf). Accessed on 20 October 2016


◆

# निजामाबाद के मिट्टी के बर्तन : दीपावली, डाला छठ और करवा चौथ के विशेष संदर्भ में

*राजकुमार पाण्डेय* एवं प्रो0 रश्मिकला अग्रवाल***

उत्तर-प्रदेश में निजामाबाद आज़ामगढ़ जनपद का एक प्रमुख कस्बा है। इस कस्बे का इतिहास बहुत पुराना है। यहाँ से चार किलोमीटर की दूरी पर पश्चिम की ओर तमसा (टौंस) तथा कुँवर नदी के संगम पर वैदिक ऋषि दत्तात्रेय ने अपना आश्रम बनाया था। मध्य 17वीं सती में मुस्लिम आक्रमण के साक्ष्य मोहल्ले में मिलते है। इस कस्बे को पहले मूलरूप से हनुमतगढ़ नाम से पुकारा जाता था। फिरोजशाह तुगलक (तुगलक वंश का शासक) के समय (14वीं शती) में शेख निजामुद्दीन और उसका भाई शेख तकीयूद्दीन पंजाब के हिसार कस्बे से बिहार आये और शेख सफुरूद्दीन यहया मनेरी के अनुआयी बन गये और बाद में उनके सलाह पर शेख निजामुद्दीन (सूफी संत) हनुमतगढ़ आये और यही रहने लगे, और इन्हीं के नाम पर कस्बे का नाम निज़ामाबाद रखा गया।

**आजमगढ़ जनपद की पृष्ठभूमि**

यह जनपद पहले जौनपुर जनपद का एक अंग था। सन् 1832 में आजमगढ़ अस्तित्व में आया तथा सर थामसन प्रथम जिलाधीश बने। तमसा नदी के पुनित तट पर स्थित यह जनपद अनेक ऋषियो की पावन पूण्यभूमि रही है। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में भी जनपद का विशेष योगदान रहा है। उदाहरण के लिए चौधरी बद्रीनरायण, प्रेमधन, पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय ''हरिऔध'' महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन एवं आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय आादि है। उर्दू के अनेक साहित्यकारों की कर्मभूमि भी यह जनपद रहा है। इसमें मौलाना शिबली नोमानी का नाम सर्वोपरि है, जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर के विचारक, शिक्षाविद, एवं रचनाकार थे। प्रगतिशील विचारधारा के शायरों में कैफी आजमी का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। आजमगढ़ जनपद स्वतंत्रता आंदोलन में भी अहम् भूमिका निभाने में पीछे नहीं रहा है। इस जनपद के बाबू सीताराम अस्थाना व उदय भान सिंह आदि है।[1] इस महत्वपूर्ण जनपद का कस्बा निज़ामाबाद अपने काली मिट्टी के बर्तन के लिए प्रसिद्ध है, जिसे वर्तमान समय में बौद्धिक संपदा के रूप में जी0 आई0 टैग दिनांक 25 दिसम्बर 2015 को दिया गया।

**निज़ामाबाद के कुम्हारो का इतिहास**

निज़ामाबाद की काली मृद्भाण्ड विश्व में मशहूर है। लगभग 40-45 कुम्हार परिवार इस उद्योग से जुड़े हुए हैं। यहां तैयार उत्पादक का 80 प्रतिशत हिस्सा निर्यात होता है। काली मृद्भाण्ड का दो करोड़ से अधिक का सालाना कारोबार है। यहां के कुम्हार लगभग 300 वर्षों से अपनी कला परंपरा को बचाकर अपने हुनर से दुनिया को कायल बना रहे हैं।[2] इस कला उत्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि सन् 1636 में मुगल शासनकाल में गुजरात प्रांत से चार कुम्हार खजनी बाजार जिला-गोरखपुर में आकर रहना शुरू किये। कुछ दिन रहने के बाद वहां से तीन कुम्हार जोधी का पुरा आजमगढ़ में आ गये तथा एक लोग खजनी बाजार में बस गये तथा हाथी, घोड़ा आदि बनाने लगे। जोधी के पुरा से दो कुम्हार निज़ामाबाद के काजी घराने के साथ मे आ गया, उस समय निज़ामाबाद, जौनपुर राजा के अधीन था। काजी साहब उन कुम्हारों को अपने यहाँ बसने के लिए बीस बीघा अमानाबाद चक उन सबके नाम से खरीद कर दे दिया, तथा बाद मे कुछ जमीन भी खरीद कर दे दिए। काजी साहब दोनों को पांच छोटे-छोटे मकान बनवाकर दिये थे। उसके बाद ये लोग आधे भाग पर खेती का कार्य तथा आधे भाग पर मिट्टी के पात्र के लिए मिट्टी का कार्य करने लगे और इन मिट्टी के बने पात्रों को देहात में ले जाकर अनाज के बदले बेचते थे और उस समय के पात्रों में ढेबरी, मलवा, तुतुही आदि बनाये जाते थे। धीरे-धीरे निज़ामाबाद में ही शीतला माता मंदिर के पास अनाज और पैसे दोनों से मिट्टी के पात्रों बेचने लगे। यहाँ के पुराने काले मिट्टी के सजावटी पात्रो में प्लेट, सुराही, फूलदान आदि अनेक प्रकार के समान बनते थे।

निजामाबाद के कुम्भकारों पूर्वजों के समय से ही अपनी कला के बदौलत पुरस्कृत होते आ रहे हैं। सन् 1867 में निज़ामाबाद के कुम्हार नोहर राम, झींगुर राम व मुन्नालाल को आगरा में नार्थ वेस्ट प्राविन्सियल वायसराय के ओर से आयोजित प्रदर्शनी में सम्मानित किया गया था, जिसमें एक-एक प्रमाण पत्र तथा बीस रूपये का चाँदी का सिक्का तथा ढाई भर का सोने का बैच दिया गया था। उस समय के बर्तन आज भी आगरा के संग्रहालय में मौजूद हैं। सन् 1871 में लंदन में एक प्रदर्शनी लगी थी, जिसमें निज़ामाबाद से श्री झींगुर राम वहाँ गये थे और उनको 100 मोहर और सोने का हल जोतता किसान पुरस्कार मिला। सन् 1936 में श्री जियारू राम को हेण्डिक्राफ्ट का पुरस्कार लखनऊ के देवास में लगाये गए प्रदर्शनी के लिए दिया गया।[3] इसके बाद निजामाबाद अन्य कुम्हारों को समय-समय पर राष्ट्रीय पुरस्कार व राज्य हस्तशिल्प पुरस्कार प्राप्त होते रहे हैं जिसमें स्व0 राजेन्द्र प्रसाद प्रजापति, रामजतन प्रजापति, सोहित प्रजापति, बाबूलाल प्रजापति, शिव प्रसाद प्रजापति, महेंद्र प्रताप प्रजापति तथा आनंद कुमार प्रजापति आदि प्रमुख रूप से हैं।

निजामाबाद के लाल मिट्टी के मृदभाण्ड पर चर्चा से पूर्व यहां की काली मिट्टी के मृदभाण्ड पर भी संक्षिप्त चर्चा की आवश्यक है।

**निजामाबाद के काली मिट्टी पात्र**

निज़ामाबाद में खासकर हुसैनाबाद मोहल्ले में सबसे ज्यादा काले

* शोध छात्र, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** कला, इतिहास विभाग, कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी।

बर्तन बनाए जाते हैं। इसके अलावा फरहाबाद व भैरोपुरकला (शीतला माता मंदिर) आदि स्थानों पर भी काली मिट्टी का बर्तन का निर्माण किया जाता है। कहा जाता है कि **सुंदर कला सदैव प्रगतिशील होती है क्योंकि वह हमारे जीवन को एक नया आयाम सौंपती है।** मृदभाण्ड कला एक ऐसी कला है जो भारत में ही नहीं, बल्कि संपूर्ण संसार में सबसे प्राचीन कला मानी जाती है। इन सभी बातों को चरितार्थ करते हुए निजामाबाद की काली मृद्भाण्ड कला है जो अपने काले रंग और नक्काशीदार अलंकरण के लिए विश्वविख्यात मानी जाती है।

इस कस्बे में घुसते ही शायद ही कोई ऐसा घर न हो जहां के बने मिट्टी के काले पात्र ने देश और प्रदेश सरकार से पुरस्कार न पाया हो।[4] यहां के मृदभाण्ड कला मुगल संस्कृति से प्रभावित है इसलिए यहां बने पात्रों के आकार में मुगल कालीन पात्रों के आकार का प्रभाव दिखाई देता है। यहां मुख्य रूप से फूलदान, सुराही, तस्तरी इत्यादि बनते हैं। यहां के बने पात्रों में जो सबसे प्राचीन है वह है फूलदान है। यहां के काली मृदभाण्ड पात्र के दो प्रकार होते हैं पहला दैनिक उपयोग के लिए बनाए जाते हैं जिसमें रोटवा (चित्र सं.-1), तस्तरी, केतली व कप, दीया स्टैण्ड, अगरबत्ती स्टैण्ड, आदि हैं तथा दूसरे प्रकार के पात्रों में सजावटी पात्र हैं जो इस प्रकार हैं फूलदान, टेबल स्टैण्ड, मिनिएचर इत्यादि हैं।

**निज़ामाबाद में बनने वाले दीपावली, डालाछठ व करवा चौथ से संबंधित पके मिट्टी के पात्र :**

**1. दीपावली :–**भारतीय पर्वों में दीपावली सबसे भव्य पर्व है। हमारे यहां दीपावली के अवसर पर तेल में जलते दीपको की पंक्तियों से घर को जगमग करने की परंपरा मूलतः ऊर्जा (जीवन) एवं प्रकाश (ज्ञान) में लिया जाता है। इसी संदर्भ में यहां के कुंभकार विशेष रूप से पकी मिट्टी के बर्तन बनाते हैं जैसे-

**कलश –**हिन्दू धर्म में सभी कर्मकांडों के समय इसका उपयोग किया जाता है। यह मुख्य रूप से मिट्टी का पात्र होता है जिसके मुख पर श्रीफल (नारियल) रखा जाता है।

**दीपक-** वह पात्र है जिसमें सूत की बाती और तेल या घी रख कर ज्योति प्रज्ज्वलित की जाती है। पारंपरिक दीया मिट्टी का होता है।

**1-शंख दीया**- शंख दीया को दो भागों में बनाया जाता है। एक चाक पर दूसरा सांचे के द्वारा। सांचे द्वारा बनाए गए भाग में अलंकरण होता है जो वृत्ताकार होता है और इसके किनारों पर बेलपत्र आकार का अलंकरण बना होता है जो चाक पर बनाया जाता है वह शंख आकार का होता है। जिसमें से कुछ भाग को काट कर निकाल देते हैं तेल व बाती के लिए, उसी के बगल में दो छिद्र करते हैं जिसमें अगरबत्ती को जलाते हैं।

**2- पाँच पंथी स्टैण्ड दीया**- इस प्रकार के दीया में नीचे प्लेट आकार प्लेट बना होता है जिसको बीचों बीच में कलश के ऊपर नारियल बना होता है और उसके किनारे पर पाँच दीया पान के पत्ते आकार का बनाकर चिपकाते हैं। इसके आलावा चकरी दीया, नारियल वाला दीया, दिलवाला दीया, साधारण दीया आदि हैं। (चित्र सं0 2)

**गुल्लक के प्रकार :-** गोल्लक का प्रयोग सभी प्रदशर्नियों, मेलों तथा त्योहारों में सबसे ज्यादा बनाया व बेचा जाता है। गुल्लक निम्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के रूप में चिपटा गुल्लक, पिंगी गोल्लक, हाण्डियां गुल्लक, रंगीन गुल्लक इत्यादी है। इसके साथ ही जहां दीपावली पर दीपो का उत्सव समाप्त होता है। उसके एक हफ्ते बाद स्त्रियां अपने घर की साफ-सफाई करके डाला छठ पर्व की तैयारी में जुट जाती है जो बड़े हर्ष और उल्लास के साथ मनाया जाता है।

**डाला छठ-** ऐसी मान्यता है कि छठ पर्व पर व्रत करने वाली महिलाओं को पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। पुत्र की चाहत रखने वाली और पुत्र की कुशलता के लिए सामान्य तौर पर महिलाएं यह व्रत रखती हैं किंतु पुरुष भी यह व्रत पूरी निष्ठा से रखते हैं। डाला छठ में भी मिट्टी के पके हुए पात्रो का प्रयोग किया जाता है जिसमें दीपक, कलश के अलावा जो सबसे महत्वपूर्ण पात्र होता है वह कोसी होती है।

**कोसी-** घाट पर पूजन करने के बाद व्रती महिलायें मांगलिक बहुचर्चित गीत 'काँच ही बाँस के बहंगिया, बहंगी लचकत जाए' गाते हुए अपने घर को वापस लौटती हैं। घर आकर पूजा घर में कोसी भरती हैं। इसमें मिट्टी से बने चार या छः खाने वाले मिट्टी के बर्तन के ऊपर चार या छः दीपक जलाकर पूजन करती है। इसी दीपक को लेकर पुनः दूसरे दिन भोर में घाट तक जाती है। वहां पूजन के बाद उसे नदी व पोखरे में अर्पित कर देती है। (चित्र सं0 3)

इसी प्रकार स्त्रियों का एक महत्वपूर्ण पर्व करवा चौथ होता है जो अपने पति के लंबी उम्र की कामना के लिए व्रत करती है। करवा चौथ पर करवा नामक मिट्टी का पात्र बनाया जाता है जिसकी तैयारी लगभग 6 से 7 महीना पहले से करते है। दो लाख करवा पात्र को निज़ामाबाद मोहल्ले से मुंबई भेजा जाता है। इसके अलावा दिल्ली व गुजरात में भी विशेष रूप से भेजा जाता है। करवा पात्र मिट्टी का बना हुआ छोटे मटकी के आकार का होता है जो चाक पर बनाया है। जिसमें अलग से मिट्टी की टोटी लगाई जाती है। (चित्र संख्या 4)

**मिट्टी के पात्रों की निर्माण विधि**

**1- मिट्टी की तैयारी-** निज़ामाबाद के कुम्हार आमतौर पर अप्रैल के महीने में मिट्टी को एकत्रित करते हैं। मिट्टी को तालाब से वह समयाभाव के कारण ट्रैक्टर या ठेला से लाते हैं। जिसको वह छनाई के लिए मिट्टी या सीमेंट से बने नाद में मिट्टी को डालते हैं उसके बाद उसमे पानी डालते हैं। मिट्टी फुलने के उपरांत लोहे की बनी जाली के द्वारा उसकी छनायी करते है। छनायी के बाद गीली मिट्टी को दूसरे सुखे स्थानों पर रखते हैं। जिससे वह लगभग पच्चीस से तीस दिन में कार्य करने लायक हो जाती है। उसके बाद कुंभकार मिट्टी को अच्छी तरह

से हाथ व पैर से मसलकर आटे के लोवें जैसा बनाते हैं और इस तरह बनें लोवें को एक सुरक्षित स्थान पर कपड़ा, प्लास्टिक, जूट के बोरे से ढ़क कर रख देते हैं। जिससे मिट्टी में हवा ना लगे अगर मिट्टी में हवा लगती है तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होता है। इस प्रकार जब चाक पर कार्य करना होता है तो वह मिट्टी के बने पिण्ड को चाक पर रखकर मिट्टी के पात्र का निर्माण करते हैं[5]। (चित्र संख्या–5)

**2-चाक पर पात्र निमार्ण**

**अ-पारम्परिक चाक-** जिस चाक पर बर्तन बनता है उसके दो भाग होते हैं। एक नीचे का दूसरा ऊपर का। एक गोल पत्थर जिसका वृत प्रायः एक फुट रहता है जिसे जमीन में गाड़ दिया जाता है। इसके बीचो-बीच एक खूंटी (किला) जो पुराने इमली के पेड़ के तने की लकड़ी की होती है, पत्थर में छेद करके ठोंक दी जाती है। इसी खूंटी पर ऊपर चाक प्रायः घूमता है। इस कारण इसे खूब पक्की लकड़ी का बनाते हैं। चाक को कुम्हार दाहिने से बायें एक नुकीली लकड़ी के डण्डे से घुमाते हैं। मिट्टी के लोंदे को घूमते हुए चाक पर रख कर कुम्हार अंगूठे, अंगलियों और हथेली के सहारे कभी मिट्टी को दबाकर, कभी छोड़ कर इच्छा के अनुसार पात्रों को आकार देता है। बर्तन को चिकना करने के लिए कुम्हार प्रायः हाथ में पानी लगाता है जो उसके पास चकवड़ के रूप में रखा रहता है। जैसे ही पात्र बनकर तैयार होता है कुम्हार जल्दी से उसे छेपन (पतले धागे) के द्वारा काट कर अलग कर देता है। और उसे सूखने के लिए लकड़ी के पटरे पर रख देते है।[6] (चित्र संख्या 6)

**ब-विद्युत चालित चाक-** समयाभाव के कारण आधुनिकता के दौर में परिवर्तन एक नया आयाम है। निज़ामाबाद के कुम्हार द्वारा तैयार किया जाने वाला मिट्टी के पात्रों के उत्पादन में इस चाक की महत्वपूर्ण भूमिका है। विद्युत चालित चाक पर एक ही साथ तीन से लेकर चार चाक चला कर उस पर तीन से चार व्यक्ति एक ही साथ कार्य करते हैं, जिससे उनके पात्रों के उत्पादकता में कमी नहीं होती है। आसानी से भारत में या भारत से बाहर अपने पात्रों को भेज सकते हैं। चाक द्वारा बनाए गए मिट्टी के पात्रों को घर के आंगन, द्वार, छत पर मौसम के अनुसार सूखने के लिए छोड़ते हैं। जब मिट्टी के बर्तन पचास प्रतिशत सूख जाते हैं तो उसे पुनः विद्युत चालित चाक पर लाते है। सुतुहा के माध्यम से मिट्टी के पात्रो की छिलाई करते हैं। उसके बाद (घोंट) चिकने पत्थर की मदद से पात्र को चिकना करते हैं जिसे घुटाई करते हैं। घुटाई के उपरांत उसे सूखने के लिए छोड़ देते हैं जब पात्र पूर्णरूप सूख जाता है तब उस पर काबिज लगाते हैं।

**3-काबिज बनाने व लगाने की विधि-** निज़ामाबाद के कुम्हार अपने मिट्टी के बर्तनों के ऊपर एक विशेष प्रकार का लेप लगाते हैं जिसे काबिज करते हैं। यह काबिज खेत के लाल व पीली मिट्टी, आम के पेड़ की छाल, बांस की पत्ती, अढुस की पत्ती के मिश्रण से तैयार करते हैं। सबसे पहले बांस के पत्ते, आम के पेड़ की छाल, अढुस के पत्ती को छोटे टुकड़े तैयार करते हैं जिसको मिट्टी के सहारे एक नाद में पानी में भिगो देते हैं। इसके बाद उसके छाटे-छाटे पिण्ड बना देते हैं और उसे सूखने के लिए छोड़ देते है। जब वह सूख जाता है उसे घर के सुरक्षित स्थान में रख देते हैं। और जब व्यवहार में लाना होता है तो उसे घर की औरतें सिलबट्टे की मदद से लगभग एक घंटे तक कुटती है कूटने के बाद उसमें पानी मिलाते हैं। इसके बाद बने धोल को तसले में रखकर पात्रों के उपर काबिज लगाती हैं जिससे मिट्टी के पात्रों में एक विशेष प्रकार की चमक उत्पन्न होती है।[7] (चित्र संख्या 7)

**4-मिट्टी के पात्रों के लिए आंवा तैयार करना-** मिट्टी के पात्रों को पकाने के लिए आवा की पद्धति बहुत पुरानी है और यह पद्धति लगभग संपूर्ण भारत में एक ही जैसी है लेकिन हम निज़ामाबाद के संदर्भ में बात कर रहे हैं। इसके लिए सबसे पहले जमीन को तश्तरी आकार का बनाते हैं। उसके बाद उस पर कंडे (गोहरी) को सजाते हैं तदुपरांत उसके ऊपर पात्रों को रखते हैं। पात्रों को रखते समय भारी बर्तनों को नीचे तथा हल्के बर्तनों को उसके ऊपर रखते हैं। इस प्रकार से बर्तनों को संग्रहित कर के चारों तरफ कंडे रखते हैं फिर पुराने जले हुए कंडो को भी रखते हैं। इसके बाद उसके ऊपर सूखी घास या भूसा को भी रखते है। अंत में मिट्टी के बने कीचड़ से उसकी लेपाई करते हैं। आंवा के बीचो-बीच एक छिद्र बना होता है जिसमें आग को लगाकर प्रज्ज्वलित करते हैं। और पूरे आंवा को कहीं-कहीं छिद्र भी किया जाता है जिससे धुआँ बाहर निकल सके। इस प्रकार से आवां को लगभग 15 से 18 घंटे तक छोड़ते है और इसे सात सौ से नव सौ डिग्री सेल्सियस तापमान की जरूरत होती है। आवां ठंडा होने के बाद कुम्हार उसे खोलते हैं और आवें से मिट्टी के पात्र को निकालकर बाहर रखते हैं। (चित्र सं.-8) पकी हुई मिट्टी के पात्रों को वह अपने घर में संग्रहित करते हैं। जब उन्हें भेजना होता है तो पात्रों को कागज में लपेटकर एक बड़े कागज के गत्ते में रखकर गाड़ी के माध्यम से उसे भेजते है।

**निष्कर्ष–**इस प्रकार हमने अपने सर्वेक्षण में पाया कि अपने विशेष प्रकार के पात्रों के लिए प्रसिद्ध निज़ामाबाद जाना जाता है जो कि दीपावली, डाला छठ, करवा चौथ के पर्व में अनेक प्रकार के प्रात्रो का निर्माण करते है। इन कुम्हारों की यह परंपरा कई पुश्तों से कार्य कर रही है जो कि भारत की अन्य मिट्टी के पात्रों से अलग है। विशेष बात यह है कि यहां के सभी कुम्हार काली व लाल मिट्टी के पात्र दोनों प्रकार के निर्माण करते हैं। यह केवल स्थानीय विशेष न होकर भारत के सुदूर प्रांत दिल्ली, मुंबई, गुजरात आदि स्थानों पर पात्रों को भेजे जाते हैं। इन कुम्हारो का इतिहास लगभग 300 वर्ष पुराना है। यहां के अनेक कुम्हारो की पहचान राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर है। इसमें स्व0 राजेंद्र प्रजापति, रामजतन प्रजापति, बाबूलाल प्रजापति।

(सोहित कुमार प्रजापति को 2015 के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए उनका चयन हुआ था। यह सम्मान 9 दिसंबर 2016 को राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी द्वारा दिया गया)।

◆

चित्र सं.-1 काली मिट्टी के पात्र ( रोटवा )

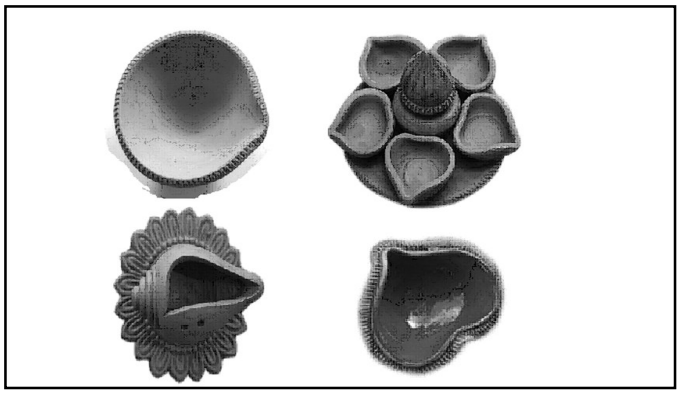

चित्र सं.-2 दीपावली में प्रयोग होने वाले दीये

चित्र सं.-3 छठ पर्व में कोशी

चित्र सं.-4 करवा नामक पात्र

चित्र सं.-5 मिट्टी की तैयारी

चित्र सं.-6 पारम्परिक चाक

चित्र सं.-7 पात्रों के उपर काबिज लगाना

चित्र सं.-8 पात्रों के लिए आवा लगाना

## संदर्भ सूची


1. सेंसेस रिर्पोट, अर्थ एवं सांख्यिकीय अधिकारी, आजमगढ़, पृष्ठ सख्या-1,2
2. समाचार पत्र, अमर उजाला, 30 नवंबर 2016.
3. डॉ0 सुधीर कुमार, उत्तर-प्रदेश सरकार, जिला उद्योग केन्द्र, आजमगढ़, पृष्ठ सख्या-4
4. समाचार पत्र, हिन्दुस्तान, 30 नवंबर 2016
5. राष्ट्रीय हस्तशिल्प पुरस्कार, रामजतन प्रजापती द्वारा प्राप्त जानकारी, निज़ामाबाद
6. डा0 राय, गोविन्दचंद; प्राचीन भरतीय मिट्टी के बर्तन, पुरातत्व, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1997
7. राष्ट्रीय पुरस्कार, सोहित प्रजापती द्वारा प्राप्त जानकारी, निज़ामाबाद


◆

# भारतेन्दु का नाट्यसाहित्य : यथार्थवाद के आईने में

*डॉ0 अनुकूल चंद राय* *

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवयुग के अग्रदूत और हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के जन्मदाता हैं। भारतेन्दु जी मात्र 34 वर्ष 4 महीने (1850 से 1885 ई0 तक) जीवित रहे, लेकिन उन्होंने इस छोटे से जीवनकाल में हिन्दी की प्रायः सभी विधाओं का संस्पर्श कर जितने विपुल साहित्य का निर्माण किया शायद उतनी अल्प अवधि में विश्व के किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं किया। स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने नाटक, उपन्यास, काव्य, अनुवाद-कार्य, लेख, व्याख्यान सबको जोड़कर उनकी कुल 248 रचनाओं का उल्लेख किया है। काव्य में उनके संस्कारों की अभिव्यक्ति है और गद्य में उनके विचारों की अभिव्यक्ति है। एक के लिए ब्रजभाषा को अपनाया है तो दूसरे के लिए खड़ी बोली गद्य को। कविता में उनका मूल संस्कार श्रृंगार का है, लेकिन जहाँ वे श्रृंगार से अतिरिक्त रचनाएँ लिखते हैं, वहाँ वे समाज की तत्कालीन विद्रूपताओं पर अच्छा व्यंग्य कसते हैं। गद्य के स्तर पर चाहे वह निबन्ध हो, चाहे नाट्य साहित्य हो, ये अपने विचारों के माध्यम से समाज के अन्धविश्वास तथा उसकी विसंगतियों के साथ विदेशी शासकों के अत्याचार एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार को व्यंग्य के माध्यम से इस प्रकार उकेरते हैं कि पगे-पगे उसमें प्रगतिशीलता के दर्शन होने लगते हैं। गद्य के क्षेत्र में नाटक उनकी सर्वप्रिय विधा है। उनकी नाटकीय रचनाएँ तीन भागों में विभक्त हैं-अनूदित, मौलिक एवं अपूर्ण। इन नाटकों की कुल संख्या पन्द्रह है-विद्यासुन्दर (1868 ई0), पाखण्ड विडम्बन (1872 ई0), धनंजय विजय (1873 ई0), कर्पूर-मंजरी (1875 ई0), भारत जननी (1877 ई0), मुद्राराक्षस (1876 ई0), दुर्लभ बंधु (1880 ई0), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873 ई0), भारत दुर्दशा (1880 ई0), नीलदेवी (1881 ई0), प्रेम जोगिनी (1875 ई0), सती प्रताप (1883 ई0)। भारतेन्दु जी ने अपनी सभी विधाओं में उन्नीसवीं शती के पूरे भारत को समेटने का सराहनीय साहसिक प्रयास किया है। उनका स्वत्व पूरे भारत का प्रतिरूप है तथा उनकी भाषा और साहित्य पूरी 19वीं शताब्दी की चेतना का वाहक है। वे सच्चे अर्थों में नवजागरण के अग्रदूत होकर हिन्दी साहित्य में प्रवेश करते हैं। नवजागरण या पुनर्जागरण हमेशा दो संस्कृतियों की टकराहट के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। विश्व स्तर पर समय-समय पर इसके दर्शन होते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य में प्राचीन एवं नवीन का मणिकांचन संयोग है। न तो उन्हें प्राचीन से मोह है, न नवीन के प्रति अन्धानुकरण की प्रवृत्ति। उन्होंने अंग्रेजों के शोषण के बावजूद ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उन्हें अनुकरणीय समझा। राजभक्ति होते हुए भी उन्हें अपनी स्पष्टवादिता के स्वभाव के कारण अंग्रेजी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। यद्यपि उन्होंने ''ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जात'' कहकर अंग्रेजी राज का गुणगान किया अवश्य, पर उन्होंने अपनी आत्मा एवं व्यक्तित्व का हनन नहीं किया। देशहित उनके लिए सर्वोपरि था। इसीलिए अपने सम्पूर्ण साहित्य में वे भारतीयों के अलसायें जीवन में नवीन चेतना और स्फूर्ति फूँकते रहे, 'चरैवेति चरैवेति' का पाठ पढ़ाते रहे। इसके लिए उन्होंने सशक्त माध्यम के रूप में नाटकों को चुना। उनके नाटकों में ऐसा कोई नाटक न होगा, जो उस समय के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थितियों को व्यंजित न कर रहा हो, भारतीय जन को जगा न रहा हो। सभी स्तरों पर व्याप्त पाखण्ड, भ्रष्टाचार, अन्तर्विरोध, बेईमानी को उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता के मानकों के आधार पर उकेरा है। ये मानक ही ऊपर उठकर यथार्थ के दर्शन कराने लगे। जयशंकर प्रसाद ने मुग्ध होकर हपने प्रसिद्ध लेख 'यथार्थवाद और छायावाद' के यथार्थवाद का सम्बन्ध भारतेन्दु से जोड़ा था। उन्होंने लिखा था ''श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेम जोगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ।''[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाट्य साहित्य का संसार बहुत व्यापक है। यह संसार कोरी कल्पनाओं एवं आदर्शों का संसार नहीं, बल्कि यथार्थ को समेटे देशभक्ति एवं राष्ट्रहित का संसार है। निबन्ध के विषय का कलेवर अतिदीर्घ न बने इसके लिए हमें विवेच्य विषय पर दृष्टिपात करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियों का विवेचन ही अपेक्षित है। सर्वप्रथम हम भारतेन्दु की मौलिक नाट्यकृति 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' पर विचार करते हैं। यह भारतेन्दु जी की पहली मौलिक नाट्यकृति है। इसका प्रथम संस्करण सन् 1873 ई0 में मेडिकल हाल, प्रेस से निकला, पर इसकी रचना 21 जून सन् 1872 से पूर्व हो चुकी थी। यह रचना धार्मिक पाखण्ड को केन्द्र बिन्दु में रखकर रची गई थी जिसमें धर्म की आड़ में की जाने वाली हिंसा (बलि प्रथा) तथा सुरा सुन्दरी सेवन आदि व्यभिचारों का यथार्थ अंकन किया गया है। चार अंकों में विभाजित इस कृति में क्रमवार भिन्न-भिन्न कुरीतियों और बाह्य आडम्बरों को उकेरा गया है। राजभवन ही धार्मिक पाखण्डों का केन्द्र है, जिसमें पाखण्डों एवं कुरीतियों को हवा मिलती है और जिसकी व्याप्ति समाज को छूने लगती है। राजा, मन्त्री, पुरोहित, कर्मचारी संगठित होकर धार्मिक व्यभिचार के सूत्रधार बनते हैं तथा वेद, शास्त्र, पुराण आदि की दुहाई देकर वे हिंसा, जुआ, मदिरापान और मैथुन को धर्मसम्मत ठहराते हैं और अपनी-अपनी भोगलिप्सा की तृप्ति करते हैं।

राज्याश्रित व्यभिचार तन्त्र का सार पुरोहित के इस आदर्श वाक्य में पूरी तरह प्रकट है—

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

**एहि असार संसार में, चार वस्तु हैं सार।**
**जुआ, मदिरा, मांस अरू, नारी संग विहार।**

इस प्रकार मांस-भक्षण के समर्थन में पुरोहित शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित करता है—'जीवो जीवस्य जीवनम्।' अर्थात् जीव ही जीव का भक्ष्य है। यही नहीं, वह तो उन्मुक्त नारी संग विहार के समर्थन में पुरोहित महाराज मनु को घसीट लाता है। उनके द्वारा अभिव्यक्ति श्लोक का सतही अर्थ लगाता है और कहता है कि ब्राह्मण, यती तथा स्त्रीविहीन पुरुष को क्रमशः ब्राह्मणी, तपस्विनी तथा विधवा का भोग करना चाहिए। मनु ने इसमें कोई दोष नहीं बताया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ भारतेन्दु ने पतनशील सामन्ती राजतन्त्र और धर्मतन्त्र के वास्तविक स्वरूप को उघाड़ कर रख दिया है।

एक अन्य स्थल ध्यातव्य है—जहाँ राजा और उसके लम्पट धर्मानुयायी मांस सेवन आदि की धर्मसम्मतता पर वार्तालाप करते हैं। ऐसा राजा और ऐसी मण्डली के साथ विदूषक न हो तो बात जमती नहीं है। जहाँ भी विदूषक उपस्थित है वहाँ हँसाने के उद्देश्य से कही गई बातों में बड़ी बात भी कह जाता है, जैसे—धूर्त वैष्णव गण्डकीदास के गुप्त आचरण को लक्ष्य कर वह कहता है—''महाराज, गण्डकीदास जी का नाम रण्डादास जी होता तो अच्छा होता।'' स्पष्ट है कि इस प्रकार के कथन से भारतेन्दु अपने पात्रों के यथार्थ चरित्र को उघाड़ते हैं और नाटक में यथार्थ का रंग गाढ़ा करते हैं। कहना न होगा, धर्म चर्चा के उपरान्त व्यभिचार सिद्धान्त व्यवहार रूप में सामने आयेगा और रामरस (मदिरा का धार्मिक नाम) के उपरान्त मांस भक्षण तथा मांस भक्षण के उपरान्त मैथुन सभी धर्मसम्मत होकर अपना रंग दिखायेंगे ही। राजा, मन्त्री और पुरोहित आकण्ठ व्यभिचार में डूब जाते हैं। परिणामस्वरूप अन्त में यमपुरी पहुँचने पर यमराज अपने निर्णय में शैव और वैष्णव को वैकुण्ठ प्रदान करता है तथा राजा, पुरोहित, मन्त्री तथा गण्डकीदास को दूत लोग मारते-मारते घसीट कर रौरवनरक में डाल आते हैं। वस्तुतः व्यभिचारियों का अन्त ऐसा ही होना चाहिए जैसा कि भारतेन्दु जी ने दिखाया है। भारतेन्दु का क्रोध यहाँ गूढ़ व्यंग्य के रूप में व्यंजित हुआ है। इस प्रहसन पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''उनकी प्रहसन कला का आधार यथार्थ जीवन का अनुभव, समाज सुधार का स्वस्थ दृष्टिकोण और अनाचार के प्रति उनकी घृणा है। मन्दिरों में होने वाले व्यभिचार के बारे में जानते सब थे, लेकिन पण्डों और पुरोहितों के डर से कोई बोलता न था। आज से 80 साल पहले (अब 93 साल) मन्दिरों में होने वाले व्यभिचार के खिलाफ काशी में आवाज बुलन्द करना साहस का काम था।''[2]

स्पष्ट है कि इस प्रहसन का 'राजा' अंग्रेजीराज का भारतेन्दु का समकालीन राजा है। इस राजा ने परमेश्वर प्रीत्यर्थ तो कुछ भी नहीं किया, लेकिन चित्रगुप्त के यमराज द्वारा प्रदत्त 'स्टार ऑफ इण्डिया' अर्थात् 'सितारेहिन्द' की उपाधि पाने की लालसा में कुछ-न-कुछ उदारता दिखायी थी। अंग्रेजीराज के खुशामदी इस मद्यप तथा भोगविलासी राजा के प्रति व्यक्त भारतेन्दु का क्रोध और घृणाभाव अंग्रेजीराज के उनके दृष्टिकोण का संकेत देता है। यमराज का दण्ड अंग्रेजीराज के चाटुकार और नैतिक दृष्टि से पतित देशी राजाओं तथा उनके पिछलग्गुओं को कठोर चेतावनी अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजीराज के लिए भी है। सब मिलाकर भारतेन्दु जी की यह रचना आलोचनात्मक यथार्थवाद की प्रथम कृति है, भावनावादी रचना नहीं है। हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में यह आलोचनात्मक यथार्थवाद की गंगोत्री है, जिसका मुख तो छोटा है, पर धार प्रखर है।

अब हम 'प्रेमजोगिनी' पर दृष्टिपात करते हैं जिसके विषय में जयशंकर प्रसाद ने इसे जीवन के यथार्थ रूप के चित्रण का प्रथम प्रयास माना है। डॉ0 रामविलास शर्मा के अनुसार यह यथार्थवादी रचना प्रस्तुत करने में ''भारतेन्दु का एक नया प्रयास है।''[3] आचार्य शुक्ल ने कहा है कि—'प्रेमजोगिनी में भारतेन्दु ने वर्तमान पाखण्डमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उनकी विशेषता है।''[4] इस प्रकार एक ओर 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' आधुनिक यथार्थवाद के विकास का पहला सोपान है तो 'प्रेमजोगिनी' मिल का पहला पत्थर है।

प्रारम्भ में सूत्रधार आँसू पोंछता हुआ सामने आता है और ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह प्रकट करता है। उसका कथन है कि अगर ईश्वर है तो उसके रहते संसार में इतना अनर्थ क्यों है? वह गज और कमलवन के प्रतीकों के माध्यम से भारत एवं उसमें रहने वाले सज्जनों की दुर्दशा एवं दुष्टों के अत्याचार एवं शोषण का वर्णन करता हुआ अनेक प्रश्न करता है और निष्कर्ष निकलता है कि या तो ईश्वर है नहीं और यदि है तो निर्दय है। स्पष्ट है कि भारतेन्दु की न्याय भावना एवं देश-प्रेम उन्हें ईश्वर के अस्तित्व के प्रति सन्देह की ओर प्रेरित कर रहे थे। सूत्रधार का अन्तर्द्वन्द्व वस्तुतः भारतेन्दु का ही अन्तर्द्वन्द्व है।

पुनः आगे सूत्रधार द्वारा भारतेन्दु अपनी जीवन-दशा के विषय में जो कुछ कहलवाते हैं, वह निश्चय ही यथार्थवादी चित्रण-कला का एक नया शिखर है। उनके वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु ने 'जगत् से विपरीत गति' चलकर 'प्रेम की टकसाल' खड़ी की थी। सूत्रधार के वक्तव्यों का सार है कि दुष्ट लोग उनकी नित्य एक नई निन्दा करते हैं तथा अन्ततः निन्दक कीड़े ऐसे ही रहेंगे और भारतेन्दु उनके 'सिर पर पैर रखके' विहार करेंगे। इन वक्तव्यों को देखकर कुछ लोग शायद इसमें आत्मश्लाघा ढूंढ़ने का प्रयास करें; किन्तु वास्तव में यह उनके आत्मविश्वास की सुरभि है जो पूरी तरह उचित है। इस प्रसंग में डॉ0 रामविलास शर्मा ने लिखा है—''तीन शताब्दी पहले जैसे काशी के पुरोहित वर्ग ने तुलसीदास को कष्ट दिया था, उसी तरह हिन्दी साहित्य के नये अभ्युदय काल में उसने भारतेन्दु को लोकबहिष्कृत किया था। जिस तरह तुलसीदास ने 'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ', लिखकर दुष्ट विरोधियों को मुँहतोड़ जबाब दिया था, उसी तरह भारतेन्दु ने घोषणा की थी कि वे विरोधी कीड़ों के सिर

पर पाँव रखकर आगे निकल जायेंगे। जैसे भविष्य की तरफ देखते हुए तुलसीदास ने भाषा कवियों के लिए लिखा था 'भये जे अहहिं जो होइहैं आगे, प्रनवौ सबहिं कपट सब त्यागे', वैसे ही भारतेन्दु ने समकालीन और भविष्य में आने वाले देशभक्त लेखकों का पूरा भरोसा करते हुए लिखा था कि ''प्रेमी लोग जब जहाँ उत्पन्न होंगे, उनका नाम आदर से लेंगे''। पहले अंक में जहाँ काशी के मन्दिर की झाँकी मिलती है, वहीं भारतेन्दु के प्रतिरूप बाबू रामचन्द्र की आलोचना के प्रखर स्वर भी सुनायी पड़ते हैं। झापटिया जो मन्दिर का सेवक है देर होने पर वह मिश्र जी (रामचन्द्र) पर टिप्पणी करते हुए कहता है—''आधी रात तक काबू किहें बैठ के ही-ही-ठी-ठी करा चाहै है, फिर सबेरे नींद कैसे खुलै।''[5] छक्कू जी की राय भी कुछ ऐसी ही है उनके अनुसार 'कवित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोर है, ई भाँटन का काम है। भाँट का यह नीच कर्म बाबू रामचन्द्र के बाप भी करते थे। पात्र माखनदास जी भी ऐसे ही पूर्वाग्रह से ग्रसित है। उनका मत है कि बाबू रामचन्द्र ने थोड़ा-सा पढ़ क्या लिया है, समझने लगे कि वे ही पण्डित हैं और सारी दुनिया मूर्ख है। इस सम्बन्ध में पात्र छक्कू जी का निर्णय है कि बाबू रामचन्द्र को आता-जाता कुछ नहीं, पढ़ा-बढ़ा भी कुछ नहीं है, बस एहर ओहर की दुइ-चार बात सीख लिहिन किरिस्तानी मते की, अपने मारग की बात तो कुछ जनबै नाहीं कर्ते, अबहीं कल के लड़का है।''[6] यही नहीं पात्र बालकुमुन्द जब मशाल से युक्त रामचन्द्र के कातिक के नित्य स्नान का जिक्र करता है तो छक्कू के विचार देखिए ''मसाल काहे ले जा थै, मेहरारून का मुँह देखै के?'' आदि। स्पष्ट है कि अपने विषय में तत्कालीन समाज के लोगों में लीक से हटकर चलने वाले भारतेन्दु के विषय में जो पूर्वाग्रह है वह इस अधूरे नाटक में निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत हुआ है। अक्सर यह देखा गया है कि लोग अपने चरित्र पर समाज की विरोधी टिप्पणियों को गोपनीय रखने का प्रयास करते हैं और अपने उजले पक्ष को ही प्रस्तुत या दिखाने का प्रयास करते हैं, लेकिन भारतेन्दु ने अपने चरित्र पर लगाये जाने वाले समाज के आक्षेपों को लिपिबद्ध कर दिया है। इससे बढ़कर हम और किस यथार्थ की मांग कर सकते हैं।

एक अन्य स्थल देखिए जहाँ काशी की स्थिति का बखान यथार्थ रूप में व्यंजित होकर हमारे सम्मुख उस परिवेश को आप ही आप अभिव्यक्त कर देता है जो इतिहास के कई पन्नों को पलटने पर भी स्पष्ट न हो सकेगा। कहीं से एक परदेशी गाता हुआ प्रकट होता है। अपने अनुभवों के आधार पर वह काशी का जो खाका खींचता है, वह काशी की पतनशील संस्कृति की तीक्ष्ण आलोचना है। कटु आलोचना के लिए परदेशी पात्र की परिकल्पना भारतेन्दु की नाटकीय सूझ-बूझ का प्रमाण है। इस परदेशी ने काशी के निङ्कल्लों की खबू डटकर खबर ली है। उसके काशी-गान की कुछ पंक्तियाँ प्रास्तुत हैं—

**देखी तुमरी कासी, लोगों, देखी तुमरी कासी।**
**जहाँ विराजै विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अविनासी॥**
**आधी काशी भाट भंडेरिया बाह्मन औ सन्यासी।**
**आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी॥**
**लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-विसवासी।**
**महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी॥**
**अमीर सब झूठे औ निन्दक करें घात विश्वासी।**
**सिपारसी, डरपुकने, सिट्ठू बोलै बात अकासी॥**
**मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।**
**नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी॥**[7]

तीसरे एवं चौथे दृश्य में एक ओर काशी की भव्यता का अंकन हुआ है, वहीं दूसरी ओर शास्त्रोपजीवी भोजन भट्ट समुदाय की आलोचाना है। बाबू रामचन्द्र के योग्य मुसाहब (मित्र) सुधाकर जी काशी की भव्यता को एक विदेशी पण्डित के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। सुधाकर का काशी वर्णन सुनकर विदेशी पण्डित ने अपनी यात्रा का कार्यक्रम ही बदल लिया। बोला—''यों तो मैं सीधे कलकत्ते जाता, पर अब काशी बिना देखे कहीं न जाऊँगा।'' एक स्थल देखिए जहाँ काशी का विस्तारपूर्वक एवं विस्तृत वर्णन हुआ है। वास्तव में वह भारतेन्दु के काशी प्रेम का उद्‌गार ही है—''काशी से गंगा धुनषाकार तीन ओर से लिपटी है। गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाए बड़े-बड़े घाटों के ऊपर दो मंजिले, चौ मंजिले, पंचमंजिले और सतमंजिले ऊँचे-ऊँचे घर आकाश से बाते कर रहे हैं, मानो हिमालय के श्वेत शृंग सब गंगा सेवन करने को एकत्र हुए हैं।'' ''सांझ सबेरे घाटों पर असंख्य स्त्री-पुरूष नहाते हुए, ब्राह्मण लोग सन्ध्या का शास्त्रार्थ करते हुए ऐसे दिखाई देते हैं मानों कुबेरपुर की अलकनन्दा मे किन्नरगण और ऋषिगण अवगाहन करते हों।''[8]

काशी के शास्त्रोपजीवी भोजन-भट्ट ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए भातेन्दु ने उनके कर्मों को आड़े हाथ लिया है। कहाँ ऐसे ब्राह्मणों की मण्डली केवल इस जुगाड़ में रहती है जो अर्थ एवं भोज्य से जुड़ा विषय हो। कहाँ कब कितने ब्राह्मणों का भोजन मिलेगा, कितनी दक्षिणा मिलेगी। भारतेन्दु ने यहाँ दिखाया है कि काशी के ब्राह्मणों के शास्त्र रुपये के हिसाब से बोलते हैं। महाश (निमन्त्रण लाने वाला) पच्चीस ब्राह्मणों के लिए निमन्त्रण लाने के साथ सूचना देता है कि एक यजमान के एक विधवा बेटी है जो केश नहीं कटाना चाहती जबकि तीर्थ में उसके लिए बाल मुँड़ाना अनिवार्य है। केश न काटना पड़े इस हेतु ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था मिल जाए तो वे एक हजार रुपयों की पण्डित सभा करने का विचार रखते हैं। यह सुनकर जो शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया होती है इसका बड़ा सुन्दर यथार्थ वर्णन होता है और अन्त में ब्राह्मण मण्डली 'न्यू फांड शास्त्री' के घर चल पड़ती है जहाँ पाली हुई बहुत सी 'चिड़ियाएँ' अभिधेयार्थ में नहीं, लक्ष्यार्थ में, देखने को मिलेंगी।

यहीं दृश्य समाप्त होता है। दुर्भाग्य से यह नाटिका अधूरी रह गयी। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतेन्दु इसे आपबीती के आधार पर कुछ इस प्रकार विकसित करते हैं कि तत्कालीन काशी की

पतनशील स्थिति और नवजागरण की उदीयमान संस्कृति की शक्तियों के बीच का संघर्ष उभर कर सामने आ जाता है। वस्तुतः अधूरी होने के बावजूद भातरेन्दु की यह नाटिका यथार्थवाद की अविस्मरणीय कृति है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु की अर्धमौलिक नाट्यकृति है। इसकी कथावस्तु यद्यपि पौराणिक है, फिर भी यथार्थवाद से अछूती नहीं है। डॉ0 रामविलास शर्मा के अनुसार इसकी कथावस्तु का ऊपरी ढाँचा अलौकिक है, लेकिन वास्तव में यह नाटक यथार्थवाद के नये प्राणों से स्पन्दित है।[9] नायक राजा हरिश्चन्द्र निरन्तर कष्ट झेलकर भी सत्य के पथ से नहीं हटते। अपने वचन की सत्यता रखने तथा विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होने के लिए वे अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। भारतेन्दु ने भी अपने जीवन में ऋणग्रस्तता का कष्ट भोगा था। डॉ0 शर्मा का कथन है कि—''राजा हरिश्चन्द्र जब ऋणग्रस्त मनुष्य की दशा पर क्षोभ प्रकट करते हैं, तब मानो कवि हरिश्चन्द्र उनके मुँह से अपना अनुभव ही व्यक्त करते हैं।''[10] वस्तुतः कथावस्तु की पौराणिकता के बावजूद इस नाट्यकृति की भावधारा समसामयिकता में डूबी हुई है। नाटक के अन्त में नायक हरिश्चन्द्र अपनी इच्छा प्रकट करते हैं कि सज्जन दुष्टों से दुःखी न हों, भारत पुनः अपना सत्व गहे, टैक्स का दुःख दूर हो, ज्ञानीजन अपने-अपने आलस्य का त्याग करें, नर-नारी समान हों, लोग ग्राम कविता छोड़कर सुकवियों की अमृतवाणी सुनें और सारा जग सुखी हो। इस मंगलकामना में नाटक की सामसामयिक भावधारा स्पष्ट है।

'भारत दुर्दशा' (1875 ई0) सम्पूर्ण राष्ट्र की दुर्दशा का प्रामाणिक दस्तावेज है, चीरफाड़ है। प्रसाद जी के अनुसार इसमें 'राष्ट्रीय अभावमयी वेदना' की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः यह नाटक अपने आप में सम्पूर्ण भारत को यथार्थ के धरातल पर उकेर कर देशप्रेम का ऐसा जज्बा जगाता है जो सम्पूर्ण भारतवासियों को झकझोर कर उठा देने में सक्षम है।

पात्र-विधान की दृष्टि को नाटक प्रतीकात्मक है। प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है—

**जय सतयुग-थापन-करन, नासन म्लेच्छ आचार।**
**कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार।।**[11]

मंगलाचरण के इस उद्‌गार में ही स्पष्टतः भारतेन्दु की दृष्टि भविष्य पर है। प्रकारान्तर से भारतेन्दु ने म्लेच्छों (अंग्रेजी आदि) के भावी संस्कारकर्ता की यहाँ स्तुति की है। प्रथम अंक में सर्वप्रथम एक योगी गाता हुआ आता है। उसके गीत की टेक है 'हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।'' इस दुर्दशा के पीछे भारतेन्दु ने मूढ़ता, कलह, अविद्या, दरिद्रता, अज्ञान की तलाश की है—

**लरि बैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।**
**करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी।**
**तिनि नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी।**
**छाई अब आलस कुमति कलह अंधियारी।।**[2]

स्पष्टतः वैदिक, जैन आदि विभिन्न मतावलम्बियों ने आपस में लड़-झगड़ कर ज्ञान को तो डुबो ही दिया, ऊपर से यवनों की भारी सेना भी बुला ली। यवनों की सेना ने बुद्धि, बल, विद्या, धन आदि को बार-बार नष्ट किया। धीरे-धीरे आलस्य, कुमति, कलह और अज्ञान का अन्धकार छा गया।

इस दर्दुशा से कैसे उबरा जाय, यह भारतेन्दु जी के लिए चिन्तनीय विषय है। मार्ग अबूझ हो जाने पर वह सब भारत भाइयों को मिलकर रोने के लिए आवाहन करते हैं। यह आवाहन योगी के माध्यम से करा कर भारतेन्दु ने अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वे यहाँ यह व्यंजित कर रहे हैं कि देश की दुर्दशा से योगी-संन्यासी भी दुःखी और चिन्तित हैं।

आगे के अंको में भारत जो अपनी दुर्गति की समीक्षा करता है, इतिहास के पन्नों को पलटता है, हर जगह वह अपने ही लोगों द्वारा धोखा खाता है, अपमानित होता है और निरन्तर कमजोर होता जाता है। एक आध स्थान पर जहाँ उसे अपनी सुरक्षा संरक्षा की आशा होती है वहाँ भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। देखिए एक स्थल वह रोता हुआ अपनी रक्षा के लिए ब्रिटिश साम्राज्ञी को पुकारता है। लेकिन वे नहीं आतीं तो वह कहता है ''हाय मैंने जाना था कि अंग्रेजों के हाथ में आकर हम अपने दुःखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे पर दैव से वह भी न सहा गया। हाय कोई बचाने वाला नहीं।''[13] सब ओर से निराश होकर 'भारत' अन्तिम आश्रयदाता ईश्वर को पुकारने लगता है। उसके विलाप को करुण गीत में ढालकर भारतेन्दु की कवि प्रतिभा ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

**कोऊ नहीं पकरत मेरो हाथ।**
**बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ।**
**जाकी सरन गहत सोई भारत सुनत न होउ दुखगाथा।**
**सब विधि दुख सागर में डूबत धाइ उबारौ नाथ।।**[14]

'नाथ' का स्वर तो नहीं सुनाई पड़ता, पर उसे (नेपथ्य से) यह सुनाई पड़ता है ''अब भी तुझको अपने हाथ का भरोसा है। खड़ा तो रह। अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं। 'भारत' देखता है कि कोई विकराल बदन मुँह बाए उसकी ओर दौड़ता चला आ रहा है, नाथ नहीं । भय से मूर्च्छित होकर वह गिर पड़ता है। वह विकराल बदन मुँह बाए कोई और नहीं, बल्कि वह 'भारत-दुर्दैव' है। वही वर्तमान दुर्दशा का नायक है। अन्न महंगा करके देश उजाड़ने वाला, लोगों पर टैक्स लगाने वाला अंग्रेजीराज ही वह भारत दुर्दैव है। वह अपने स्वरूप एवं कर्मों को इस रूप में अभिव्यक्ति देता है—

**कौड़ी-कौड़ी को करूँ मैं सबको मुहताज।**
**भूखे प्रान निकालूँ इनका तो में सच्चा राज।।**
**मरी बुलाऊँ देश उजाड़ूँ महँगा करके अन्न।**
**सब के ऊपर टिकस लगाऊँ धन है मुझको धन्न।।**[15]

इसी दुर्दैव का सहायक 'सत्यानाश' है। सत्यानाश का प्रिय पात्र 'सन्तोष' है। इसने राजा-प्रजा सबको अपना चेला बना लिया। परिणामस्वरूप लोग 'सन्तोषं परम सुखं' का जप करते हुए उद्यम की ओर देखते ही

नहीं। इसी सन्तोष ने निरुद्यमता का सहारा लेकर पूरी व्यवस्था को चौपट बनाने में अपनी अहम् भूमिका अदा की है। जो कुछ कसर बची थी वह अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश जैसे रणबांकुरों ने पूरा कर दिया। 'भारत दुर्दैव' को अभी भी सन्तोष नहीं मिला सो उसने रोगों एवं आलस्य का सहारा लिया। 'आलस्य' द्वारा गाया गया गजल अपने आप में सम्पूर्ण व्यवस्था को दो पंक्तियों में ही झलका जाता है—

**मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों को क्या।**
**ए मीर फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा।।**[16]

एक अन्य स्थल पर भारतेन्दु जी ने देशप्रेमजनित क्षोभ की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। देशवासियों को रासभ (गधे) कहने के पीछे देश की पीड़ा का सागर हाहाकार कर रहा है—

**निहचै भारत को अब नास।**

× × × × ×

**बोझ लादि कै पैर छानि कै निज सुख करहु प्रहार।**
**ये रासभ से कछु नहिं कहिहैं, मानहु छुआ अगार।।**[17]

अगले अंक में 'भारत दुर्दैव' से लोहा लेने के लिए बुद्धिजीवियों की एक छोटी-सी कमेटी बनती है। इस कमेटी में सभापति के अतिरिक्त एक बंगाली, एक महाराष्ट्री, दो हिन्दुस्तानी, एक एडीटर और एक कवि है। यहाँ पाँचवा अंक नाटक का सर्वाधिक सजीव, यथार्थ और रोचक अंश है। सभापित से लेकर सभी सदस्य अपने-अपने दृष्टिकोणों से भारत के रक्षार्थ उपाय सुझाते हैं, पर साथ ही साथ सरकार का भी डर उन्हें सताता रहता है। सभापति के द्वारा विचार आमन्त्रित करने पर बंगाली सज्जन अपनी बात कहते हैं कि ''एकमत होकर हमें 'गोलमाल' करना चाहिए, क्योंकि 'गवर्नमेण्ट' तो केवल गोलमाल से भय खाता और कोई तरह नहीं सुनता।'' उनका ओजस्वी भाषण सुनकर दूसरा देशी पहले देशी से धीरे से पूछता है, ''क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे।'' जाहिर है कि दूसरा देशी डर रहा है। कवि ने व्यंग्य भरी वाणी में एक छोटी सी कहानी सुनाकर बचने का उपाय सुझाया कि लोग चूड़ियाँ पहन कर उंगली चमकाकर कहें कि मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं।'' उन्हीं में से कोई स्पीचों के गोले मारकर व्यवस्था को सुधारना चाहता है, तो किसी को यह डर सता रहा है कि कहीं हाकिम लोग नाराज न हो जायें।[18] स्पष्ट है कि ऐसी कमेटी 'भारत दुर्दैव' यानि अंग्रेजीराज का मुकाबला कैसे करेगी? डॉ0 रामविलास शर्मा ने इस दृश्य पर बहुत सटीक टिप्पणी की है-'इस दृश्य में जितनी गहरी भारतेन्दु की सूझबूझ है, उतनी ही ऊँची उनकी प्रहसन कला है। जनता से विच्छिन्न बुद्धिजीवियों की असहाय दशा का इससे अच्छा चित्रण हिन्दी में न मिलेगा।''[19] 1875-76 में 'भारत दुर्दैव' जैसे विराट दैत्य के आक्रमण से बचने का उपाय सोचने वाली भारतीय बुद्धिजीवियों की कमेटी की सचमुच यही दशा रही होगी।

अन्तिम अंक में सब ओर से थका, हारा, हतोत्साहित 'भारत' एक घने वन में अचेत पड़ा है। 'भारत-भाग्य' जो भारत का हितू है उसे चेतित करने का असफल प्रयास करता है और अन्त में 'भारत' का उद्धार न कर सकने के कारण स्वयं को धिक्कारता हुआ अपनी छाती में कटार भोंक कर वहीं ढेर हो जाता है। नाटक का यह अन्त साभिप्राय होने के साथ-साथ घोर यथार्थवादी है। इस वैज्ञानिक युग में 'भाग्य' ने अपनी व्यर्थता महसूस कर आत्महत्या कर ली है। इस तरह भारतेन्दु ने अपने सुचिन्तित एवं दृढ़ विचार द्वारा यह प्रकट कर दिया है कि अब किसी व्यक्ति या राष्ट्र को उसका भाग्य कदापि नहीं जगा सकता। सचमुच में 'भारत दुर्दशा' यथार्थवाद की एक मिशाल है जो भारतीय जनता के लिए राष्ट्रीय चेतना का पथ-प्रदर्शित करने वाला है। वह भारत की अभावमयी वेदना के परत-दर-परत खोलने वाला है। वह भारत का सम्पूर्ण एक्स-रे चित्र है जो हमें अपनी कमजोरियों का सतत् साक्षात्कार कराता रहेगा।

'नील देवी' (1880 ई0) हिन्दी की पहली मौलिक नाट्यकृति है। भारतेन्दु ने उसे 'ऐतिहासिक गीतिरूपक' कहा है। यह रूपक आचार्य शुक्ल के शब्दों में पंजाब के एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है।''[20] 'भूमिका' से ज्ञात होता है कि यह नाटिका भारत की नारियों को जगाने के उद्देश्य से लिखी गई है। भारतेन्दु देश की समुन्नति के लिए देश की स्त्रियों को गृहदास्य और कलह से मुक्त करना, सुशिक्षित और सावधान करना और पुरुषों का सक्रिय सहयोगी बनाना अत्यावश्यक समझते हैं। यद्यपि नाटिका की प्रमुख समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है, पर वह मूल समस्या नहीं है। मूल समस्या है—भारत की पराधीनता, जो भारतेन्दु की रचना दृष्टि की संचालिका है। भारत की पराधीनता का पीड़ा बोध उनके संवेदनशील चित्त से कभी नहीं उतरता। यही तीव्र पीड़ा बोध वह स्रोत है जो उन्हें देश की हर प्रकार की सोई हुई शक्ति को जगाने के लिए प्रेरित करता है। इसी क्रम में वे नारी जाति को जगाने के उद्देश्य से 'नील देवी' लिखने के लिए प्रेरित हुए। कथावस्तु में सूर्यदेव पंजाब के पराक्रमी राजा हैं, जिनका अमीर अब्दुश्शरीफ खाँ से युद्ध चल रहा है। अमीर यह जानता है कि वह सीधे युद्ध में सूर्यदेव को नहीं हरा सकता, अतः वह छल-कपट का सहरा लेकर उन्हें पराजित कर देता है। पराजित होने पर उन्हें मुसलमान धर्म को स्वीकार करने की बात करता है। मुसलमान धर्म तो राजा स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसके बदले वह अब्दुश्शरीफ खाँ के मुँह पर थूक कर अपना तीव्र विरोध दिखाता है। खाँ उनकी हत्या करवा देता है। इसके बाद राजा की विधवा रानी नील देवी एक चतुर वीरांगना के रूप में समाने आती है। वह खाँ के ही अनुसार कूटनीति का सहारा लेती हैं तथा गायिका के वेश में अमीर को धोखें से कटार भोंककर मार डालती है और पति की हत्या का बदला चुका लेती है।

सब मिलाकर इस नाटिका में भारतेन्दु का उद्देश्य भारतीय नारियों में चातुर्य और वीरता का भाव जाग्रत करना था। उनका लक्ष्य

भारतीय मुसलमानों के प्रति घृणा और विद्वेष उत्पन्न करना कदापि नहीं है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि उस समय हिन्दू मुसलमान दोनों अंग्रेजों के गुलाम थे, अत; स्वाधीनता की लड़ाई अंग्रेजीराज के खिलाफ ही लड़ी जानी थी। भारत की स्त्रियों को अपनी हीनावस्था से मुक्त होकर अंग्रेजीराज के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में ही सहयोग देना था। अन्ततः 'नीलदेवी' ऐतिहासिक यथार्थवाद की पहली मौलिक रचना है। इस रूप में भारतेन्दु हिन्दी नाट्य साहित्य में ऐतिहासिक यथार्थवाद के भी प्रवर्तक ठहरते हैं। प्रसाद जी की 'ध्रुवस्वामिनी' नील देवी की ही परम्परा का विकास था।

'अंधेरी नगरी' (1981 ई0) भारतेन्दु का सबसे लोकप्रिय प्रहसन है। यह प्रहसन तीखे व्यंग्य, उच्चकोटि की कलात्मकता को समेटे हुए है। डॉ0 रामविलास शर्मा की इस प्रहसन के प्रति मुग्धता इस टिप्पणी से स्पष्ट होती है—''राज्य व्यवस्था, जाति प्रथा, उच्चवर्गों की काहिली और खुशामद पसंदी की यहाँ तीखी और समर्थ आलोचना की गई है। भारतेन्दु ने अंधेरनगरी चौपट राजा की लोककथा लेकर उसमें नई जान डाल दी है। उन्होंने यहाँ दिखाया है कि पुरानी संस्कृति के रूपों को राजनीतिक चेतना फैलाने के लिए किस तरह इस्तेमाल करना चाहिए।''[21]

'अंधेर नगरी' प्रसहन काल्पनिक नगरी नहीं, बल्कि अपने ध्वनन में अंग्रेजीराज की भारतीय नगरी को यथार्थ के धरातल पर उकेरता है। सारी व्यवस्था को घुन की तरह चाल जाने वाली वस्तुस्थिति का बोध कराता हुआ यह प्रहसन 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' के संविधान की तीखी एवं पैनी नोक हृदय में उतारता महसूस होता है। इस नगरी में हर चीज टके सेर बिकती है। वह चाहे वेद-धर्म, कुल-मयार्दा हो या फिर चावल-भाजी-खाजा हो। यहाँ हर चीज बिकाऊ है। हद तो तब हो जाती है जब विलक्षण हिन्दुस्तानी ब्राह्मण अपनी जाति ही बचे रहा है। यह वह नगरी है जहाँ सच्चे लोग मारे-मारे फिरते हैं, अपमानित होते हैं। वहीं इसके विपरीत छली तथा दुष्ट लोग सम्मान एवं बड़ी-बड़ी उपाधियों से विभूषित होते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि राज्य को अंधेर से भर देने वाला अविवेकी राजा कौन है? वह अंग्रेजीराज है या फिर अंग्रेजीराज का पिठ्ठू देशी राजा या दोनों। इस प्रश्न का उत्तर तो यही बनता है कि वह राजा कोई और नहीं, हमारा भारतीय राजा है जिसके विवेक को अंग्रेजीराज ने गिरवी रख लिया है। वस्तुतः वह हिन्दुस्तान का सर्वनाश करने वाले मूर्ख देशी राजाओं का ही प्रतिनिधि कार्टून है। अन्ततः यह बात भी सही है कि इस प्रहसन की रचना भारतेन्दु जी ने बिहार प्रान्त के किसी सामन्त को लक्ष्य कर उसे सुधारने के उ्देश्य से की थी। जो हो, यह प्रहसन एक ओर अंग्रेजीराज जो सब कुछ हजम करने के उद्देश्य से कार्य कर रहा था, की कटु आलोचना है और दूसरी ओर उस अंग्रेजीराज के सहायक देशी राजाओं और उनकी मूर्खतापूर्ण करतूतों और अंधेरगर्दी की आलोचना है। कुल मिलाकर इस प्रहसन में भारतेन्दु जी ने अपने साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी यथार्थवादी-लोकवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

अन्ततः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने अपने भिन्न-भिन्न नाटकों में अपनी लेखनी से नाट्य साहित्य के क्षेत्र में लोकवादी आलोचनात्मक यथार्थवाद की जो गंगा बहायी है वह सराहनीय एवं प्रशंसनीय है। जहाँ उन्होंने अपने नाट्य साहित्य में राष्ट्रप्रेम को वाणी प्रदान की, वहीं दूसरी ओर बौद्धिक विवेक को राष्ट्र उन्नति का मूल माना।

**सन्दर्भ-सूची**


1. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ0 117
2. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ0 97
3. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', भाग 1, पृ0 22।
4. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ0 102
5. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', भाग-1, पृ0 198
6. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ0 201 तथा 202।
7. 'भारतेन्दु समग्र' (हिन्दी प्रचारक, वाराणसी), पृ0 411
8. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ0 215
9. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ0 26
10. वही, पृ0 27
11. 'भारतेन्दु समग्र', पृ0 460
12. 'भारतेन्दु समग्र', पृ0 461
13. 'भारतेन्दु समग्र', पृ0 460
14. 'भारतेन्दु समग्र', पृ0 461
15. 'भारतेन्दु समग्र', पृ0 462
16. वही, पृ0 465
17. वही, पृ0 466
18. वही, पृ0 467
19. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ0 96
20. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ0 243
21. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ0 98


◆

# गोपशुओं में बांझपन का निवारण

*डॉ0 अनिल कुमार माथुर**

दुधारू पशुओं में अक्सर बांझपन की समस्या प्रत्येक पशुपालक एवं किसान के समझ कभी न कभी अवश्य आती है। आमतौर पर यह समस्या या तो अधिक दुग्ध उत्पादन वाले पशुओं में (संकर नस्ल की गाय) अथवा उन पशुओं में देखी गई है, जहाँ पशु पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है, तथा गाय अथवा भैंस की बछड़ी इधर-उधर घूमकर ही अपना पेट भरने का प्रयास करती हैं। ऐसी स्थिति में पशुपालकों अथवा डेयरी चलाने वाले को आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ता है।

मुख्य रूप से इस समस्या के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

* मदहीनता अथवा गर्मी में न आना (एनइस्ट्रस)
* बार-बार गर्भाधान करवाने के उपरान्त भी मादा का गर्भित न हो पाना (चित्र सं.-1)।

**चित्र सं.-1 गाय में कृत्रिम गर्भाधन**

* बछिया का अधिक समय तक मदकाल (इस्ट्रस) में न आना।

**मदहीनता** या गर्मी में न आने के अनेक कारण होते हैं, इनमें से प्रमुख हैं—

बहुत से पशु ब्याने के उपरान्त भी लम्बे समय तक ऋतुकाल (इस्ट्रस) नहीं प्रदर्शित करते और प्रकट भी करते हैं तो उनका ऋतुचक्र (इस्ट्रस साइकिल) भी सामान्य नहीं होता है। ग्रामीण परिवेश में यह समस्या लगभग 45-48 प्रतिशत गाय एवं भैंसो में प्रकट होती है। परीक्षण करने पर यह पाया जाता है कि उनकी डिम्बग्रंथियां, चिकनी एवं निष्क्रिय होती है या डिम्बग्रंथियों में डिम्बिकाओं (ओवम) का अभाव रहता है।

**कुपोषण** अर्थात आहार की मात्रा में कमी तथा उपलब्ध आहार में असंतुलन। जब भी दुग्ध उत्पादन करने वाली मादाओं में उनके आहार में पोषक तत्वों का अभाव होता है तो उसका प्रभाव न केवल उनके दुग्ध उत्पादन पर, बल्कि उनके जनन अंगों की क्रियाशीलता पर भी पड़ता है, इनमें सर्वप्रथम डिम्बग्रंथियां प्रभावित होती है, जिससे मादा समय पर ऋतुकाल प्रदर्शित नहीं करती है। क्योंकि भोजन से प्राप्त उर्जा का उपयोग शरीर की अत्यावश्यक गतिविधियों में खर्च होता है एवं उच्च उत्पादन और पुर्नउत्पादन के कार्य प्रभावित होते हैं।

आवश्यकता से कम पोषण तत्वों की उपलब्धता लम्बे समय तक रहने के कारण मुख्य रूप से निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं—

1. प्रजनन की दृष्टि से बछड़ियों के वयस्क होने में अत्यधिक समय लगना।
2. ऋतुकाल एवं ऋतुचक्र का अनियमित होना।
3. अण्डाशयों में अण्डाणुओं (डिम्ब) के विकास का प्रभावित होना, तथा उनका असमय ही अण्डक्षरण होना।
4. शरीर में आवश्यक हार्मोन्स की कमी का होना जिससे प्रजनन का प्रभावित होना।
5. ब्याने के उपरान्त समुचित संतुलित आहार न मिलने पर पशु के निकट भविष्य के गर्भधारण पर प्रतिकूल प्रभाव का होना।
6. आहार में प्रोटीन की कमी के कारण अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों का स्त्राव प्रभावित होना, जिससे उनके ऋतुचक्र अनियमित होना।
7. फास्फोरस की कमी के कारण पशु द्वारा अखाद्य वस्तुओं का खाना एवं अण्डाणुओं की परिपक्वता की कमी का आना।

अतः आहार का पौष्टिक एवं संतुलित होना अतिआवश्यक होता है। यही कारण है कि दुग्ध उत्पादन करने वाले पशुओं को दाने की अतिरिक्त मात्रा उनके शारीरिक क्रियाओं के लिए मौसम एवं समय के अनुसार निर्धारित की जाती है।

**विपरीत पर्यावरण** भी पशुओं के समय पर ऋतुकाल प्रदर्शन को प्रभावित करता है, अतः इनके रख-रखाव, खान-पान आदि की व्यवस्था करते समय पर्यावरण का भी ध्यान रखना चाहिए। जैसे कि अमेरिकन अथवा यूरोपियन संकर नस्ल की गायों को अत्यधिक गर्म वातावरण में रखने पर उनकी न केवल उत्पादन क्षमता प्रभावित होती है अपितु उनमें मदहीनता भी प्रकट होती है। प्रजनन क्षमता की दृष्टि से अधिक गर्म या ठंडा मौसम सर्वाधिक अनुपयुक्त होता है। हमारे यहाँ उपलब्ध वातावरण में गायें, वर्षाऋतु में तथा भैंसे मई से जुलाई तक मदकाल प्रदर्शित करती है। गोपशु सबसे अधिक बसंत ऋतु से मध्यम शरदऋतु में मदकाल प्रदर्शित करते हैं एवं अत्यधिक सर्दी एवं गर्मी के मौसम में पशु न्यूनतम संख्या में मदकाल प्रदर्शित करते हैं।

मदहीनता प्रकट न होने के कारणों में संक्रामक रोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। बहुधा देखा गया है कि पशु में संक्रमण होने के पश्यात् उसका विपरीत प्रभाव उनके जननांगो पर पड़ता है

* आचार्य, (पशु पुर्नउत्पादन एवं मादा रोग) पशु चिकित्सा एवं पशु विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जिससे वे समय पर ऋतुकाल प्रदर्शित नहीं करते हैं, ऐसा खुरपका मुंहपका, मातारोग, क्षय रोग, एन्टराइटिस, इत्यादि के बाद होता है। अतः इन रोगों का पूर्ण उपचार समय पर करवाना ही उचित होता है।

ऐसा भी देखने में आया है कि बहुत से पशुपालक/किसान,गाय/बछयों/भैसों में ऋतुकाल को सही समय पर नहीं पहचान पाते हैं जिससे मदहीनता की समस्या उत्पन्न होती है। अतः अपने पशुओं में मदकाल/ऋतुकाल सही समय पर पहचानने के लिए प्रतिदिन कम से कम 20 मिनट का समय प्रातः 6 बजे पहले तथा सायं 6 बजे के उपरान्त अवश्य दें। क्योंकि 75 प्रतिशत पशु सायं 6 बजे से सुबह 6 बजे के बीच ही मदकाल प्रदर्शित करते हैं।

इसके अतिरिक्त बहुत-सी मादाएं तीन बार कृतिम गर्भाधान अथवा सांड़ द्वारा मिलाने के पश्यात भी गाभिन नहीं होती हैं। ऐसे पशु –रिपीट ब्रीडिंग' (चित्र सं0 2) की श्रेणी में आ जाते हैं। इन मादाओं

**चित्र सं.-2 रिपीट ब्रीडर गाय**

की चिकित्सा उनके विधिवत अध्ययन जिनमें उनके मदकाल का समय, मिलान, कृत्रिम गर्भाधान का समय आदि की जानकारी लेकर की जाती है जिसके लिए पशु चिकित्सक द्वारा परीक्षण करवाना अनिवार्य हो जाता है। ग्रामीण पशुओं में यह समस्या लगभग 35 प्रतिशत मादाओं में होती है।

बछियों को देरी से मदकाल प्रदर्शित करने में उनकी तरूणावस्था (प्यूबर्टी) में देरी से आना एक प्रमुख कारण है, इसके लिए उनके दैनिक आहार में आवश्यक पोषक तत्वों एवं खनिज लवणों की कमी उत्तरदायी होती है। अतः बछियों में भी उनके खानपान का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक होता है जिससे वे भविष्य में अच्छा दुग्ध उत्पादन कर सकें (चित्र सं.-3)।

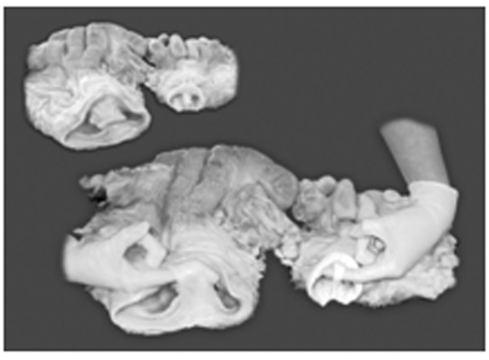

**चित्र सं.-3 असामान्य सर्विक्स**

बांझपन निम्नलिखित कारणों से भी हो सकता है—

**जनन अंगों में जन्मजात् विकार-** इसमें मुख्य रूप से डिम्बाशयों का अल्पविकसित या अनुपस्थित होना, डिम्बनलिकाओं का बन्द होना, अथवा गर्भाशय (चित्र सं0 4) या गर्भग्रीवा में बनावट संबंधी करुपता (फ्री मार्टिन) होना शामिल है, इस सभी व्याधियों की पहचान जनअंगों की पूर्ण जांच के उपरान्त ही की जा सकती है।

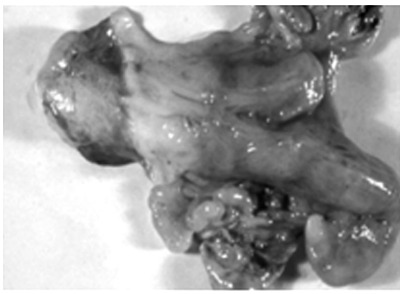

**चित्र सं.-4 असामान्य गर्भाशय**

**शारीरिक क्रियाओं में असंतुलन-** इसके लिए मुख्य रूप से शरीर में हार्मोन के असंतुलन (अधिकता अथवा कमी), मदहीनता, अल्पकाल के लिए ऋतुकाल का प्रदर्शन, डिम्बाशय में अंडाणु के विकास एवं डिम्बोउतसर्जन (ओवयूकेशन) में विलम्ब होना शामिल है (चित्र सं.-4 एवं 5)।

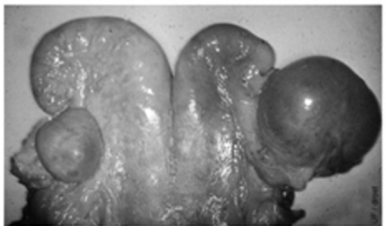

**चित्र सं.-5 गाय में छोटा एवं बड़ा अंडकोष**

**मादा पशुओं में जनन अंगों का संक्रमण-** प्रसव के उपरान्त संक्रमण की संभावना सर्वाधिक होती है। ऐसा अक्सर अप्रशिक्षित व्यक्ति द्वारा जेर (प्लेसेन्टा) निकालने के समय हुए संक्रमण के कारण उनके जनन अंगों में मवाद उत्पन्न होने से होता है जिससे पशु बीमार हो जाते हैं। संक्रमण के पश्चात् पशु का दुग्ध उत्पादन भी कम हो जाता है तथा पशु के अगले ग्याभिन होने की संभावना पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाता है (चित्र सं.-6 अ, ब)। संक्रमण की तीव्रता निम्नलिखित तथ्यों पर निर्भर करती है—

**चित्र सं.-6 अ निफोमेनिक गाय**

* गर्भाशय में गन्दगी की मात्रा की अधिकता
* मादा जनन अंगों और पशु की रोग प्रतिरोधक क्षमता
* गर्भाशय में जीवाणुओं के जीवित रहने हेतु उनमें बचे हुए जेर इत्यादि की मात्रा

**चित्र सं.-6 ब गाय में प्रसव के बाद का संक्रमण**

गर्भाशय के इस प्रकार के संक्रमण में मुख्य लक्षण इस प्रकार प्रदर्शित होते हैं—

1. अक्सर गर्भाशय से अत्यधिक मात्रा में तरल पदार्थ निकलता है जिसमें दुर्गन्ध आती है।
2. दुग्ध उत्पादन घट जाता है।
3. पशु में चारे का सेवन कम हो जाता है तथा पानी भी प्रचुर मात्रा में नहीं पीता है।
4. चिकित्सक द्वारा गुदा एवं योनि निरीक्षण के दौरान पशु में दर्द के लक्षण स्पष्ट प्रकट होते हैं।
5. ऐसी स्थिति में गर्भाशय का आकार भी संकुचित न होकर बड़ा ही रहता है।

कभी-कभी पशु के तापमान में भी अनियमितता रहती है एवं पशु लंगड़ा कर चलता है और इसका परिणाम उनके ऋतुकाल प्रदर्शन में देरी के रूप में प्रकट होता है।

इसके अतिरिक्त 2-3 प्रतिशत गायों एवं 5-7 प्रतिशत भैंसों में गर्भधारण के तीसरे माह में अथवा ब्याने के उपरान्त **जनन अंगों का भ्रंश** (बच्चेदानी के बाहर आ जाना) हो जाता है। (चित्र सं- 7) यह समस्या मुख्य रूप से गाय एवं भैंसो में पाई जाती है, इसके मुख्य कारणों में

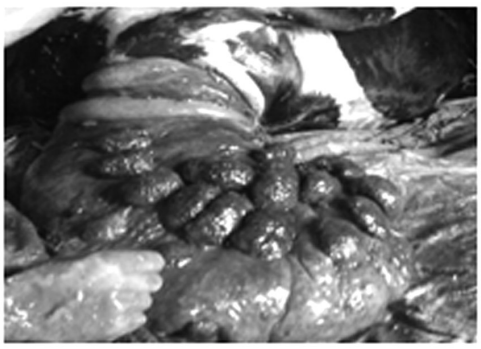

**चित्र सं.-7 गर्भाशय का भ्रंश**

1. कैल्शियम की कमी के कारण गर्भाशय की गतिविधि शिथिल (यूटराइन इनरटिया) हो जाना।
2. गर्भाशय से बलपूर्वक निकाले गये बच्चे के उपरान्त, गर्भाशय का बाहर आना
3. जेर का पूर्ण रूप से न निकलना

**हार्मोनजनित समस्या** होना (इस्ट्रोजन की अधिकता एवं प्रोजेस्ट्रान की कमी होना) भ्रंश के उपरान्त पशु लम्बे समय तक खड़ा रहता है और उपचार न होने की स्थिति में अक्सर बैठ जाता है जिससे उसमें अत्यधिक गैस बनती है एवं पशु असहजता अनुभव करता है। जिसके लिए भी पूर्ण जांच एवं चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है जो कि केवल पशु चिकित्सक के द्वारा ही की जा सकती है। यदि इसका उपचार यथाशीघ्र किया जाता है तो पशु से अगला बच्चा लेने में कोई परेशानी नहीं होती है अन्यथा इस व्यधि के कारण भी आंशिक रूप से बांझपन उत्पन्न हो जाता है।

1. **अनुचित प्रबन्ध एवं रखरखाव से उत्पन्न समस्याएँ-** इसमें पशुओं में ऋतुकाल (मदकाल) के लक्षणों का ठीक प्रकार से पहचान न होना, सही समय पर कुशल व्यक्ति द्वारा कृत्रिम गर्भाधान न करवाना तथा सांड वीर्य की गुणवत्ता ठीक न होना सम्मिलित है।

**ऋतुकाल के लक्षणों** में मुख्य रूप से निम्नलिखित लक्षणों की पहचान आवश्यक होती है-

* गाय अपने अन्य साथी पशुओं के ऊपर चढ़ती है एवं इसके विपरीत उनके चढ़ने पर अपने स्थान पर ठहर जाती है (चित्र सं.-10)।

**चित्र सं.-8 ऋतुकाल के लक्षण**

**चित्र सं.-9 रम्भाना**

* पशु रम्भाने लगते हैं तथा उनमें बेचैनी और हलचल बढ़ जाती है (चित्र सं.-9)।

* योनि फूली हुई सी तथा उसपर लालिमा आ जाती है व उसके बाहर तरल पदार्थ/तारारूपी लार योनि के बाहर लटका हुआ दिखाई देता है (चित्र सं.-8)।

गाय/भैंस पूंछ को एक तरफ उठा कर रखती है, जनन अंगों को सूंघती है एवं सांड को संभोग के लिए आकर्षित करती है।

**चित्र सं.-10 ऋतुकाल के लक्षण**

* ऋतुकाल प्रारम्भ होने के 12-18 घंटे के अन्तर ही कृतिम गर्भाधान करा लेना चाहिए।

कृतिम गर्भाधान के 2-3 महीने बाद उसका गर्भनिदान अवश्य करवा लेना चाहिए।

2. पशु संख्या या पहचान, ऋतुकाल में आने की तिथि तथा कृत्रिम गर्भाधान का दिन एवं समय, कृतिम गर्भाधान कार्यों का विवरण, गर्भनिदान एवं प्रसव के दिनांक का रिकार्ड अवश्य रखना चाहिए। ऐसा करने से उनमें प्रजनन समय से होगा तथा नियमित रूप से उनमें गर्भधारण करने की क्षमता का पूर्ण उपयोग हो सकेगा।
3. ओसर बछिया/पड़िया को कम उम्र से ही उचित खानपान एवं संतुलित आहार दिया जाना चाहिए जिससे उनका शारीरिक विकास अच्छी प्रकार से हो सके तथा वे वयस्क होकर प्रजनन योग्य हो सके। प्रायः यह देखा गया है कि गांव में बछिया/पड़िया अधिक उम्र में वयस्क हो पाती है अतः इनका प्रजनन भी समय पर नहीं हो पाता है, जिसका मुख्य कारण पशु को उसकी प्रारम्भिक अवस्था में उचित खानपान एवं संतुलित आहार का न दिया जाना है।
4. वयस्कता आने के उपरान्त उनमें गर्मी (इस्ट्रस) के लक्षणों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसी प्रकार ब्याने के उपरान्त 2 से 2.5 माह के बाद जनन अंगो की जांच पशु चिकित्सक से अवश्य करानी चाहिए।
5. मदकाल प्रदर्शित करने वाली गाय, बछिया या पड़िया को प्रमाणित नस्ल के सांडो के वीर्य से ही गर्भित करवाना चाहिए तथा यह भी सुनिश्चित कर ले कि कृत्रिम गर्भाधान प्रशिक्षित कर्मी द्वारा ही किया गया है।
6. गाभिन कराने के 2.5 माह के बाद गर्भ की जांच अवश्य करवा लें जिससे शेष आगे के गर्भकाल में उस पशु की देखरेख ठीक प्रकार से की जा सके। यदि जांच में पशु गाभिन नहीं निकलता है तो गर्भ न ठहरने का कारण एवं उचित उपचार पशु चिकित्सक से अवश्य जान लें, जिससे उपचार के बाद उस पशु को गर्भित किया जा सके।
7. गर्भकाल की अवधि में गाभिन गाय/ भैंस को संतुलित आहार अवश्य देना चाहिए जिससे गर्भ में पल रहे बच्चे का समुचित विकास हो सके।
8. ब्याने के समय बच्चा न निकलने अथवा जेर न निकलने की स्थिति में किसी भी अनजान व्यक्ति से बच्चेदानी में हाथ डलवाकर उपचार न करने दें, क्योंकि ऐसा होने से कभी-कभी मादा के गर्भाशय में अपूर्णीय क्षति हो जाती है तथा कभी-कभी पशु में बांझपन हो जाता है।
9. नियमित प्रजनन के लिए पशु को अधिक गर्मी तथा अत्यधिक ठंड से बचाना चाहिए, भैंसों का गर्मी में छायादार पेड़ो के नीचे बांधना चाहिए, जिससे उनमें गर्म मौसम में भी प्रजनन क्षमता का विकास होता है।
10. समय-समय पर प्रत्येक अवस्था एवं मौसम में पशु चिकित्सालय जाकर पशुओं में होनेवाली बीमारी व उसकी रोकथाम के बारे में जानकारी अवश्य लें तथा पशुओं में खुरपका मुंहपका, हेमोरेजिक सेप्टीसिमिया के टीके तथा कीड़ो की दवा का सेवन तीन माह में एक बार अवश्य करवाना चाहिए।
11. सभी पशुओं को 30-50 ग्राम मिनरल मिक्स्चर, पशु चिकित्सा अधिकारी से पूछकर प्रतिदिन खिलाएं इससे इनकी दुग्ध उत्पादन क्षमता एवं स्वास्थ्य ठीक रहता है।
12. गाय एवं भैंस ब्याने के दो दिन पूर्व से पशु को हल्के गर्म पानी से नहलाकर साफ सूखा एवं समतल स्थान पर रखकर पूर्ण निगरानी में रखें।
13. ब्याने के समय पशु को कम-से कम 6 इंच मोटी धान की पुआल या किसी अन्य सूखे बिछावन पर बांधे। इससे पशु के गर्भाशय में संक्रमण पहुंचने की सम्भावना कम हो जाती है।
14. प्रत्येक पशु को 5 से 20 क्रि.ग्रा. हरा चारा प्रतिदिन अवश्य खिलाएं।
15. ब्याने के बाद नवजात बच्चे को आधे घंटे के अन्दर कोलस्ट्रम (ब्याने के बाद का प्रथम दूध) अवश्य पिलाएं इससे बच्चे की रोग

प्रतिरोध क्षमता बढ़ती है और वह स्वस्थ रहता है, तथा इसका दूसरा लाभ मां के जेर गिराने पर भी पड़ता है (चित्र सं.-11) तथा जरे आसानी से निकल जाती है।

**चित्र सं.-11 जेर गिराती हुई गाय**

16. ब्यानेवाली गाय/भैंस का दूध एक ही समय पर न निकालें, थोड़ा-थोड़ा दूध एक दिन में 4-5 बार निकालें तथा पशु एवं नवजात बच्चे को साफ-सुथरी जगह पर रखें।
17. ब्याने के उपरान्त लगभग 60 दिनों के बाद ही प्रजनन कराना चाहिए। इससे पूर्व प्रजनन कराने से उनकी गर्भधारण की क्षमता भी कम होती है और यदि गर्भधारण कर भी लें तो उनकी भविष्य में उत्पादकता क्षमता प्रभावित होती है।
18. **कष्ट प्रसव** (डिस्टोकिया) के लक्षण प्रकट होते ही पशु चिकित्सक की सहायता अवश्य ली जानी चाहिए अन्यथा लम्बी अवधि तक कष्ट प्रसव में लानेवाले पशु में प्रजननहीनता की समस्या उत्पन्न हो जाती है।
19. असहाय शोर वाले वातावरण तथा अशान्त स्थान पर मादा को प्राकृतिक गर्भाधान कराने पर उनकी प्रजनन क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

भविष्य में आनेवाली सन्तान से अधिक दुग्ध उत्पादन हेतु यह अतिआवश्यक है कि पशुओं को केवल सन्तति प्रमाणित शुद्ध नस्ल के साड़ो से ही गर्भित कराया जाय अन्यथा स्थानीय तौर पर उलब्ध किसी भी प्रकार के सांड से गर्भाधान करवाने से अनेकों प्रकार की प्रजनन सम्बन्धी बिमारियॉ जो इन सांडों में रहती है, गर्भित पशुओं को हो सकती है जिससे उनका दुग्ध उत्पादन भी प्रभावित होता है।

गर्भपात एवं संक्रामक प्रजननहीनता से बचाव के लिए आवश्यक है कि उन पशुओं का प्रजनन अभिलेखों (रिप्रोडक्टिव रिकार्ड) का ठीक प्रकार से पशु चिकित्सक द्वारा अध्ययन किया जाए तथा गर्भपात के कारणों का पता लगाया जाय। इसके उपरान्त ही संक्रमित पशु का उपचार कराया जाना चाहिए। यह भी सुनिश्चित किया जाय कि प्राकृतिक गर्भाधान हेतु प्रयोग में लाए जानेवाले सांडों की नियमित जांच हो रही है एवं कृत्रिम गर्भाधान में प्रयुक्त सामग्री स्वच्छ एवं स्ट्रेलाइज्ड एवं वीर्य भी सर्टीफाइट है। संक्रमित पशुओं को प्रजजन से वंचित रखना बेहतर विकल्प रहता है। ब्रूसेललोसिस द्वारा गर्भपात से बचाव के लिए बचपन में 3 माह से पूर्व ही ब्रूसेल्ला एबार्टस-स्टेन-19, जीवित प्रतिजन का टीका लगाकर प्रतिरोधक क्षमता उत्तपन्न की जा सकती है। पशुओं के रहने के स्थान पर स्वच्छ वातावरण रखना अति आवश्यक है एवं जो आगन्तुक शंकापूर्ण हो अथवा ऐसे फार्म इत्यादि से आये हों जहॉ गर्भपात का प्रकोप हो चुका हो, उन्हें अन्दर पशुओं के आसपास भी नहीं आने देना चाहिए। बहुदा ऐसा भी देखने में आया है कि बहुत से पशुपालक/किसान आवश्यकता से अधिक पोषक तत्व पशुओं को खाने के लिए उपलब्ध करा देते हैं, जिससे उनके शरीर तथा जननांगो पर अधिक वसा (चर्बी) एकत्रित हो जाती है, जिसके कारण भी निम्न विकार प्रकट हो जाते हैं—

1. अण्डाशय (डिम्बाशय) का आकार में कम हो जाना जिससे उनमें ऋतुचक्र का अभाव उत्पन्न हो जाता है।
2. बार-बार गर्भित कराने पर भी गर्भ का समय पर न ठहरना।
3. डिम्बग्रंथियों में शिथिलता के कारण प्रजनन में विकार उत्पन्न होना।
4. ब्याने के समय अत्यधिक कठिनता होना।

यदि इसका उपचार यथाशीघ्र किया जाना है तो मादा से अगला बच्चा लेने में कोई परेशानी नहीं होती है अन्यथा प्रजनन क्षमता की दृष्टि से अधिक गर्म या ठंडा मौसम सर्वाधिक अनुपयुक्त होता है, हमारे यहां उपलब्ध वातावरण में गायें, वर्षाऋतु में तथा भैंसे मई से जुलाई तक मदकाल प्रदर्शित करती हैं, गो-पशु सबसे अधिक बसन्त ऋतु से मध्यम शरद ऋतु में मदकाल प्रदर्शित करते हैं एवं अत्यधिक सर्दी एवं गर्मी के मौसम में पशु न्यूनतम संख्या में मदकाल प्रदर्शित करते हैं।

सामान्य रूप से ऋतुचक्र 21 दिन का होता है। प्रायः मादाएं देर सायंकाल से सुबह-सुबह तक लगभग 18 घंटे तक ऋतुकाल स्पष्ट प्रदर्शित करती हैं। यह ऋतुकाल भैंसों में गर्मी के दिनों में लगभग 8 घंटे तक होता है। मदकाल/ऋतुकाल के लक्षण प्रकट होने के 12 घंटे के उपरान्त की गर्भाधान कराएं। यदि पशु सायंकाल में मदकाल प्रदर्शित करता है, उसे अगले दिन प्रातःकाल तथा जो पशु प्रातःकाल मदकाल प्रदर्शित करता है उसमें सायंकाल के समय गर्भाधान कराएं इससे उनके गर्भधारण की संभावना बढ़ जाती है।

आधुनिक प्रजजन प्रबंधन में उच्च नस्ल की अधिक दुग्ध उत्पादन करनेवाली मादाओं में समयबद्ध गर्भाधारण के लिए ओवम सिनक्रोनाइजेशन की तकनीकी का प्रयोग ब्याने के 50 से 60 दिन बाद किया जाता है जिसमें स्वस्थ पशुओं को किसी भी समय गर्भित कराया जा सकता है एवं उनके ऋतुकाल/मदकाल के लक्षणों की जांच की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है।

◆

# जाति एवं नारी : समाजवादी विचारक लोहिया के विशेष संदर्भ में

*पूनम भारती* एवं डॉ0 जय सिंह***

डॉ0 राम मनोहर लोहिया भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय भूमिका के साथ ही समकालीन भारतीय सामाजिक चिन्तकों में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लोहिया ऐसे प्रतिभाशाली राजनीति-विचारक हैं जिन्होंने भारत की विशेष परिस्थितियों को समझते हुए समाजवाद की एक नवीन व्याख्या और विशेष कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। इनका चिन्तन देश की परिसीमा को पार कर सम्पूर्ण मानव जाति के उन्नति के लिए रहा है।[1] डॉ0 लोहिया के जीवन का समाहार ध्वंस और निर्माण की शक्तियों को जगाने के उद्देश्य से मुर्दा कौम में प्राण फूंकने के लिए अघोरी साधु की तरह श्मशान-साधना रहा है।[2] इनका राजनीतिक विचार, आर्थिक सोच, साहित्य के प्रति रूचि, धर्म को परिष्कृत करने की उनकी प्रवृत्ति एवं समता का समाज बनाने की इनकी प्यास आदि सभी विचार एक स्थान पर लाने पर ही उनके पूर्ण व्यक्तित्व का बोध हो सकता है।[3]

समाजवादी होते हुए भी उनका समाजवादी अर्थव्यवस्था के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण था। हिन्दुस्तान के समाज वादियों पर रूसी साम्यवादी क्रांति का इतना प्रभाव था कि वे बहुत कुछ अपनी आर्थिक सोच को रूसी समाजवादी भारत से जोड़ते थे, पर लोहिया इससे सर्वथा भिन्न थे। ये मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही समाज की आर्थिक व्यवस्था के बारे में विचार करते हैं। लोहिया के मतानुसार अर्थव्यवस्था चाहे जिस प्रकार की हो लेकिन आर्थिक व्यवस्था से व्यक्ति के व्यक्तित्व के मान प्रतिष्ठा को प्रभावित नहीं होने देना चाहते मनुष्य का सम्मान मनुष्यता से है, अर्थ से गरिमा का वास्ता नहीं मानते। समाजवादियों के अनुसार उत्पादन के साधनों पर कुछ गिने चुने लोगों का वर्चस्व होने से श्रमिक जनों का अत्यधिक शोषण होता है।

पूंजीवादी विकास में निहित नियमों के अनुसार पूंजीवादी मॉडल का विखण्डन वही होगा जहाँ पूंजी के केन्द्रीकरण और समाजीकृत श्रम के साथ चलने में अयोग्य सिद्ध होने लगे। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी जंजीर अपने सबसे विकसित कड़ी पर टूटती है। लेकिन इतिहास ने पूंजीवादी उन्नति सिद्धान्त के साथ विपरीत चाल चल दिया। क्रांति की आशा जर्मनी या फिर विकसित देश जैसे पश्चिमी यूरोप में न होकर रूस में हो गयी। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में यह विपरीत चाल कैसे चली गयी यह मार्क्सवादी सिद्धान्त में अभी तक स्पष्ट नहीं किया गया।[4] समाजवादी व्यवस्था तथा सर्वहारा की अधिनायक शाही और समाज की अर्थव्यवस्था परिवर्तन को आवश्यक मानते हुए रूस में जो साम्यवादी क्रांति एवं सामूहिक स्वामित्व के लिए प्रयत्न और प्रयोग हुए हैं जैसे रूस के भूमी स्वामियों से भूमि अधिग्रहण के कार्य हुए और 'कलेक्टिव फार्मिंग' के सिद्धान्त को विकसित करते हुए सामूहिक कृषि व्यवस्था बनायी गयी जिसमें हजारों किसानों को भूमिमोह के कारण प्राण त्याग करना पड़ा,[5] लोहिया इस प्रकार के साम्यवादी अर्थव्यवस्था के पक्ष में नहीं थे जहाँ हत्या जैसे अमानवीय व्यवहार करना पड़े।

इस प्रकार भारतीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए लोहिया 'कलेक्टिव फार्मिंग' पद्धति की जगह 'स्मॉल पीजेन्ट प्रोपराइटरशिप' पद्धति लाने की बात सोचते हैं[6] जिसमें लघु मशीनों से चलने वाले लघु उद्योग का विकास, छोटी जोत जिसका स्वामी स्वयं किसान हो तथा शोषण का सूक्ष्म रूप भी न हो, व्यक्तित्व की गुलामी की मुक्ति हो, कत्लेआम का अमानवीय रास्ते रुके और जहाँ सहकारिता पर आश्रित अर्थव्यवस्था का संचालन तथा गाँवों के व्यवस्था को प्रोत्साहित किया जाय। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का समान योगदान और भागीदारी अति आवश्यक है। वर्ग के साथ नहीं मानवता के साथ समाज के प्रत्येक भाग मानवता के दोनों पहलु स्त्री तथा पुरुष समाज के उन्नति और निर्माण में बराबर के हिस्सेदार हैं तथा लैंगिक समानता तो समाजवादी समाज की आत्मा है। अतः समाज में दोनों को ही एक समान अवसर देने के लिए लोहिया ने समाज के दमित दलित लोगों और नारी पर शोचनीय दृष्टिकोण के साथ विचार करते हुए विशेष वर्णन करते हैं। सामाजिक मानकों द्वारा समाज में कुछ लोगों और महिलाओं की भूमिका का निर्धारण नहीं किया जाना चाहिए। भारतवर्ष में व्याप्त सभी सामाजिक विषमताओं में नर-नारी असमानता सर्वाधिक विचारणीय प्रश्न है। भारतीय समाज में नारी की शोचनीय स्थिति को नजरअंदाज (विस्मृत) नहीं किया जा सकता।

डॉ0 लोहिया ने ठीक ही कहा है कि "औरत! हिन्दुस्तान की औरत। दुनिया के दुःखी लोगों में सबसे ज्यादा दुःखी, भूखी, मुरझायी और बीमार है।"[7] स्त्री के समस्त कष्टों को दूर करके उसे स्वतंत्र और शिक्षित करके उसके आत्मसम्मान को उजागर कर समाजवादी आन्दोलन अथवा भारत के सर्वांगीण विकास में सक्रिय भाग लेने के योग्य बनाया जा सकता है। नारी की सक्रिय भागीदारी समाजवादी आन्दोलन में अनिवार्य है। डॉ0 लोहिया के अनुसार समाजवादी आन्दोलन एक वधूहीन विवाह के समान होगा यदि इसमें नारी की सक्रिय भूमिका न होगी।[8]

समाज के प्रत्येक कार्य में नारी की सहभागिता अनिवार्य अपरिहार्य रहती है फिर भी शुरु से ही नारी दासता की शिकार रही है। बालिका, युवती, वृद्धा सभी अवस्था में नारी को परतंत्र ही रखा गया है। इसे प्रमाणिक करने के लिए अन्य भारतीय ग्रंथों के अतिरिक्त मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक ही पर्याप्य है-

**बाल्ये पितुवंशे तिष्ठे पाणिग्राहस्य यौवने।**
**पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्।**[9]

* शोध छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स्त्री बालकपन में पिता के वश में, तरुणाई में पति के वश में, पति के बाद पुत्रों के वश में रहे। अर्थात स्त्री कभी स्वतंत्र न रहे। वर्तमान समय में भी कुछ सुधार के साथ नारी-दासता का यह दृष्टिकोण विद्यमान है। जिसका लोहिया ने सशक्त विद्रोह किया। सामान्यतः जो विषय सामान्य माने जाते हैं वे लोहिया को बहुत बड़े एवं महत्वपूर्ण तथ्य जान पड़ते हैं। साधारण लोगों को स्त्री का धुंआ से संघर्ष करते हुए भोजन बनाना सरल और स्वाभाविक प्रतीत होता हो किन्तु लोहिया की दृष्टि में इन्हीं लघु तथ्यों पर नारी का उत्थान-पतन निर्भर करता है। घर का चूल्हा चक्की और चहारदिवारी के अन्दर गूंजती आवाज के साथ समझौता करती स्त्री जिसका मूल कर्तव्य घर के सदस्यों हेतु भोजन आदि व्यवस्था करना माना जाता है। ''उसके रसोई की गुलामी की वीभत्स और चूल्हे के धुँआ को भयंकर कहा है।''[10] डॉ0 लोहिया के अनुसार ''स्त्री के पास खाना बनाने का एक निश्चित उचित समय के साथ उसका रसोईघर धुँआरहित होना चाहिए।''[11]

नारी की अपर्याप्त भोजन और बेकारी के विरुद्ध आंदोलन में अवश्य भाग लेना चाहिए। स्त्री की समस्या इससे आगे और भी है।[12] प्राचीन काल में नारी को देवीस्वरूपा कहा गया है किन्तु मूलतः वह एक दोयम दर्जे की इंसान ही रही है। उसे उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाता रहा है। वह पुरुषप्रधान समाज की क्रूरताओं का शिकार होती रही। यद्यपि वर्तमान युग में समाज के बहुमुखी विकास में नारियों का विशेष योगदान रहा है। स्त्री समाज के सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। किन्तु इस प्रकार की उच्च स्थिति कुछ ही स्त्रियों की है। सामान्य स्त्री जाति अभी भी शोषित, पीड़ित, पददलित एवं पिछड़ी अवस्था में है। चूंकि संविधान में नर नारी को समानता का अधिकार प्राप्त है किन्तु बहुत कम स्त्रियों को ही इस समाज में यह सौभाग्य मिला कि वह इस अधिकार का उपयोग कर पाये, आम स्त्री आज भी असहाय और दयनीय स्थिति में है।

लोहिया जी ने नारी को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए यह नारा बहुत जोर-शोर से उठाया कि नारी के सहभाग बिना हर बदलाव अधूरा है। वो नारी को राजनीति के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं इसीलिए वे बार-बार कहते थे कि द्रौपदी ही नारी का आदर्श हो सकती है,[13] जिसने अन्याय का प्रतिकार किया, न कि सती सावित्री और सीता की तरह वो मरती रही और रोती रही। लोहिया स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक हैं। लोहिया जी का कहना है कि माता-पिता का प्रथम कर्तव्य विवाह करना नहीं अपितु अपनी लड़की को अच्छी शिक्षा तथा अच्छा स्वास्थ्य देना है। पढ़ी-लिखी शिक्षित लड़कियां आत्मनिर्भर बनकर अपने विरुद्ध होने वाले सभी अत्याचारों और अन्यायों का साहस तथा विश्वास के साथ सामना कर सकेगी। उनकी मान्यता है कि स्त्रियों को आर्थिक रूप से मजबूत होने के लिए विशेष अवसर तथा सुविधाएँ देना आवश्यक है जिससे सदियों से शोषित और दमित स्त्री आगे निकले और आत्मसम्मान से रहे। डॉ0 लोहिया विवाह तथा यौन संबंधों को सामाजिक रूढ़ियों के बंधन में जकड़कर रखे जाने के सख्त विरोधी थे। ''ब्रह्मचर्य प्रायः कैदखाना होता है। ऐसे बंदी लोगों से कौन नहीं मिला, जिनका कौमार्य उन्हें जकड़े रहता है और जो किसी मुक्तिदाता की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं।''[14] लोहिया कहते हैं कि हिन्दुस्तान आज विकृत हो गया है; यौन पवित्रता की लंबी-चौड़ी बातों के बावजूद आमतौर पर विवाह और यौन संबंधों में लोगों के विचार सड़े हुए हैं।''[15]

दहेज लेना और देना निसंदेह अपराध है और इसकी सजा अवश्य मिलनी चाहिए, किन्तु मानसिक स्तर पर विवाह के मूल्य में परिवर्तन आना चाहिए, इनका कहना है कि ''यौन आचरण में केवल दो ही अक्षम्य अपराध है; बलात्कार और झूठ बोलना या वादों को तोड़ना। एक तीसरा जुर्म दूसरों को तकलीफ पहुँचाना या मारना भी है।''[16]

प्राचीन समय में दो छोटे-छोटे समूहों में युद्ध हुआ करता था उस युद्ध का विजेता समूह द्वारा विजित समूह की आमदनी को रोकने के फलस्वरूप जाति की उत्पत्ति हुई।[17] लगभग पाँच हजार वर्षों से भारतीय समाज में जाति रूपी दलदल इतना बढ़ा है कि सुधारक दल भी इस दलदल में समा लिया जाता है। भारत की जाति या वर्ण व्यवस्था संसार के अन्य देशों के जाति व्यवस्था से भिन्न है साम्यवाद और हिटलरवाद भी एक जाति निर्माण का प्रयास रहा है।[18] भारतीय समाज में जातिवाद का भयानक दलदल अभी तक सड़ रहा है जाति रूपी जकड़न तोड़ने के लिए हुए समस्त सुधारवादी आन्दोलन सनातन हिन्दु व्यवस्था द्वारा हजम होता गया। भारतीय जनता द्विज, हरिजन और शूद्र, तीन भागों में विभक्त है।[19] जिसमें द्विजों के अतिरिक्त 21 करोड़ संख्या वाली जातियाँ व्यक्तित्वविहीन बना डाली गयी है। सारा सुधारवादी आन्दोलन बड़ी ही चतुराई के साथ द्विज जातियों में ही होते रहे हैं। इस प्रकार के आन्दोलनों से शुद्र वर्ग को वंचित रखा जाता है, जिससे शुद्र सम्प्रदाय सुधारवादी आन्दोलनों से प्रभावित नहीं हो पाता है। हजारों वर्षों के संस्कारों ने जाति व्यवस्था को इतना कठोरता प्रदान कर दिया है कि जो इसे सिद्धान्ततः अनुचित मानते हैं वे भी इसे व्यवहारतः तोड़ नहीं पाते, उसे तोड़ने के लिए आन्तरिक विचार मंथन सागर की आवश्यकता है। डॉ0 लोहिया के अनुसार गौतम बुद्ध से लेकर डॉ0 अम्बेडकर तक इस पर हमला करते रहे, उनका कहना है कि इसे समाप्त करने के लिए अब इस पर चौतरफा हमला करना होगा।[16] यहाँ चौतरफे हमले का तात्पर्य समाज के पिछड़े लोगों को न केवल धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर समानता का दर्जा मिले अपितु राजकीय स्तर पर भी उन्हें आगे बढ़ाया जाय। इसके लिए उन्हें विशेष अवसर की आवश्यकता है।

लोहिया कहते हैं कि जिस तरह किसी पिछड़े इलाके के विकास के लिए विशेष सुविधा प्रदान किया जाता है उसी तरह हमें सामाजिक जीवन में भी करना चाहिए। लोहिया का कहना है कि भारतीय समाज में एक बड़ा वर्ग ऐसा है जिसे हजारों वर्षों से दमित दबाया किया गया है कि वह सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से ही नहीं पिछड़ा बल्कि उसकी बुद्धि विवेक ही नहीं उसकी आत्मा भी कुचल गयी है। तब हमें इसमें कोई एतराज नहीं होना चाहिए कि समान अवसर प्रदान कर हम उसे उच्च वर्णों के बराबर लायें। शोषण के तीन औजार में से भाषा और

वाक् कला द्विजों को 5000 वर्षों से उसके पुरखों द्वारा प्रदान किये जाते रहे हैं साथ ही शासन और शोषण के कई विशिष्ट गुण सिखाये गये हैं। द्विज लाखों की चोरी के बाद भी आदर्शवाद का जामा पहने रहता है और शुद्र चवन्नी अङ्गन्नी की चोरी पर भी बहुत बड़ा अपराधी घोषित कर दिया जाता है, भारतीय जेलों में ज्यादातर शुद्र ही रह जाते हैं।

डॉ0 लोहिया के अनुसार शुद्र को समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिए द्विजों का दिली संरक्षण की आवश्यकता है जिससे शुद्र निरन्तर योग्य बनने और समानता प्राप्त के लिए प्रयासरत हो सके। लोहिया यही चाहते हैं कि समाज के बहुसंख्यक दबे कुचले लोग जो खुली प्रतियोगिता में पिछड़ जायेंगे उनको सहारा देकर हम आगे लाएँ। इससे न केवल वर्षों की जकड़ ढीली होगी अपितु भारतीय समाज की हजारों वर्षों की जड़ता भी टूटेगी। ''द्विज ये करेगा क्यों?''[20] क्योंकि वर्तमान समय में अंतराष्ट्रीय जगत में भारत, रूस और अमरीकियों के बीच द्विजों में भंगी से ज्यादा कुछ नहीं। अमरीका से बराबरी का सपना यदि साकार करना है तो 22 करोड़ व्यक्तित्वहीन भीड़ को लेकर कभी नहीं हो सकता यदि अपने देश में चमार भंगी शुद्र बने रहेंगे तो विश्व पंचायत में भी शुद्र ही बनना होगा। अतः अंतर्राष्ट्रीय जगत में समानता प्राप्त करने के लिए भारतीयों को अपने 22 करोड़ भाइयों को व्यक्तित्ववान बनाने में सहयोग करना होगा।

भारत के मानव धर्मशास्त्र में मानव जाति के एक वर्ग के प्रति मानवधर्मशास्त्र का धर्म और विवेक अपने पतन के गर्त में इतना पतित हो चुका है कि वह चन्द्रायण जैसा प्रायश्चित व्रत करने के बाद भी अपने धर्म और विवेक को क्षमा करने की क्षमता नहीं रखता। विचारणीय प्रश्न यह है कि मानव दण्डशास्त्र से दण्डित व्यक्ति आज की उस दण्ड भय से संचालित है। दण्डभय उसे मानव जाति के वर्णव्यवस्था से संबंध रखने वाले लोगों से भयभीत ही करता है और भारत में जन्म जाति में होता है इससे इतर न हुआ था न हो रहा है न होने की आशा नजर आ रही है। आज इक्कीसवीं सदी के 2017 में परंपरा के पुजारियों का विवेक उल्टी धारा परंपरा में प्रवाहित हो रहा है। रामराज्य में नारी कहीं बोलती नजर नहीं आती है, विद्वान शुद्र का राम द्वारा वध किया जाता है। इस प्रकार के रामराज्य की आधी विरोधी जनता आज अविश्वास, भयभीत, निराश, दरिद्र, दुःखी और गुलामी ही कर रही है, मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार की गुलामी अपने यथावत् चाल से चल रही है। लोगों को परंपरा के भय से भयभीत करती अपनी मंजिल को प्राप्त करने में सफल होकर भारत की आधी आबादी जो अभी तक यथावत चल रही शुद्र और नारी को शांत और मौन न कर जाये शुद्र शांत रहा है। अपनी हर तरह की प्रवृत्ति संवेग और प्रक्रिया में, सबसे बलिष्ठ, तितिक्षा उससे सार्थक होती, गुरुभक्ति की मिसाल शुद्र एकलव्य से ही दी जाती, फिर भी उसके वंशज विद्वता ग्रहण करके भी प्रतिक्रिया विहिन ही क्यों रह जाते हैं, यह वर्णव्यवस्था और परंपरा उसे दमित नहीं कर रहे हैं तो फिर वह कौन सी कमी रह जाती रही है कि उसके उत्थान के नाम पर 10, 20 प्रतिशत लोग ही संघर्ष करने की हिम्मत जुटा पा रहे हैं शेष जनता भय से घिरी हुई है।

मानव व्यक्तित्व का प्रथम स्तर निर्भयता है, निर्भय व्यक्ति ही विश्वास कर सकता स्वयं पर भी और दूसरों पर भी, सामाजिक व्यवस्था उसे निर्भय होने नहीं दे रही आज भी। उसी दण्ड विधान से दण्डित महसूस करता है जिस दण्ड विधान की छत्रछाया में, फलते-फूलते लोग आज भी उस पर शर्मिन्दा होने के बजाय चुप्पी साधे बैठे हैं जाने किस लोभ लालच में।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत रूस और अमेरिका के बीच कैसे बैठ सकता है जब तक अपने देश में डोम, चमार, भंगी, शूद्र लोगों को बनाये रखेगा विश्व के पंचायत में भी तो वह शूद्र ही सा महसूस करेगा, विश्व बिरादरी में भंगी से भिन्न कुछ ज्यादा कैसे बन पायेगा जब 22 करोड़ से ज्यादा व्यक्तित्वहीन दलदल बनाये बैठेगा अतः विश्व स्तर पर समान अधिकार प्राप्त करने का सपना साकार करना चाहता है तो 22 करोड़ भाइयों को व्यक्तित्ववान बनाना मजबूरी और जरूरी दोनों ही है।

**संदर्भ ग्रंथ**


1. सिंह अमर ज्योति, समाजवाद और डॉ0 लोहिया, अमर ज्योति सिंह, सी 26/36ए-3, रामकटोरा, वाराणसी, उ0प्र0, पृ0 सं0 9
2. कपूर मस्तराम, राममनोहर लोहिया रचनावली, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, पृ0 सं0 11
3. सिंह जितेन्द्र, श्रीवास्तव विश्वास चन्द्र, समाजवाद : संकल्प और संघर्ष, पृ0 372
4. कपूर मस्तराम, राम मनोहर लोहिया रचनावली, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, पृ0सं0 157
5. सिंह जितेन्द्र, श्रीवास्तव विश्वासचन्द्र, समाजवाद : संकल्प और संघर्ष, पृ0 373
6. सिंह जितेन्द्र, श्रीवास्तव विश्वासचन्द्र, समाजवाद : संकल्प और संघर्ष, पृ0 373
7. रजनीकान्त वर्मा, लोहिया और औरत, पृ0 सं0 27
8. दीक्षित ताराचन्द, डॉ0 राममनोहर लोहिया का समाजवादी दर्शन, लोकभारती पेपर बैक्स, इलाहाबाद, पृ0 सं0 56
9. मनुस्मृति, पंचम अध्याय, श्लोक 148
10. दीक्षित तारा चन्द, डॉ0 राममनोहर लोहिया का समाजवादी दर्शन, लोकभारती पेपर बैक्स, इलाहाबाद, पृ0 सं0 57
11. लोहिया राममनोहर, लोहिया के विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 सं0 128
12. किशोर सं0 गिरिराज कुमार आनन्द, लोहिया के सौ वर्ष, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ0 सं0 220-221
13. लोहिया राममनोहर, समता और सम्पन्नता, लोकभारती पेपर बैक्स, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, पृ0 सं0 207
14. किशोर सं0 गिरिराज, कुमार आनन्द, लोहिया के सौ वर्ष, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ0 सं0 222
15. वही, पृ0 सं0 222
16. वही, पृ0 सं0 223
17. लोहिया राममनोहर, हिन्दू बनाम हिन्दू, लोकभारती पेपर बैक्स, इलाहाबाद, पृ0 सं0 28
18. लोहिया राममनोहर, लोहिया के विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 सं0 92
19. वही, पृ0 सं0 100
20. वही, पृ0 सं0 102


◆

# कविवर त्रिलोचन का काव्य विवेक और उसके प्रमुख आयाम

*प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय* *

किसी भी रचनाकार के काव्य विवेक एवं उसके चिन्तन के स्वरूप को स्पष्ट करना अत्यन्त जटिल एवं दुरूह कार्य है। काव्य विवेक की विशेषताओं एवं उसके प्रमुख आयामों को एक लेख में समेटना और अधिक कठिन है, फिर भी इस विषय पर प्रस्तुत लेख में कुछ प्रकाश डाला गया है। बहुआयामी प्रतिभा के धनी, बहु पठित एवं विविध प्रकार के जीवनानुभवों से गुजरे हुए कविवर त्रिलोचन का काव्य-विवेक अत्यन्त संश्लिष्ट एवं विविध स्तरीय है। उनके काव्य-विवेक का मूलाधार है, लोक-जीवन के प्रति उनकी गहरी रूचि एवं ग्रामीण परिवेश की बहुरंगी छवियों से लगाव। इन दोनों केन्द्र-बिन्दुओं के विविध रूपों का विस्तार उनके काव्य में प्रायः देखा जाता है।

कविवर त्रिलोचन के काव्य-विवेक का दूसरा महत्वपूर्ण आधार है, परम्परा एवं मौलिकता में अद्भुत सामंजस्य। त्रिलोचन बहु भाषाविद् एवं बहु पठित रचनाकार थे। उन्होंने परम्परित शास्त्रों एवं विद्याओं के साथ-साथ आधुनिक चिंतनों एवं पाश्चात्य विचारों का भी गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने अपनी नीर-क्षीर विवेकिनी बुद्धि द्वारा सार तत्वों को ग्रहण कर अपने काव्य-विवेक का निर्माण एवं विकास किया। पाश्चात्य विचारक एवं नोबेल पुरस्कार विजेता प्रसिद्ध कवि टी.एस. इलियट ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'ट्रेडिशन एवं इन्डिविजुअल टैलेन्ट' में लिखा है कि समर्थ एवं बड़ा रचनाकार अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विरासत को आत्मसात कर अपनी श्रेष्ठ रचना का निर्माण करता है। वह अपनी समृद्ध जातीय सम्पदा की सारी सम्भावनाओं को ऐसे निचोड़ लेता है कि बहुत दिनों तक उसके बाद के कवियों के लिए सम्भावनाओं के द्वार प्रायः बन्द हो जाते हैं। बाद के कवियों के लिए परम्परा में से कुछ सार्थक तत्व निकालना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। कालान्तर में चलकर जब फिर कोई बड़ा रचनाकार आता है, तो वह बदले हुए परिवेश एवं नये संदर्भों में अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विरासत का गहन मंथन एवं विचार-विमर्श कर कुछ नये तत्व एवं सार्थक मूल्य विकसित करता है।

दुनियाँ में बहुत कम कवि हैं, जो परम्परा एवं मौलिकता में उचित संतुलन कर पाते हैं, नहीं तो पलड़ा एक तरफ झुक जाता है, चाहे वह परम्परा की ओर हो या मौलिकता की ओर। परम्परा के प्रति अधिक झुकाव से गतानुगतिका का खतरा उत्पन्न होता है और मौलिकता एवं नवीनता के अतिरेक में अस्थिरता एवं क्षणभंगुरता की संभावना बनी रहती है। प्रथम प्रवृत्ति का परिचय मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध एवं श्यामनारायण पाण्डेय जैसे कवियों में मिलता है तो दूसरे प्रकार का उदाहरण 'नकेनवाद' एवं 'प्रयोगवाद' के कवियों में देखा जा सकता है।

परम्पराबोध कविता के स्थायीत्व एवं सहज स्मरणीयता के लिए आवश्यक है तो मौलिकता नयी स्फूर्ति एवं नव चेतना के लिए जरूरी है। स्थायीत्व एवं ताजगी के संतुलन द्वारा श्रेष्ठ काव्य का निर्माण होता है। प्रखर प्रतिभा, नीर-क्षीर विवेकिनी बुद्धि एवं विविध प्रकार के जीवनानुभवों से सम्पन्न रचनाकार ही परम्परा एवं मौलिकता में उचित संतुलन साधकर उच्चकोटि की रचना का निर्माण कर पाता है। हिंदी साहित्य में ऐसे रचनाकारों में महाकवि तुलसीदास, निराला, जयशंकर प्रसाद, अज्ञेय, नागार्जुन एवं त्रिलोचनशास्त्री के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कविवर त्रिलोचन के काव्य विवेक का तीसरा महत्वपूर्ण आधार है, मार्क्सवादी चिंतनधारा का सर्जनात्मक रूपान्तरण। बहुत से प्रखर मार्क्सवाद चिंतक एवं घोर प्रतिबद्ध कवि ऐसे हैं, जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों का सर्जनात्मक रूपान्तरण करने में असफल रहे हैं। इस कारण उनकी कविताएँ शुष्क, नीरस एवं ऊबाऊ हो गयी हैं, जो मात्र नारा बनकर रह गयीं। इस दृष्टि से कविवर त्रिलोचन एक सफल एवं लोकप्रिय रचनाकार हैं, उनकी कविता में विचारधारा सहज रूप में प्रकट हुई है। इस संदर्भ में उनका स्पष्ट कथन है कि 'मेरी कविता को लोग पढ़ेंगे तो कविता के बतौर पढ़ेंगे, मेरे विचारों के लिए नहीं।' उन्होंने कई जगह कहा है कि यदि किसी को वेदान्त का अध्ययन करना है तो वह शंकराचार्य अथवा विवेकानन्द के विचारों को पढ़ेगा, न कि निराला की कविताओं को। उनकी कविताओं में शोषण, अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध तीखा आक्रोश है। वे अपनी पीड़ा को सहज बोधगम्य भाषा में कहने में समर्थ हैं। वे तनाव को झेलते हुए मौन नहीं रह पाते, अपने विचारों को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

**'मौन भी कैसे रहूँ**
**कहूँ क्या क्या न कहूँ**
**तीखे तनाव से टूटने वाले**
**× × × × ×**
**एक से/तू घबरा गया**
**यहाँ एक से एक हैं लूटने वाले।''**[1]

कविवर त्रिलोचन शब्दों एवं उनकी विविध अर्थच्छायों के अद्भुत पारखी थे। वे शब्दों को जीवन्त एवं मूर्तमान रूप में अनुभव करते थे। उनके अनुसार शब्दों की अपनी सत्ता एवं अपना जीवन होता है, जिसे विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रहारों से क्षत-विक्षत करना उचित नहीं है। यह प्रवृत्ति सहज एवं सफल काव्य रचना में बाधक सिद्ध होती है। उनका स्पष्ट मत है कि सही एवं सटीक अर्थों की व्यंजना के लिए शब्दों के जीवन्त स्वरूप को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक है। इस संदर्भ में उनकी 'चैती' संग्रह की निम्न प्रसिद्ध पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग एवं सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल, बी0एच0यू0।

**''शब्दकार, इन शब्दों में जीवन होता है**
**ये भी चलते फिरते और बात करते हैं।**
**तोष-रोष-जब जैसे भावों से भरते हैं**
**तब वैसे ही अर्थों का व्यंजन होता है।''**

कविवर त्रिलोचन के काव्य-विवेक एवं उनकी रचनाप्रक्रिया को समझने के लिए अरबी साहित्य के प्रसिद्ध लिजेंड 'कुक्लूस' पक्षी के गाने की प्रक्रिया को समझना होगा। यह पक्षी त्रिलोचन को अति प्रिय है। इस विशिष्ट पक्षी की विशेषता है कि जब वह अन्तिम राग गाता है, जो वह आग उगलता है और वह उसी आग में भष्म हो जाता है। फिर जब बरसात होती है तो उसी राख से वह पुनर्जीवित हो उठता है। यह भी सत्य है कि अरब में बरसात अत्यन्त दुर्लभ है। वह बहुत दिनों के बाद होती है। इस पक्षी के माध्यम से त्रिलोचन यही कहना चाहते हैं कि कोई बड़ा रचनाकार जब कोई सशक्त रचना करता है तो वह चुक सा जाता है। काव्य-विवेक की सारी संभवनाएँ, उसके प्रतीक, बिम्ब एवं मिथ तथा सांस्कृतिक बोध आदि को वह पूरी तरह निचोड़ देता है। उसके बाद वह कुछ दिनों के लिए एकदम खाली हो जाता है, क्योंकि उसे तभी पूर्ण संतुष्टि एवं आत्मतृप्ति मिलती है, जब वह अपने भाव को पूरी तरह व्यक्त कर देता है। कालान्तर में चलकर वही रचनाकार संवेदनाओं की नयी बरसात में पुनः हरा-भरा हो जाता है। वह नये भाव बोध मे आप्लावित हो पुनः नव सृजन करता है। इस संदर्भ में उनकी अति प्रसिद्ध पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

**''कविता अगर बनती जाएगी।**
**तो कवि नष्ट हो जायेगा।**
**कविता से जीवन को तोड़कर**
**सफल जीवन बनाती है''**

कविवर त्रिलोचन के काव्य-विवेक एवं उनकी रचना-प्रक्रिया को उनकी प्रसिद्ध कविता 'ध्वनिग्राहक' के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है—

**''ध्वनि ग्राहक हूँ मैं/समाज में उठने वाली**
**ध्वनियाँ पकड़ लिया करता हूँ/इस पर कोई**
**अगर चिढ़े तो उसकी बुद्धि कहीं है खोई**
**कहना यही पड़ेगा**
**× × × ×**
**गला सत्य का कभी घोटूँगा/मेवा से**
**बरंबूहि न कहूँगा और न चुप रहने का।**
**लड़ता हुआ समाज, नई आशा अभिलाषा,**
**नये चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा।''**

उपर्युक्त कविता मे 'ध्वनिग्राहक' बीज शब्द (की-वर्ड्स) है, शेष कविता उसी का फैलाव है। इसे शैली विज्ञान की दृष्टि से साभिप्राय चयन कौशल कहते हैं। 'ध्वनिग्राहक' का चयन आज के वैज्ञानिक युग का ही कवि कर सकता है, आदिकाल या भक्तिकाल का कोई कवि नहीं कर सकता। आज के पाठक तक कवि का अभिप्राय सहज में सम्प्रेषित हो जाता है। आज के तकनीकी युग में टेलीविजन या रेडियो से प्रायः सभी पाठक परिचित हैं। मीडिया मे एक संप्रेषक (ट्रासमीटर) होता है, दूसरा संग्राहक (रिसीवर)। ट्रांसमीटर ध्वनियों को इलेक्ट्रानिक वेव (विद्युतीय तरंगों) में बदल देता है, जिसे संग्राहक ग्रहण कर उसे पुनः ध्वनियों में बदल लेता है, जिसे हमारे कान ग्रहण कर हमें उक्त कथन के अभिप्राय को स्पष्ट कर देते हैं। कवि भी ध्वनिग्राहक की तरह समाज में उठने वाली संवेदनाओं को ग्रहण कर अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा कविता (काव्य-भाषा) में रूपान्तरित कर हमें दे देता है, जिसे ग्रहण कर सहृदय पाठक उस मूल भाव तक पहुँच जाता है। यहाँ पर कवि की काव्य-रचना-प्रक्रिया स्पष्ट है। समाज में उठने वाली विविध संवेदनाओं को सामान्य व्यक्ति नहीं पकड़ पाता, उसे संवेदनशील कवि ही ग्रहण कर पाता है और अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा उसे काव्य-रूप में रूपान्तरित करता है। उस रचना की सफलता कवि की संवेदनशील क्षमता एवं उसकी काव्य प्रतिभा पर निर्भर है; साथ ही वह पाठक की सहृदयता पर भी आधारित है। ऐसा ही कवि नई अभिलाषा को नये चित्रों एवं नवीन भाषा में व्यक्त कर पाता है।

कविवर त्रिलोचन का काव्य-विवेक उनकी काव्य-भाषा के निर्माण में अत्यन्त सजग है। त्रिलोचन की काव्य-भाषा की विशिष्ट पहचान है कि वे कविता में भी गद्य की भाँति पूर्ण वाक्य-रचना के प्रति आग्रही हैं। कविता में व्याप्त गद्यात्मकता के आरोप को स्वीकार करते हुए भी वे इस आग्रह से मुक्त नहीं होते। इसका एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि उनकी कविता सहज सम्प्रेषणीय बन गयी है। उनका स्पष्ट मत है कि कविता की लय नियंत्रित होती है, जबकि गद्य की लय अनियंत्रित। वस्तुतः कविता में गद्य भाषा का प्रयोग एक सीमा तक ही स्वीकार्य है। गद्य के प्रति अति आग्रह उसके मूल स्वरूप को ही नष्ट कर देता है। गद्य-पद्य का विभेद समाप्त करने से कविता में नीरसता एवं सूखापन आ जाता है। उदाहरणास्वरूप निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

**'भोरई केवट के घर**
**मैं गया हुआ था बहुत दिन पर**
**बाहर से बहुत दिनों बाद गाँव आया था**
**पहले का बसा गाँव उजड़ा-सा पाया था**
**उससे बहुत बहुत बातें हुई**
**शायद कोई बात छूट नहीं सकी**
**इतनी बातें हुई/भीतर की प्राणवायु सब निकाल कर**
**एक बात उसने कही/जीवन की पीड़ा भारी।''**[3]

त्रिलोचन ने केवल गद्य कवितायें नहीं लिखी अपितु उच्चकोटि की लयात्मक सहज कवितायें भी लिखी हैं। उनकी कविता में लय स्वतः स्फूर्त ढंग से चलती है जो उसमें सहज सम्प्रेषणीयता के साथ-साथ उच्चकोटि के काव्यात्मक उत्कर्ष का भी संचार करती है। इस दृष्टि से 'परिचय की गाँठ' की निम्न पंक्तियाँ पठनीय है—

**''यों ही कुछ मुसकाकर तुमने**
**परिचय की यह गाँठ लगा ही**
**था पथ पर मैं भूला-भूला**
**फूल उपेक्षित कोई फूला**
**जाने कौन लहर थी उस दिन**
**तुमने अपनी याद जगा दी।**
**कभी कभी यों हो जाता है**
**गीत कहीं कोई गाता है**
**गूँज किसी उर में उठती है**
**तुमने वही धार उमगा दी।''[4]**

मानक गद्य की पूर्ण वाक्य रचना के अतिरिक्त त्रिलोचन कविता में 'क्रिया पद' को विशेष महत्व देते हैं। वे सफल जीवन में क्रियाशीलता के महत्व को जानते हुए कविता में भी 'क्रिया पद' की केन्द्रीय सत्ता को स्वीकार करते हैं। कविता की सशक्त अर्थवत्ता एवं गहरी व्यंजना के लिए उपयुक्त एवं बहुअर्थगर्भी 'क्रिया' को वे आवश्यक मानते हैं। उनका प्रसिद्ध कथन है—

**''भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है**
**गति में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।''**

प्रथम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष का अत्यन्त सार्थक एवं व्यंजक प्रयोग त्रिलोचन की काव्य भाषा की विलक्षण पहचान है। इसे शैली विज्ञान के क्षेत्र में 'पुरुष विचलन' कहा जाता है। उनकी बहुत प्रसिद्ध पंक्ति है 'भीख माँगते उसी त्रिलोचन को देखा कल'। यहाँ व्यक्तिवाचक संज्ञा का रूपान्तरण जाति वाचक संज्ञा में हो जाता है, तब त्रिलोचन एक व्यक्ति विशेष का बोधक न होकर समग्र कवि समाज या विचारक का व्यंजक हो जाता है। स्वयं अपने पर प्रहार एवं व्यंग्य करके अपने समान अन्य लोगों की पीड़ा को उजागर करने में वे इस तकनीक द्वारा सफल रहे हैं। कुछ और उदाहरण दृष्टव्य हैं—

**''एक विरोधाभास त्रिलोचन है। मैं उसका**
**रंग-ढंग देखता रहा हूँ, बात कुछ नई**
**नहीं मिली है। घोर निराशा में भी मुसका**
**कर बोला, कुछ बात नहीं है अभी तो कई**
**और तमाशे मैं देखूँगा।**
**× × × × ×**
**औरों का दुख दर्द वह नहीं सह पाता है**
**यथाशक्ति जितना बनता है कर जाता है।''[5]**

त्रिलोचन की काव्य भाषा बहुत स्तरीय एवं विविध रूप-रंगों वाली है। उनकी कविता में लोकजीवन में रचे-बसे ठेठ अवधी के शब्द हैं, तो अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्द भी हैं। यहाँ तक कि कई शब्द अप्रचलित, दुर्बोध, सायास, कृत्रिम एवं सामान्य जन के लिए अपरिचित हैं। इन शब्दों के अर्थ शब्दकोश की सहायता से ही जाना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कुछ शब्द दृष्टव्य हैं—'अमृतस्पंदी बोल', 'एनस्वित् है विश्व', 'कपोताभ बादल', 'दौर्वीण झलक जीवन की' एवं 'धूम्राच्छादित मेघ'। ऐसा वैविध्य महाकवि तुलसीदास एवं कविवर निराला की कविताओं में मिलता है।

कविवर त्रिलोचन की कविता में सहज बोधगम्य देशज शब्दों का भी भरपूर प्रयोग किया गया है। उनकी कविता में भावबोध एवं भाषा प्रयोग दोनों में देशीपन एवं माटी की सोंधी गंध विद्यमान है। गाँवों में रिमझिम बारिश एवं धूँधले वातावरण में निरन्तर गिरती जल की बूँदों का बड़ा ही सजीव, ध्वन्यात्मक एवं सहज चित्रण इनकी 'झापस' कविता में मिलता है—

**''आठ पहर की टिप् टिप्**
**सड़क के पत्तों से बूँदें**
**गिरती हैं टप्/टप्**
**हवा सरसराती है**
**चिड़ियाँ समेटे पंख यहाँ वहाँ बैठी है।''[6]**

कविवर त्रिलोचन की काव्य रचना प्रक्रिया एवं काव्य-विवेक के निर्माण में गोस्वामी तुलसीदास एवं सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की रचनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। उनका स्पष्ट कथन है—

**''तुलसी बाबा भाषा मैंने तुमसे सीखी**
**मेरी सहज चेतना में तुम रमे हुए हो''**

यह स्वाभाविक है क्योंकि त्रिलोचन एवं तुलसी दोनों अवधीभाषी हैं और काशी के प्रसिद्ध मुहल्ले 'भदैनी' में बहुत दिनों तक रहे भी हैं। त्रिलोचन की प्रसिद्ध पंक्ति 'गूँज रही है इधर आक्षिज वारिद बानी' में तुलसीदास की प्रसिद्ध पंक्ति की स्पष्ट अनुगूँज सुनायी देती है—'वारिद नाद् जेठ सुत तासू। भटमँह प्रथम लीक जग जासू'।

त्रिलोचन एवं तुलसीदास में भाषा साम्य के साथ-साथ भाव साम्य भी देखने को मिलता है। त्रिलोचन के 'शब्द' संग्रह की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

**''शब्दों के द्वारा जीवित अर्थों की धारा**
**मैंने आज बहा दी है। जिसके दो तट हैं**
**एक भाव का एक रूप का/निकट-निकट हैं**
**चाहे दूर-दूर दिखते हों''**

यहाँ बरबस ही तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—'लोक वेद दोउ मंजुल कूला' एवं 'कहब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि'।

कविवर त्रिलोचन गोस्वामी तुलसीदास की रचनाधर्मिता के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। त्रिलोचन ने बदले हुए परिवेश एवं नीवन युग चेतना के अनुकूल तुलसी की रचनात्मक प्रतिभा का सर्जनात्मक रूपान्तरण किया है। उनका स्पष्ट कहना है कि तुलसी को उनके परिवेश एवं उनके युग संदर्भों में समझना उचित होगा—

**''तुलसी और त्रिलोचन में अंतर जो झलके**
**वे कालांतर के कारण हैं। देश वही है,**
**लेकिन तुलसी ने जब-जब जो बात कही है,**
**उसे समझना होगा संदर्भों में कल के।**
**वह कल कब का बीत चुका है''**[7]

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, विविध स्तरीय भाषा प्रयोग, विपुल शब्द सम्पदा के धनी, लोकजीवन एवं लोक संवेदना से युक्त, परम्परा एवं मौलिकता में सामंजस्य स्थापित करने वाले कवि त्रिलोचन की पहचान को स्थापित होने में काफी समय लगा। बहुत दिनों तक वे ख्यातिप्राप्त समीक्षकों द्वारा उपेक्षित रहे। इसका कारण वे अच्छी तरह जानते थे लेकिन उन्हें आलोचकों की खुशामद करना पसंद नहीं है—

**''अमुक अमुक कवि ने जम कर जलपान कराया,**
**आलोचक दल कीर्तमान में कब थकता है।**
**दूध दुहेगा, जिसने अच्छी तरह चराया।**
**× × × × ×**
**आलोचक है नया, पुरोहित उसे खिलाओ**
**सकल कवि यशः प्रार्थी, देकर मिलो मिलाओ''**[8]

समग्रतः कविवर त्रिलोचन धरती से जुड़े हुए एवं परम्पराबोध तथा आधुनिकता से समन्वित सफल रचनाकार हैं। उनके काव्य में भाव एवं भाषा दोनों के विविध रूप विद्यमान हैं। वे एक तरफ संस्कृतनिष्ठ तत्सम शैली में रचना करने में सिद्धहस्त हैं तो दूसरी तरफ लोक-जीवन में घुले-मिले एवं रचे-बसे शब्दों का सर्जनात्मक प्रयोग करने में भी सक्षम हैं। वे विदेशी भाषा अंग्रेजी, अरबी एवं फारसी से भी सार वान तत्वों को ग्रहण कर अपने काव्य को समृद्ध किया है। 'सानट' जैसे विदेशी छन्द को रोला छन्द एवं देशी लय प्रदान करने में उनको महारथ हासिल है। उनकी कुछ कविताओं में अतिशय गद्यात्मकता का आरोपण है तो बहुत सी कवितायें लयात्मक एवं छन्द योजना की दृष्टि से सफल हैं। उनकी कविताओं में विविध क्षेत्रों एवं बहु अंचलों के रीति रिवाजों, परम्पराओं, मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों एवं समाज प्रचलित प्रथाओं का भी भरपूर प्रयोग मिलता है।

**संदर्भ**


1. त्रिलोचन : 'ताप के ताये हुए दिन' संभावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980, पृ0 30
2. सम्पा0 प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय : संकलित, 'छायावादोत्तर कविता के शिखर', विजय प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, प्र0सं0 2007, पृ0 19
3. वही, पृ0सं0 20
4. सम्पा0 प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय : संकलित, छायावादोत्तर काव्य संग्रह', संजय बुक सेंटर, गोलघर, वाराणसी, सं0 2003, पृ0 43
5. 'ताप के ताये हुए दिन', पृ0 47
6. वही, पृ0 37
7. वही, पृ0 49
8. वही, पृ0 48


◆

# लोकद्वयसाधनपरायणं किल दर्शनशास्त्रम्

*डॉ0 सिद्धिदात्री भारद्वाज* *

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**
**समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-**
**नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**[1]

यद्यपि दर्शनानां प्रमुखम् उद्देश्यं भवति परमः पुरुषार्थ एव, अथापि यः त्रिवर्गः तत्रापि दर्शनस्य उपादेयता तिरोहिता नास्ति। कार्यकारणभावबोधे लौकिकेषु इव पारलौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रविवेकस्य सुतरां प्रतिबिम्बनात् । निदर्शनतया गौतमीयं सूत्रं विमृश्यताम्—''दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः''[2] इति। मोक्षस्य किं स्वरूपं को वा तदर्थः इत्येवमादिका या जिज्ञासा सा स्वरसतः समुदेति समेषां जनानाम्। सामान्यतया विविधैः दुःखैः प्रतिकूलवेदनीयैः पीडिताः भवन्ति जनाः। तां पीडाम् अपाकर्तुम् अथ च सुखम् अनुकूलवेदनीयम् अनुभवितुं विशिष्य प्रेक्षावन्तः यतन्ते। दर्शनशास्त्रव्यतिरिक्ताः यद्यपि बहवः उपायाः लौकिकाः वैदिकाश्च दुःखनिरोधाय सेव्यन्ते जनैः परम् आत्यन्तिकीं ऐकान्तिकीं च दुःखनिवृत्तिं साधयितुं दर्शनशास्त्रप्रोक्ता एव अभ्युपायाः क्षमा भवन्ति नान्याः। अतएव न्यायवैशेषिकदर्शनयोः या दुःखानां तादृशी आत्यन्तिकी ऐकान्तिकी च निवृत्तिः अभावात्मा भवति तदर्थमेव अपवर्गशब्दः प्रयुज्यते। यस्य पर्यायशब्दाः भवन्ति मोक्षः मुक्तिः निःश्रेयसम् इत्यादयः। यदुक्तम्—''तदत्यन्तविमोक्षोपवर्ग इति''।[3] तस्य चास्य अपवर्गस्य केनोपायेन प्रकाशनं मानवजीवने भवतीति जिज्ञासायां सर्वेषां दार्शनिकानां साक्षात्परम्परया वा उपजीव्यभूता श्रुतिरेव जागर्ति। तद्यथा—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति।[4] तत्र च इतिकर्तव्यतानिर्देशिका सूक्तिरियं सर्वैरेव सम्मान्यते धीधनैः श्रद्धालुभिः सुजनैः—

**''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।**
**मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥''**[5]

अथ आत्मनः यद् वास्तविकं स्वरूपं तदेव अनात्मभ्यः पदार्थेभ्यः विविच्य सम्यक्तया यावद् न ज्ञायेत तावत् निःश्रेयसम् अपवर्गो वा नैव सम्भाव्येत। यद् उपदिशति वृद्धैरुपासिता परम्परायां विश्रुता भगवती श्रुतिः– ''अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'' इति। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः इति च।

महाकविकालिदासवर्णिता सुदक्षिणा गोसेवाव्रते कठिनेऽपि शास्त्रविहिते लोकपूजिते च कर्मणि पूज्यं प्राणनाथं पतिं दिलीपं राजानं कथमिवानुसरतीति प्रौढ्या प्रतिपादनकुशला काव्यवाक् जयति—''श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छदिति''।[6]

स्मृतिः आत्मस्वरूपनिर्वचनपरां श्रुतिमुपर्युक्तां यथानुगच्छति तथा निपुणं विमृश्यताम्—

**'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥''**[7] इति।

**''अच्छेद्योयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।**
**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥**[8] इति च

**एतदुक्तं भवति** श्रवणादिना तत्त्वज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति तदनन्तरम् अपवर्गः संजाघटीति। तत्र तत्त्वज्ञानं मोक्षस्य साक्षात्कारणं भवति श्रवणादीनि तु सहकारिकारणानि भवन्ति। केषाञ्चिदाचार्याणाम् अभिमतौ योगाङ्गानां शिवस्य शक्त्यादेश्च सहायकत्वम् इष्यते। अत्र कश्चन क्रमः नितराम् एष्टव्यो भवति। श्रुतिवाक्येभ्यः आत्मतत्त्वश्रवणं विधीयते अथ तदर्थविज्ञानमवाप्य साधकबाधकप्रमाणोपेत-युक्त्या साधकः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तम् आत्मानं विजानाति तदिदं मननम् इत्युच्यते। अथ श्रुतार्थस्य युक्त्युपेतस्य दीर्घकालं यावद् यदनुसन्धानं विधीयते तदेवोच्यते निदिध्यासनमिति। अतः श्रवणादीनाम् आत्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य कारणता सुविदिता भवति। यदुक्तम्—''प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन–दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्-निःश्रेयसाधिगमः।''[9]

तच्चैतत् निःश्रेयसं द्विविधं भवति परम् अपरं चेति। अपरं निःश्रेयसं जीवन्मुक्तिरित्युच्यते चेत् परं निःश्रेयसं विदेहमुक्तिरिति। प्राप्ततत्त्वज्ञानस्य साधकस्य क्रमेण सकार्य-मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ प्रारब्धकर्मणः अवशेषः जीवन्मुक्तिरित्युच्यते। जन्मदुःखादीनाम् आत्यन्तिको विलयस्तु विदेहमुक्तिरित्युच्यते, यत्र प्रारब्धकर्मणः अपि कश्चन अवशेषो न भवति। वैशेषिकदर्शनमपि अत्रार्थे स्वसम्मतिं धारयति। तद्यथा ''तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः''।

अस्माकं यद् मानवजीवनं तत्र कार्यकारणभावमादाय यथा ऐहिकं सुखं सम्पाद्यते तद्वत् आमुष्मिकमपि निरतिशयं सुखं समवाप्तुं शास्त्रगुरुवचनयोः श्रद्धां विधाय स्व-दर्शनशास्त्रानुसारम् उपासनाविधिम् अनुसरन् साधकः सर्वविधदुःखानाम् उपशमद्वारा वर्तमानलोकं परलोकञ्च भारतीयसंस्कृतेः प्रभावाद् प्रसाधयति प्रसादयति च। धन्योयं भारतीयः समाजः यत्र अनादिवाचः शास्त्रस्य परमं प्रामाण्यम् अभ्युपेयते अथ तदनुसारिभिः दार्शनिकैः विचारैः लौकिकं जीवनमिव अलौकिकमपि जीवनं कृतार्थीक्रियते।

यथा न्यायवैशेषिकदर्शनयोः पूर्वोत्तरमीमांसयोः आगमिकदर्शनेषु अथ च तार्किकदर्शनेषु पुरुषार्थानां समवाप्तौ निर्दिष्टा नामुपायानाम् उपादेयता वरीवर्ति तद्वत् प्राचीनकालतः समृद्धयोः सांख्ययोगदर्शनयोरपि उपादेयता तत्र तत्र प्रतिपादिता चकास्ति। श्वेताश्वतरोपनिषदि सुस्पष्टतया सांख्ययोगदर्शनयोः निःश्रेयसप्राप्तिं प्रति द्वाररूपिता प्रतिपाद्यते चेत् गर्भोपनिषदि मुक्तिफलम् अवाप्तुं सांख्ययोगयोः अभ्यासस्य अवश्योपासनीयता प्रोक्ता तद्यथा—

**''तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं**
**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।** इति[10]
**''यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।**

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

**अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।।**[11] इति च।

ऋषेः कपिलस्य ज्ञानिता श्रुतौ स्वमुखेनैव गीयते। तद्यथा—

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानश्च पश्येत्' इति।[12] अथ सांख्ययोगशब्दयोः कस्मिन्नर्थे प्रयोगः आचार्यैः क्रियते इति विचार्यते। संख्या नाम प्रकृतिपुरुषयोः सम्यक् विवेकज्ञानम् अथवा तत्त्वानां प्रकृत्यादीनां पञ्चविंशतिः संख्या। तस्याः प्रतिपादकं शास्त्रं सांख्यशास्त्रमित्युच्यते। एवञ्च सम्यक्ख्यानं संख्या। तच्च विवेकज्ञानम् । संख्या एव सांख्यं प्रज्ञादित्वाद् अण्। यथोक्तं 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' इति।[13] व्युत्पत्तिमेनाम् आधारीकृत्य सांख्यशब्दस्यार्थो भवति—ज्ञानं विवेकात्मकम्। तस्य च फलं भोगमोक्षौ। यथोक्तं भारतकृता—

**संख्या राजन् महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम् ।**
**ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप''** इति।[14]

यदेव उद्देश्यं सांख्यशास्त्रस्य तदेव योगस्यापि। पतञ्जलेः सुस्पष्टमभिमतिः यत् चित्तवृत्तीनां विक्षेपात्मनां रोधे सति मनसः उपशान्तिः सञ्जायते। परिणामतः संसारिता लीयते। चित्तवृत्तेः निरोधाय अभ्यास इव वैराग्यमपि नितराम् अपेक्ष्यते। यथोक्तं—''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'' इति।[15] सोऽयमर्थः योगवाशिष्ठे विशदतया प्रतिपादितो राजते। तद्यथा–

**''चित्तं प्राणपरिस्पन्दमाहुरागमभूषणाः।**
**तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः॥**
**मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते।**
**सूर्यलोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा॥**
**शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासयोगतः।**
**अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु॥**
**यथाभिवाञ्छितध्यानाच् चिरमेकतयोदितात् ।**
**एकतत्त्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥**
**इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोऽन्तरम् ।**
**हेयं तद् हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥**
**संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम् ॥ इति**[16]

यथा देवता एव दैवतं प्रज्ञादित्वात् अणि साधुपदं भवति। तद्वत् संख्या एव सांख्यमिति शब्दः व्युत्पद्यते यस्यार्थो भवति सम्यक् दर्शनमिति। तच्च प्रकृतिपुरुषयोर्भेददर्शनम् इत्यर्थं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम् इति वा अर्थं गमयति। अतएव इयं भारतोक्तिः संगच्छते।

**अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।**
**अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।इति**[17]

**एतदुक्तं भवति** संख्या नाम सम्यक् ख्यानम् । तच्च सम्यग्दर्शनं मायावादिदर्शने जीवेश्वरयोरभेददर्शनात्मकं स्वीक्रियते चेत् सांख्यदर्शने प्रकृतिपुरुषयोः भेददर्शनात्मकम् अभ्युपेयते। अयमभ्युपगमः टीकाकृत् सम्मतः। सांख्यतत्त्वकौमुदीटीकायाम् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतिवाक्यघटकद्रष्टव्यपदव्याख्यानं कुर्वाणाः मिश्रमहानुभावाः प्राहुः— 'आत्मा प्रकृतितो विवेक्तव्यः' इति।

एतावता सुस्पष्टं भवति सांख्यदर्शनानुसारं पुरुषस्य आत्मनः अस्मितया विविक्तस्य यत् कैवल्यदर्शनं सम्यक्तया सम्पद्यते तत्फलं मोक्षः कैवल्यपदेन आम्नायते। इति

श्रीमद्भगवद्गीतायां वासुदेवेन बहुधा गीयमानः सांख्यसम्मतो ज्ञानयोगः योगदर्शनापेक्षया श्रेष्ठः इति महाभारतकृता तद्व्याख्याकर्त्रा च सुस्पष्टमुच्यते। तद्यथा—

**''संख्या राजन् महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम् ।**[18]
**ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप॥ इति**

'अत्र ते संशयो मा.. ..' इत्यादि, 'परं योगापेक्षया श्रेष्ठम् । इति च[19]

एवञ्च प्रकृतिप्रभृतीनि चतुर्विंशतितत्त्वानि पुरुषतत्त्वं चेति पञ्चविंशतिसंख्याकानां तत्त्वानां यत् प्रतिपादनं विधीयते तस्मात् एतच्छास्त्रमुच्यते सांख्यमिति।

**अयमाशयः** यदिदं शास्त्रं साख्यं दर्शनं तस्माद् अतिरिक्ते कस्मिंश्चिद्दर्शने संख्यानियमो नावलोक्यते। अतः यावत् तत्त्वसंख्यामधिकृत्य प्रवृत्तस्य दर्शनस्य सांख्यदर्शनमिति नाम संकीर्त्यते। नास्मिन् मते शान्तिपर्ववचनमनुमोद्यते—प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते।। इति[20] भागवतवचनद्वयन्त्वत्र द्वितीये पक्षे नितरामनुकूलतां भजते। तद्यथा –

**'तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् इति**[21]

'तत्त्वानां संख्यानं यस्मिंस्तस्य सांख्यस्य विज्ञप्त्यै विशेषेण ज्ञापनाय' इति च।[22]

**कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।**
**जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ।इति**[23]
**'तत्त्वानां संख्याता गणकः सांख्यशास्त्रप्रवर्तक इत्यर्थ इति च।**[24]

इदं तु नितरां ध्येयं सांख्यदर्शने यावन्ति तत्त्वानि तावन्त्येव योगदर्शनेऽपि अथाऽपि चित्तवृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्य यमनियमादिरूपाणां योगाङ्गानां च प्राधान्यमादाय योगदर्शनस्य पृथक्प्रस्थानता वरीवर्ति। यथोक्तम्—

**''पञ्चविंशतितत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम्।**
**योगे सांख्येपि च तथा विशेषं तत्र मे शृणु॥**
**विषयात् प्रतिसंहारः सांख्यानां विद्धि लक्षणम्।**
**योगैश्वर्यमतिक्रान्तो यो निष्क्रामति मुच्यते॥ इति**[25]

योगदर्शनमेव किल सेश्वरसांख्यमिति स्वीकरणीयम् । सांख्यदर्शनमित्युच्यतां निरीश्वर-सांख्यमिति वा तस्य साक्षात् फलं मोक्षः। स च स्वरूपावाप्तिरूपः। तदेवं योगदर्शनफलं कर्मबन्धनिवृत्ति;। ततश्च योगस्य साधनरूपता सांख्यस्य तु साध्यरूपता आस्थीयते।

अतएव भारतकृता सांख्यस्य सम्यग्दर्शनरूपस्य नित्यं मोक्षफलं प्रतिपाद्यते योगस्य तु कर्मबन्धहानम्। योगस्य ध्यानात्मकं बलं सांख्यं प्रति तदीयसाधनतां सम्पादयति। सुस्पष्टमेतद् यत् ध्यानबलम् अनित्यं मोक्षफलन्तु नित्यमिति। यदुक्तम्—

**''. . . . . योगानां ध्यानमेव परं बलम् ''।**[26]
**'भावनाजं फलं यच्च यच्च स्यात् कर्मणः फलम् ।**
**न तत् स्थास्नि्वति विज्ञेयं पण्यस्त्रीसंगमो यथा॥ इति च**[27]

श्रीमद्भगवद्गीताप्यत्रार्थे आनुकूल्यं भजते। तद्यथा—

**''एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।**
**बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥''इति**[28]

भगवता साध्यसाधनभूतयोः सांख्ययोगदर्शनयोः द्वयोरपि समाश्रयणम् अभिनन्द्यते। तद्यथा—

**''सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।**
**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ इति**[29]

साध्यसाधनयोरुभयोरपि सांख्ययोगयोः वेदप्रोक्तसाधनं प्रति पुरःसरता विद्यते ततश्चोभयोः समाश्रयणं युज्यते। अथापि एकस्यापि आस्थया अन्यस्याक्षिप्तता सिद्धत्येव।

न च कश्चनापि जनः तादृशः यत्र त्रिविधं दुःखं संस्पृष्टं नास्ति परं प्रतिकूलवेदनीयतया जिहासितं भवति। हानं चास्य नाऽसम्भवम् । किन्तु लौकिकेन केनाऽपि उपायेन दुःखस्य ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकं च हानं न भवति। यश्च वैदिकः प्रवृत्तिधर्मात्मा उपायः यागादिः तत्राऽपि यागाङ्गभूता प्राणिहिंसा प्रविष्टा भवति अतः तत्फलं सुखं दुःखकणिकासम्मिश्रं क्षयिष्णु च भवतीति न यागादौ एकान्ततः अत्यन्ततो वा दुःखनिवर्तकता सम्भवति। अतः पार्यन्तिकरूपेण गुरवः निवृत्तिधर्ममूलकम् औपनिषदमेवोपायं ग्राहयन्ति शिष्यान् । अतः सांख्यदार्शनिकाः मन्वते—

''व्यक्तानां महदादीनाम्, अव्यक्तस्य प्रधानस्य, ज्ञस्य पुरुषस्य च यद् विविक्ततया विज्ञानं, तदेव त्रिविधान्यपि दुःखानि व्यपोहितुं शक्नोति नान्यत् ।''

दर्शनभेदेन दुःखनिवृत्तिर्मोक्षः दुःखनिवृत्तिपुरःसरं सुखावाप्तिर्वा मोक्ष इष्यताम् अनाप्तानुक्तवाक्यप्रामाण्यात् आत्मानात्मविवेचनपुरःसरम् आत्मतत्त्वसाक्षात्कारं विना मोक्षावाप्तिः नैव सम्भवति। यथोक्तम्—

**''दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।**
**दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥''**
**दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।**
**तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥**[30]

दर्शनशास्त्राणि यदि मोक्षमपि दातुं शक्तानि तर्हि का कथा यत्किञ्चिद् दुःखान्यपोहितुं यत्किञ्चित् सुखमवाप्तुं वा तदीयोपादेयता-विषये। अतएवोच्यते **न लोकाद् भिद्यते शास्त्रम्** इति।

लौकिकालौकिकसुखोपयोगि वचनजातं दार्शनिकं स्वल्पसंख्याकमत्र संकलितं विधीयते—

1 प्रमाणं स्वतः, प्रमाणं परतः।

2. **आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।**
**तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम् ॥**

3. तत् त्वमसि। अहं ब्रह्मास्मि। प्रज्ञानं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। अतोऽन्यदार्तम्। नेह नानास्ति किञ्चन।

4. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

5. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

6. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

7. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

8. वेदविहितकर्मजन्यो धर्मः।

9. धर्मेण गमनमूर्ध्वम् ।

10. पुरुषबहुत्वं सिद्धम् ।

11. पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।

12. समत्वं योग उच्यते।

13. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

14. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

सांख्ययोगयोः न्यायवैशेषिकयोश्च लौकिकालौकिकार्थसाधकताविषये काचन दृगुन्मीलितास्मिन् लघुनिबन्धे। मन्ये जिज्ञासुजनानामुपकाराय निबन्धोऽयं कल्पेतेति शम् ।

## संदर्भ


1. मुण्डको0 3/1/1
2. न्यायसूत्रम् 1/2
3. तदेव
4. वृहदा0 10-2/4/5
5. द्रष्टव्यम् –पृ0 933 भामतीकल्पतरुपरिमलोपबृंहितम् –ब्रह्मसूत्रम् – 4/1/2 पृ0 933
6. रघुवंशम् द्वितीयसर्गः
7. गीता 2/2
8. तदेव 2/24
9. न्यायसूत्रम् 1/1
10. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/13
11. गर्भोपनिषद् -4
12. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/2
13. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः
14. शान्तिपर्व 301/62
15. पातञ्जलयोगसूत्रम् 1/12
16. योगवासिष्ठम् -उपशमप्रकरणम् –सर्गः 78 श्लोक -15-19, 34, 36
17. शान्तिपर्व 301/101
18. महाभारत, शान्तिपर्व 301/62
19. शान्तिपर्व नीलकण्ठी 301/101
20. शान्तिपर्व 607/45
21. श्रीमद्भागवतम् 3/24/10
22. तदेव, श्रीधरी टीका
23. तदेव 3/25/1
24. तदेव, श्रीधरी टीका
25. सारस्वतीसुषमा, वर्ष 6, 1951, पृष्ठ 21
26. महाभारत, शान्तिपर्व 306/7
27. तदेव नीलकण्ठी
28. श्रीमद्भगवद्गीता 2/39
29. श्रीमद्भगवद्गीता 5/4
30. सांख्यकारिका (1-2)


◆

# साहित्यशास्त्रे काव्यप्रयोजनम्

*डॉ0 संजय त्रिपाठी* *

साहित्यशास्त्रे विविधाचार्याः काव्यप्रयोजनं सोद्दश्यं वर्णयन्तिस्म। यतो हि काव्यप्रयोजनम् आलङ्कारिकाणाम् अतीव महत्वपूर्णो विषयो वर्तते। अतएव ''प्रयोजनमनुद्दिश्य, न मन्दोऽपि प्रवर्तते'' इति वाक्यानुसारेण प्रयोजनज्ञानपुरस्सरमेव बुद्धिमतां कार्यसम्पादने प्रवृत्तिर्भवति। सर्वप्रथम् प्राचीन आचार्यः भरतमुनिः स्वग्रन्थे नाट्यशास्त्रे काव्यप्रयोजनानि निरूपयति। यथोक्तं च—

**उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।**
**हितोपदेशजननं धृति-क्रीडासुखादिकृत्।।**
**दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।**
**विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।**
**धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।**
**लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।**[1]

एवं प्रकारेण नाट्याचार्य-भरतमुनिनिर्दिष्ट-काव्यप्रयोजनानां आलोक एव उत्तरकालिका आचार्याः काव्यप्रयोजानानम् निरूपणमकार्षुः। तं सरणिम् अधिकृत्य वामनभामहकुन्तकादीदय आचार्याः स्वानुभूतकाव्यप्रयोजनानि स्वस्वग्रन्थेषु प्रतिपादयन्ति।

आचार्यवामनेन अभिहितम् यथा-

**प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।**
**अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनम्।।**
**कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसार विपश्चितः।**
**अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।**
**तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च व्यपोहितुम्।**
**काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।।**[2]
**आचार्यभामहस्य काव्यप्रयोजनं निरुपयन्नाह-**
**धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।**
**करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।**[3]

वक्रोक्तिजीवितकारेण कुन्तकेन अपि काव्यप्रयोजननिरुपणप्रसङ्गे उक्तम्—

**धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।**
**काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।**
**व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः।**
**सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।**
**चतुर्वर्गफलस्वादमायतिक्रम्य तद्विदाम्।**
**काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।**[4]

प्राचीनकाव्यप्रयोजनसरिणीम् अनुसृत्य शारदावतारो मम्मटाचार्यः स्वग्रन्थे काव्यप्रकाशे काव्यस्य षट् प्रयोजनानि प्रतिपादयन् येषु त्रीणि कविगतानि पुनः त्रीणि च सहृदयगतानि निर्दिदेश। तथा च—

**काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।**
**सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।**[5]
**अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।**
**यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।**

इति अग्निपुराणीयं वचनमनुसृत्य वयं वक्तुं शक्नुमो यत् कविः काव्यसंसारस्य प्रजापति निर्माताऽथवा स्रष्टा भवति स स्वतन्त्रतया काव्यं सृजति। कश्चित् कविः शृङ्गाररसं प्राधान्येन वर्णयति, अपरश्च वीरादिरसमङ्गितया स्वीकरोति चित्रयति च। कवौ तावत् कारयित्री प्रतिभा सहृदयभावके च भावयित्री प्रतिभा भवतः। यथैव कविः कर्त्ता भवति तथैव भावकः काव्यगुणदोष विशेषज्ञश्च जायते। सम्प्रति क्रमशः षट् प्रयोजनानि विविच्यन्ते। मूलकारिकायां क्रियापदं नास्ति। अतः 'भवति' इति क्रियाध्याहारः प्रत्येकं प्रयोजनेन सह युज्यते।

**1- काव्यं यशसे ( भवति )** एतेन ग्रन्थकारः प्रथमं प्रयोजनं कविगतं निर्दिशति। कविः काव्यं कृत्वा यशो लभते। कविः काव्यकलेवरेण सदा जीवति। अत उक्तम्—

**आसेदुषामपि दिवं कविपुङ्गवानाम्,**
**तिष्ठयखण्डमिह काव्यमयं शरीरम्।।**

यथा कालिदासदण्डिभारविबाणभट्टगोवर्धनादयः कवयः काव्यं कृत्वा भृशं यशः प्रापुः। आधुनिका अपि बहवः कीर्तिलाभाय काव्यं कुर्वन्ति।

**2- काव्यमर्थकृते ( भवति )** तेन काव्यप्रकाशकारोऽपरं प्रयोजनं निर्दिशति। काव्यं विरचय्य कविः धनं लभते धनं जीवननिर्वाहाय नितान्तमावश्यकं भवति। स्वटीकायां वामनः-''अर्थकृते-धनकरणाय'' इत्याह। अत्र मम्मटाचार्यः स्वग्रन्थवृत्तौ प्राह-श्री हर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'' इति। इदमनुसृत्य वामनष्टीकायां लिखति यत्—''धावक नामा कविः श्रीहर्षनृपनाम्ना रत्नावलीनाम्नीं नाटिकां कृत्वा प्रभूतं धनं लब्धवान्'' इति प्रसिद्धिः। तत्र वृद्धैरुपाख्यते यत्=धावकनामा कश्चित् पण्डितः प्राक् परमदरिद्रः चिन्तामणिनामकमहामन्त्रविशेषोपासनाप्रसादेन विचित्रविद्याशाल्यपि निर्धनत्वेन बहु क्लिश्यमानः सन् नैषधीयचरिताख्यं शतसर्गात्मकं विचित्रं महाकाव्यं विरचय्य गुणज्ञशिरोमणिं श्रीहर्षनामानं राजानं प्रदर्श्य तेनातितुष्टात् ततः प्रतिवर्ष शतसहस्रात्मकरूप्यमुद्रोत्पत्ति-योग्यां भूमिं प्रतिगृह्य तत्काव्ये प्रतिसर्गान्तिमश्लोके तत् पित्रोर्नामाभ्यां सहितं तत्कर्तृत्वेन तन्नाम ग्रथितवान्-इत्यच्युत-रायसाहित्यसारटीकायामुक्तम्। भोजराजादपि बहवः कवयः पारितोषिकरूपेण धनं लब्धवन्त इति बल्लालसेनकृते ''भोजप्रबन्ध'' इति नामके ग्रन्थे दृश्यते। तत्र भोजराजस्य कविप्रियत्वाद् दानशीलता सुवर्णिता। तस्य राज्ये सर्वे निर्धनाः कवयो धनिनो बभुवुः।

**3. काव्यं व्यवहारविदे ( भवति )** एतेन आचार्यः तृतीयं प्रयोजनं निरूपयति सहृदयभावकगतम्। सहृदयो व्यवहारपरिज्ञानाय काव्यं सङ्गति। आचार्यमम्मटः स्ववृत्तिभागे लिखति-''राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्'' इति। आदिपदेन सचिवगुरुमुन्यादौ च गतो य उचित आचारः पृथ्वीपालनादिरूपो व्यवहारस्तत्परिज्ञानम्। पुराणे बालिवधादावनुचितप्रकारेणाचारनिबन्धनात्,

* साहित्याध्यापक, श्री रणवीर संस्कृत विद्यालय, कमच्छा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

महावीरचरितादौ च तस्यैवौचित्येन निबन्धनादिति भावः। काव्ये सर्वेषां नायकादिपात्राणां चित्रणं भवति। काव्याध्ययनेन सर्वेषां पात्राणां व्यवहारपरिज्ञानं जायते। व्यवहार एव संसारस्य नियतिनियामको भवति। अत एवोक्तम्- 'व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा'' इति।

**4. काव्यं शिवेतरक्षतये ( भवति )** एतेन ग्रन्थकारः चतुर्थं प्रयोजनं प्रतिपादयति कविः स्तोत्रं विलिख्य स्वेष्टदेवतां प्रसादयति। देवताप्रसादात् कष्टनिवारणं प्रसिध्यति। एकदा पतिव्रतया बाणपत्न्याऽभिशप्तो मयूरनामा कविः असाध्यकुष्ठरोगग्रसितो भूत्वा भगवन्तं सूर्यं प्रसादयितुं ''सूर्यशतकम्'' रचितवान्। पश्चाद् बाणोऽपि स्वप्रतिस्पर्द्धिना कविना मयूरेण शापितो भूत्वा ''चण्डीशतकम्'' विरचय्य चण्डीम् प्रससाद। यथा मयूरकविः अनर्थनिवारणं चक्रे देवतां प्रसाद्य तथा बाणभट्टोऽपि। सुरभाषासाहित्ये कविकृतं विशालं स्तोत्रसाहित्यं विद्यते। तत्र भावानां प्राधान्यात् भावकाव्यसंज्ञा सुप्रसिद्धा।

**5. काव्यं सद्यः परनिर्वृतये ( भवति )** एतेन आचार्यः पञ्चमं प्रयोजनं सहृदयगतं समुपपादयति। सहृदयः काव्यपङ्क्तिश्रवणसमकालमेव कञ्चन अनिर्वचनीयं रसानन्दमनुभवति। अत्र वृत्तौ ग्रन्थकृदाह- ''सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्'' इति। सहृदयो भावकः सद्यः झटित्येव काव्यश्रवणानन्तरमेव मोक्षकालिकं ब्रह्मानन्दमिवालौकिकररसोद्भूतमानन्दं लभते। रस्यते, आस्वाद्यते इति व्युत्पत्त्या रसपदं रत्यादिस्थायिभावपरम्। तथा च रसस्य स्थायिभावस्यास्वादेन विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोजनेन समुद्भूतं निष्पन्नमित्यर्थः। अनयैव धियाऽऽधुनिककाले काव्यं सर्वेषां कृते मनोरञ्जनस्य साधनम् उच्यते। आनन्दलाभायैव विद्वांसो ललितकलासु श्रेष्ठं काव्यं मन्यन्ते।

**6. काव्यं कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ( भवति )** एतेन आचार्यः षष्ठं प्रयोजनं सहृदयगत उपदिशति। कान्तासम्मितं वाक्यं काव्यं भवति। अत्र काव्यशास्त्रे त्रिविधं वाक्यं प्रसिद्धम्। यथा- (1) प्रभुसम्मितं वाक्यम्। (2) सुहृत्सम्मितं वाक्यम् (3) कान्तासम्मितं वाक्यञ्च। वेदादिशास्त्रमूलकं प्रभुसम्मितं वाक्यं भवति। यथा-सत्यं वद, धर्मञ्चर इत्यादि। इतिहासपुराणादिमूलकं सुहृत्सम्मितं वाक्यम्। यथा ''एवं कृते एवं भवति'' इति वस्तुतत्त्वमात्रं बोधयति। यथा कान्ता (प्रिया) गुरुमित्रादिमध्ये वर्तमानं कान्तमितरजनवैलक्षण्येन कटाक्षभुजक्षेपादिना सरसतामापाद्य स्वाभिमुखीकृत्य स्वस्मिन् प्रवर्तयति। एवं काव्यमपि सुकुमारमतीन् सुखिस्वभावान् नीतिशास्त्रपराङ्मुखान् राजकुमारादीन् ललितपदकदम्बोपदर्शितशृङ्गारादिरसेन मधुरपानादिनां कटुकषायौषधपानपराङ्मुखान् बालकानिव सदुपदेशस्वरूपस्वार्थे प्रवर्तयतीति भाव। काव्योपदेशः खलु सरलतरः सरसतरो मधुरतरश्च जायते। अत्र वेदादिशास्त्रणामादेशः कङ्कोरतमो भवति। साधारणजनाः किल सारल्यसारस्य माधुर्यप्रियाश्च भवन्ति। तेषामेष नियतस्वभावो भवति। अतः उक्तम्—

**स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते।**
**प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥**

दृश्यताम्-आचार्यवर्यः प्रयोजनम् इदं विवेचयन् वृत्तौ प्राह- ''प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादि शास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत् पुराणादीतिहासेभ्यसश्च शब्दार्थयोगुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य ''रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्युपदेशञ्च यथायोगं कवेः सहृदयस्य करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्। यथायोगमिति व्याचक्षाणो वामनाचार्य कथयति-''यशोऽर्थावनर्थनिवृत्तिश्च कवेरेव। व्यवहारज्ञानोपदेशयोगौ सहृदयस्यैव; कवेस्तयोःसिद्धत्वात्। परनिर्वृतिरेव सहृदयस्यैव रसास्वादनकाले कवेरपि सहृदयान्तः पातित्वात्''। तदुक्तं प्रदीपे-''काव्यास्वादनकाले कवेरपि सहृदयान्तः-पातितया रसास्वादः'' इति। एवं प्रकारेण आचार्य पीयूषवर्ष जयदेवः स्वग्रन्थे चन्द्रालोकेऽपि अर्थप्राप्तिः, कान्तासम्मितोपदेशप्राप्तिः, यशः प्राप्तिश्चेति प्रयोजनत्रयं श्लोकद्वयेन प्रतिपादितम् यथोक्तम्—

**हं हो चिन्मयसचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्**
**रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्प्रकाशीभव।**

उल्लासाय विचारवीचिनिचयालङ्कारवारांनिधे—

**श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती॥**
**युक्त्यास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः साहित्यसारस्वत।**
**क्षीराम्भोधिरगाधतामुपदधत्सेव्यः समाश्रीयताम्॥**
**श्रीरस्मादुपदेशकोशलमयं पीयूषमास्माज्जग-**
**ज्जग्रद्भासुरपद्मकेशरयशः शीतांशुरस्माद्बुधा॥**[6]

आचार्यविश्वनाथेनापि स्वग्रन्थे साहित्यदर्पणे काव्यप्रयोजनं प्रतिपादितम्—

**चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।**
**काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥''**[7]

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि काव्यतः ''रामादिवत्प्रवर्त्तितव्यं न रावणादिवत्'' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव। एतेन काव्यस्य महत्वं साधयता विश्वनाथेन लिखितम्—

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामपि जायते, परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव''। तेन पुनः 'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्'' इत्याग्निपुराणीयं वचनमुद्धृतम्। अतः परं विष्णुपुराणीयं पद्यमिदम् उद्धृतम्—

**काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च।**
**शब्दमूर्तिधरस्यैतद्वपु विष्णो महात्मनः॥**[8]

इत्थं नैकैः प्रमाणैः विश्वनाथः काव्यस्य श्रेयस्त्वं प्रेयस्त्वञ्च साहित्यदर्पणे सरलभाषया साधु साधयतीति।

**सन्दर्भ ग्रन्थसूची**


1. नाट्यशास्त्रम् (मधुसूदनी) 1/13-115
2. काव्यालङ्कारसूत्राणि 1/1/5
3. काव्यालङ्कारसूत्राणि 1/4
4. वक्रोक्तिजीवितम् 1/3-5
5. काव्यप्रकाशः 1/2
6. चन्द्रालोकः 1/2-3
7. साहित्यदर्पणम् 1/2
8. श्रीविष्णुपुराण 1/22/85


◆

# DRAMATIC TECHNIQUE IN POILE SENGUPTA'S TWIN PLAYS *ALIPHA* AND *THUS SPAKE SHOORPANAKHA, SO SAID SHAKUNI*

***ANINDITA GANGULY* AND PROF. J. S. JHA*****

In her sequel plays *Alipha* and *Thus Spake Shoorpanakha*, *So Said Shakuni,* Poile Sengupta employs a unique dramatic technique with a touch of the Brechtian model of epic theatre to illustrate the subtle theme of relationship between man and woman, the proximities and the nuances often pushed into the dark threshold of oblivion, their individual and mutual struggles and their tales of injustice and grievances. In these plays Sengupta experiments with different techniques, drawing upon her years of theatrical experience.

To begin with, Sengupta has centered both the plays around two characters, a MAN and a WOMAN, and what follows is a conversation between them in *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni* and confessions of each to the audience or the absent character in *Alipha*. Nevertheless, though there are secondary characters in each play, they are sidestepped into the background or the paraphernalia of the plays, and the theme and action revolve around the man and woman alone who open up themselves, their thoughts and their grudges.

The two characters are not named anywhere in the plays and are regarded as the MAN and the WOMAN, opening up a vista of interpretations to this aspect of Sengupta's plays. The man and woman dichotomy in these plays is a sure and subtle reflection of the greater symbiotic roles they play in the society. In this context, it would be appropriate to talk of the concept of the *ardhanarishwara*, a composite androgynous form of the Hindu God Shiva and his consort Parvati. This is depicted as half male and half female split down the middle, symbolizing that male and female principles of the universe are inseparable. Both are constantly drawn to each other to embrace and fuse, yet separated adequately by the intervening axis; it also signifies totality that lies beyond duality and the dichotomies of masculine and feminine, father and mother, aloof and active, fearsome and gentle, destructive and constructive, unifying all other dichotomies of the world.

The elaborate and exclusive stage directions at the beginning of these plays is another remarkable aspect of these plays. In *Alipha*, the stage is divided into two acting areas. The woman has a chair, and a desk that holds a few books and some writing materials; there is a rough bedstead upstage. The man has an old-fashioned but expensive armchair, a table to match and a sideboard. It is further said that there must be a contrast between the two areas to indicate that the man comes from a wealthy background and the woman is of humbler origin. Again, in *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni*, the stage is set with two chairs centre stage, which is the acting area. There is downstage left and downstage right as two clearly defined areas, in full view of the audience, each of which holds the props and costumes needed for the action. There is also the provision of a make-up kit and a mirror. The make-up is said to be done on stage as and when the text would call for it, either by a make-up artist or by the actors themselves. There is also the provision of placing chairs behind the acting area to stimulate an airport waiting lounge, but that should not supposedly disturb the two main actors.

In Poile Sengupta's plays, dress code and more precisely costume remains a significant aspect of the stagecraft. In *Alipha* for instance, at the beginning of the play, the WOMAN is to act as a girl, and this is to be expressed through gestures and actions and her conversation being limited to the childish premises of being excited about new school and new frock. As a girl, she is to wear long skirt or salwar kameez; however, the grown up woman is to wear a white sari, marking her gradual transformation from childhood to teenage and eventually to adulthood. Again in *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni*, the MAN and the WOMAN are dressed in contemporary travelling clothes, the WOMAN carries a handbag while the MAN carries a rather heavy briefcase. This specific mention of costumes and props forms a significant part of the plays in discussion in the context of the very strong message that they seem to be propagating.

The title of the plays are marked by the intense

* Resesarch Scholar, Deparment of English, Banaras Hindu University.

** Professor, Department of English, Banaras Hindu University.

consciousness of the playwright to deliver the required conceptualization of the man –woman theme of the plays. *Alipha* , the very title suggests the first letter of the Urdu alphabet, therefore the beginning of the crisis, the personal tragedy of the MAN and that of the WOMAN, torn between the conflicting emotions of passion, friendship, hatred, injustice, tragedy and grief.

In *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni* as well the title goes a step ahead to suggest the significance of the two villains of the two great epics the *Ramayana* and the *Mahabharata*. 'Shoorpanakha' is the Sanskrit word for "sharp long nails", she is the pivotal character of the *Ramayana*, sister of the main antagonist Ravana, the King of Lanka . Even Valmiki comes close to affirm that if there had been no Shoorpanakha or Kaikeyi, then there would have been no story. She is therefore the catalyst in the various chain of events. The other part of the title suggests the character of Shakuni, also known as Subala, the Prince of the Gandhara Kingdom, who was the mastermind behind the Kurukshetra War. The whole manipulation on the part of Shakuni was based on the desire to avenge Gandhara's defeat by Hastinapur years before, and also to avenge the insult Bhishma had made by insisting on his sister Gandhari's marriage to a blind man. The title thus hints at the possible centering of the marginalized phenomenon on stage, bringing Shoorpanakha and Shakuni in a subtle and candid conversation wherein they reveal their true selves, being true to them.

Poile Sengupta uses the method of conversation as an instrument of stagecraft to collaborate the multiple facets of the theme and movement of plot of the two plays. In *Alipha*, the WOMAN talks to the absent character who is called Asma, while the MAN converses with the audience directly. In the other play, the MAN and the WOMAN are engaged in continuous conversation, with the WOMAN making an effort to get into talking initially.

*Alipha* speaks volumes of the tale of tragedy of the WOMAN who has been through dire circumstances, and Sengupta tells this tale through her conversation with Asma. Having lost her parents at a tender age, she was brought up by her aunt, who used to beat her.

The incorporation of myth and legend is a common feature of the two plays. In *Alipha*, there is frequent reference to the epic *Ramayana*.

WOMAN: But Asma … Rama was not a bad man … he was god … he was god … he was killing Ravana because Ravana was a bad man with ten heads and red eyes … What? *(Pause.)* I am not knowing why he had red eyes. I think soap must have went into his eyes. (Sengupta 219)

Again, as the narrative moves further,

WOMAN: …. She looked like a raakshasi … like Ravana's sister Shoorpanakha *(Pause.)*. You keep asking me why I refer so much to Hindu mythology because it's because all these stories are a part of me. My religion gives me a god for every occasion … every mood … every life stage. Your god is pure … formless … a being that cannot be described. How can the sun be god, you ask … or a monkey or an elephant? Aren't you limiting god when you worship him like that? But I think we do it because we feel everything is god … there is nowhere where he is not. All the abundance of life is him ... all the essence of life is also him. My religion shows me the abundance … yours the essence. *(Pause, then laughs.)* I'm becoming so philosophical, isn't it? I don't know why. But dear Asma … as if something is coming close to an end. (Sengupta 260)

The play *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni* has its entire narrative fused into the realms of the epics with the two main characters signifying and symbolizing Shoorpanakha and Shakuni. Both of them in the course of the play reveal their personal conflicts, confiding that they are the forgotten, condemned and hated villains of the two epics. The play not only brings together the two villains, but also brings their tales of suffering and injustice, fusing and inter-weaving them in the context of the present times, yet drawing their essence and existence from the source epics–the *Ramayana* and the *Mahabharata*.

WOMAN : You know what they did to me … the two brothers … they laughed. Laughed at me. They teased me. Mocked me. The older one said, ask my brother … he might want you … the younger one said … "I can't marry without my brother's consent … ask him … They tossed me this way and that, as if … as if I did not deserve any more respect. As if I was a … a broken plaything. (Sengupta 261)

And again, we can hear the MAN symbolizing Shakuni talk,

MAN: I was the only one from my family

who came with my sister. And when I found out … what could I do? I ranted and raved. They piled me with sweets and sweet words … they gave me a magnificent palace … what could I do, damn it? I was in their bloody kingdom … in their hands. (Sengupta 265)

Another remarkable aspect of the plays is that they are steeped in contemporareity. The MAN and THE WOMAN which is common for the two plays have not been named anywhere. The dramatist could have given the characters any common names, but the fact that she steers clear of naming the characters brings into the realm of discussion the phenomenon of anonymity. This perpetrates in the reader or the audience identifying themselves or the people around them with the characters in the text or on stage. Whether it be the innocent little orphan talking childishly with her friend Asma or the MAN talking to the audience, rather confessing all his wrong deeds, or the curious WOMAN waiting at the airport lounge, longing for love all her life who has been treated unjustly, or even the MAN waiting at the same airport lounge who has similarly suffered unjust treatment at the hands of the society.

Revenge is the common chord that binds the characters of the two plays. In *Alipha*, the MAN wants to avenge his father right from the beginning and later his wrath on the postman when the woman who had been pleasing his senses so long dies all of a sudden and he has his revenge by stopping the scholarship of the little girl, and finally violates and kills her. The WOMAN wants to avenge the death of Devi who had been raped, and whipped with a bicycle chain ultimately dying of it. In *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni*, the WOMAN wants to avenge the cruelty that the two brothers had meted to her, they had chopped off her breasts, her ears and her nose and left her bleeding, all this when she had asked only for "… love … Just a little love … for a little while". (Sengupta 262) The MAN wanted revenge against the Kurus and Bhishma in particular, who had got his sister married to a blind man deceitfully.

The parallel stories of the past and the present are deftly interwoven in the plays as the characters stop by to reminisce the injustice done to them at the hands of others, they muse and then confirm their own intention to avenge all wrongs that they have suffered. The MAN and the WOMAN in *Alipha* are seen to be struggling to their present circumstances, the WOMAN confident, that she would be going to the women's group in the city to get support from them, while the MAN after having raped and killed the woman reflects about his next course of action. In *Thus Spake Shoorpanakha, So Said Shakuni*, the WOMAN is pining for true love till the end, and the MAN is intent on taking revenge by exploding the bomb at the airport.

Besides elaborate and exclusive stage directions and the conversational style adopted by Poile Sengupta, the plays exhibit an abundant usage of pauses and silences all through the plays, reminding one of Harold Pinter's pioneering use of this technique in his plays *The Birthday Party* and *The Caretaker* . Pauses and silences may seem awkward, and more so when they feature many times in the play, however this dramatic device ensures that the dramatist has been more just to the play and the characters or actors of the play rather than to the audience. The text assumes a greater importance for such a dramatic technique. In the words of Poile Sengupta herself, "It is possibly here, where language meets the stage at the point of writing, that the playwright also realises that there is a powerful device she/he can use and which is not as efficiently available to the novelist. This is the device of silence. Since theatre is a visual art, the dramatist can replace a word with a look, a movement, with stillness." (Sengupta 2)

It would be appropriate to question whether feminist concern dominates the plays in any way. A careful scrutiny of the plot of the plays would reveal that the dramatic narrative is nowhere dipped in extreme feminism, but it nonetheless projects the message of being wronged, and this is true for the MAN and the WOMAN alike. Poile Sengupta herself clarifies in an interview by Anita Singh, published in *Asian Theatre Journal*, "I find it unacceptable to be categorized as a feminist. I am a writer with the consciousness of a woman; I cannot escape my gender, but it is not my sole identity. My women characters live in a troubled, patriarchal world, but they' re strong and capable of speaking and acting for themselves. But that does not make me a feminist". (Sengupta and Singh 83)

The plays can be however analyzed from the

post modern viewpoint. They exhibit the post modern strategies of mixing high and low cultures, the epics of the old ages with the contemporary phenomenon of terrorism, the fusion of illusionism, romanticism and realism through the devices of inter-textual, paradoxical and fragmented narrative, and the tendency of the plays to transcend and transgress reality to create a self-conscious atmosphere to add a whole new thought to the theatrical ambience. The plays are marked for creating the theatre of "real Art with high seriousness" (Rangacharya 160) wherein the dramatist fuses individual creative talent and the social response leading the audience to question the so far unquestioned aspects of life and society.

**Works Cited**

Rangacharya, Adya. *The Indian Theatre.* New Delhi: National Book Trust, India, 1971. Print.

Sengupta, Poile, and Singh Anita. "An Interview with Poile Sengupta." *Asian Theatre Journal* 29.1 (2012): 78-88. Web.

Sengupta, Poile. "Performance and the Word." *Muse India* (2009): 2. Web.

—. *Women Centre Stage.* New Delhi: Routledge, 2010. Print.

◆

# THE HISTORICAL ERA OF TRIPITAKAS

*BIJAY MEGI* AND PROF. M.R. MEHTA***

The word of the Buddha, which is originally called the Sutra, consists of three aspects, namely: Doctrine (Pariyatti), Practice (Patipatti) and Realization (Pativedha).The Doctrine is preserved in the Scriptures called the Tripitakas.Tripitakas is the sacred book of Buddhism. It is written in an ancient Indian language which is very close to the language that the Buddha himself spoke.Tripitakas is a vast subject and I was very interested to do research on such a subject since a long time. It is not only a vast subject but a subject which many Buddhist followers still have no idea about it. Therefore I am doing Ph.D. programme from the Department of Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, under the supervision of Research Scientist (C) Prof. M.R. Metha. My supervisor guided me to come up this research topic **"A Philosophical Study of "Tripitakas": with Special Reference to Social Morality"**. I have written this article based on my research paper,through my research work, I would like to highlight the social morality and its values in Tripitakas and make it simple and easy to understand for all the common people, and I would also do a thorough philosophical study of all three books of Tripitakas- VinayaPitaks, SuttaPitaks and AbhidhammaPitaks and bring out the social morality and its relevance in the present World.

**History of Buddhism and Tripitakas**

Buddhism is a religion of kindness, humanity and equality. It's religion, philosophy, literature and art is a tremendous storehouse of knowledge. It played a predominant part not only in the evolution of art in India but also in other countries where it had been accepted as a way of life. Buddhist literature in its multifarious forms still constitutes the classes of many countries.

The Buddha or "enlightened one" was born as Siddhartha Gautamato a large clan called the Sakyas in Kapilvastu in the 6th century BC. When he was 29 years old, he left his kingdom and went to several well known teachers to study the ultimate source of reality. But their teaching did not satisfy him and he set out to find his own path. Six years later he went to Bodhgaya and a great understanding came to him. He understands the meaning of existence, of why we are here on this Earth and what has created us. At long last he found the truth and attained enlightenment. After attaining enlightenment at Bodhgaya, Buddha went to Sarnath (IsipatanaMrigadava) and it was here that he preached his first discourse in the deer park to set in motion the 'Wheel of the Dharma'. The sermon Buddha gave to the five monks was his first sermon, called the "DhammacakkappavattanaSutta", is recorded in the Samyutta- Nikaya V: 420, one of the collections of the SuttaPitaka, the largest of the " the three baskets" of early Buddhist texts.Buddha gave sermon to Kings as well as to the common people. Whatever he preached to the people, he always practiced himself first. The order of monks or disciples grew and soon Buddha sent out 60 of them in different direction to spread the teaching. Buddha delivered his last sermon in Kushinagar under a Sal trees. Then he passed into a state which is called "Mahapari-nirvana" at the age of eighty. When Buddha left this world, there was no written account of his preaching.

After Buddha's Mahaparinirvana, his disciples were very upset but one of the old disciples of Buddha named Subhadra asked them not to remorse. Instead, they should be happy that now they can do whatever they want. Mahakashyap came to know what the disciples are thinking. He thought of compiling all the preaching or sermons of Buddha so that in future, they could make use of them for the betterment of the World. He also called all the Buddhist scholars for a conference.

The Buddhist Council

**The First Buddhist Council[1]**

The first Buddhist council convoked in Rajgir soon after the Mahaparinibbna or demise of the Buddha (483 B.C.), with the support of King Ajatashatru in the Cave of the Seven Leaves near Rajagriha in Magadha, India. About five hundred monks participated under the leadership of Mahakashyapa. It is said that Ananda recited the sutras and Upali recited the *vinaya,* or monastic rules of discipline.

Objective was to preserve the Buddha's saying (Suttas) and monistic rules (Vinaya)

**The Second Buddhist Council[2]**

The Second Buddhist Council was held about one hundred years after the first council, when seven hundred monks led by Yasa gathered in Vaishali, India. Under the presidentship of Rawath (Sabakami) convened by King Kalasoka.

Objective was to settle a debate on certain practices of Buddhist monks spicily in western India.

* Research Scholar of Department of Philosophy and Religion, BHU, Varanasi.

** Professor of Department of Philosophy and Religion, BHU, Varanasi.

### The Third Buddhist Council[3]

The Third Buddhist Council was held with the support of King Ashoka (267-232 B.C.), at Pataliputra in India about one hundred years after the second council. One thousand monks under MoggaliputtaTissa assembled to clear up confusion and correct misinterpretations in the Buddha's teachings. It is said that at this assembly the *abhidharma*works, or commentaries and treatises, were compiled and incorporated into one of the three divisions of the Buddhist canon.

Objective was to purify the Buddhist movement from opportunistic factions. Origin of Theravada school.

The Fourth Buddhist Council

The Fourth Buddhist Council was held in Kashmir, under the patronage of King Kanishka about two hundred years after the third council. Five hundred monks led by Vasumitra revised the canon and established a definitive version.*The Great Commentary on the Abhidharma*is attributed to this council.Accounts of these Buddhist Councils in Northern Buddhism differ slightly from those in Southern Buddhism.

Objective was to translate Tripitakas texts from Prakrit to Sanskrit.

Following these councils the Buddha's teachings were divided into three categories or "Baskets" (Pitakas): Discipline, discourses and higher knowledge. The Tripitakas that was formatted at this meeting is the same canon used by Buddhists today.

The three section of Tripitaka and Three Higher Trainingsare

### The Vinaya teaches the Higher Training of Discipline[4]

The VinayaPitaka, the first division of the Tripitaka is the textual framework upon which the Monastic community (Sangha) is built. It is made up of rules of discipline laid down who have been admitted into the order as bhikkhus (Monk) and bhikkhunies (Nuns). These rules embody authoritative injunctions of the Buddha on modes of conduct and restraints on both physical and verbal actions. They deal with transgressions of discipline, and with various categories of restraints and admonitions in accordance with the nature of offence. It was compiled by a monk Upali at the first Buddhist Council. The texts of the VinayaPitaka have been classified as:

1. Parajika(Major Offences)
2. Pacittiya(Minor Offences)
3. Mahavagga(Greater Section)
4. Cullavagga(Smaller Section) and
5. Parivara(Epitome of the Vinaya)

### The Sutras teach the Higher Training of Meditation[5]

The SuttaPitaka the second division of the Tipitaka, consists of more than ten thousand (10,000) suttas (discourses) delivered by the Buddha and his close disciples during and shortly after the Buddha's fouty five years teaching career. Some of his distinguished disciples like Sariputta, MahaMoggalana, Ananda etc, as well as some narratives are also included in the books of the SuttaPitaka. Although the discourses were mostly intended for the benefit of bhikkhus and deal with the practice of the pure life and with the explanation of the teaching, there are also several other discourses which deal with the material and moral progress of the lay disciple. The SuttaPitaka is divided into five separate collections known as Nikayas:

1. DighaNikaya (Collection of Long Discourses)
2. MajjhimaNikaya (Collection of Middle-length Discourses)
3. SamyuttaNikaya (Collection of Kindred Sayings)
4. AnguttaraNikaya (Collection of Discourses arranged in accordance with number) and
5. KhuddakaNikaya (Smaller Collection)

The Abhidharma teaches the Higher Training of Wisdom[6]TheAbhidhammaPitaka, the third division of the Tipitaka, offers an extraordinarily detailed analysis of the basic natural Principles that govern mental and physical processes. Whereas the Sutta and VinayaPitakas lay out the practical aspects of the Buddhist path to Awakening, the AbhidhammaPitaka provides a theoretical framework to explain the causal underpinning of that very path. It is huge collection of systematically arranged tabulated the quintessence of this teaching. Abhidhamma means higher teaching or special teaching it is unique in its analytical one's liberation. The AbhidhammaPitaka is made up of seven massive treatises:

1. Dhamma-Sangani (Enumeration of Phenomena)
2. Vibhanga (The Book of the Treatises)
3. Katha Vatthu (Point of Controversy)
4. PuggalaPannatti (Description of Individuals)
5. Dhatu Katha (Discussion with reference to Elements)
6. Yamaka(The Book of Pairs) and
7. Patthana (The Book of Relations)

We can study Tripitakas not only from religious perspective but it also serves as a source of Buddhist literature.Once there was a time in India when Buddhist followers were huge in number. Buddhism reached at its apex during the rule of the Kushanas and Guptas. Then it

was spread to South-East Asia countries like Sri Lanka, Burma, Korea, Japan as well as Tibet and China. Nalanda, Vickramasila, Odantapuri, Somapura, Jagaddala and Vallabhi became the centre of Buddhist studies and many foreign travellers visited India to study Buddhism. But with the invasion of Muslims, Buddhism slowly disappeared from India.

The **Tibetan Buddhist canon** is a loosely defined list of sacred texts recognized by various sects of Tibetan Buddhism. In addition to sutrayana texts from Early Buddhist (mostly Sarvastivada) and Mahayana sources, the Tibetan canon includes tantric texts. The Tibetan Canon underwent a final compilation in the 14th century by ButonRinchen Drub (1290–1364).

The Tibetans did not have a formally arranged Mahayana canon and so devised their own scheme which divided texts into two broad categories:

**Kangyur** is "Translated Words", consists of works supposed to have been said by the Buddha himself. All texts presumably have a Sanskrit original, although in many cases the Tibetan text was translated from Chinese or other languages.

**Tengyur** is "Translated Treatises", is the section to which were assigned commentaries, treatises and abhidharma works (both Mahayana and non-Mahayana). The Tengyur contains 3626 texts in 224 Volumes.

As time passed, Tripitaks was translated into different languages like Chinese, Tibetan, Sri Lankan, Burmese etc. In the 18$^{th}$ Century, Buddhism and Tripitakas became the center of studies for many European countries. It was also available at Cambridge University. W. Max Muller has translated many Pali scripts into English with the title "Sacred Book of the East" or "Sacred Book of the Buddhism" which was published from Oxford University in 1881.

Today Buddhist Philosophy, Buddhist literature and texts are taught and studied in different Indian Universities and Buddhist Study Centers. It is all because of the tremendous contribution by Buddhist scholars like Ashwaghosa, Buddhaghosa, Rahul Sanskritayan, Dr. B.R. Ambedkar, and Prof. JagarnadUpadhaya etc. The different sect of Tripitakas are taught in different Universities of the India, but to study complete Tripitakas at one go is hardly possible. Tripitakas in itself is a vast topic for research. A thorough study of Tripitakas would be an interesting topic for research as well as of great help for the Buddhist followers who are laymen and it would be easy to understand as well. This is reckoned to be primary or elementary for higher education in Buddhism.

In short, The Tripitakas is an extensive body of canonical ancient Indian language in which are enshrined the Teachings of Buddha expounded for forty five years from the time of his enlightenment to his Mahaparinibbana. "Tripitakas' is the sacred book of Buddhism. If we properly study and understand about Tripatakas, it brings out the social morality and its relevance in the present World.

**References**


1. Chandra B. Varma, Compendium of Buddhist literature- Buddhist World Press, Ashok Vihar,Phase-IV Delhi 2011. [1] P. 32.
2. Chandra B. Varma, Compendium of Buddhist literature- Buddhist World Press, Ashok Vihar,Phase-IV Delhi 2011. [2] P. 35.
3. Chandra B. Varma, Compendium of Buddhist literature- Buddhist World Press, Ashok Vihar,Phase-IV Delhi 2011. [3] P. 36.
4. V KO Lay, Guide to Tipitaka- Gautam Printers, New Delhi. 2010. [4] P. 4.
5. V KO Lay, Guide to Tipitaka- Gautam Printers, New Delhi. 2010. [5] P. 23.
6. V KO Lay, Guide to Tipitaka- Gautam Printers, New Delhi. 2010. [6] P. 193.

Reverend Jan Hai, A Pictorial Biography of Sakyamuni Buddha (CE001)- China/Taiwan, The Corporate Body of the Buddha Education, Taiwan. 1997.

MadhukarPiplaya, TripitakParichay (ISBN 81-88794-43-0)- Gautam Prints New Delhi. 2004.


◆

# KAUTILYA'S CONCEPT OF TRADE–ADMINISTRATION IN ANCIENT INDIA

***DR. VINAY KUMAR****

Trade and commerce is an important aspect of urban economy is evidenced from 'Harappan' economy, through various archaeological sources. But the reference for trade and commerce in historic period comes from both literary and archaeological sources. Literary sources may include 'Buddhist' and 'Jaina' literature, the '*Milindapanho*', the works of *Aśvaghosha*, the *Kāmasutra*, the *Rāmāyana*, the *Jātakas*, Panini's *Ashtadhyāyi*, Kautilya's *Arthashāstra etc*[1]. These literary evidences can be elaborated by the various epigraphical and archaeological sources. The material relics discovered from the various archaeological sites of Northern India in the shape of pottery, iron objects and figurines, metals, coins, stone, ivory, glass objects plaques and sculptural pieces depicting costume, coiffeur and ornaments, copper gold and iron objects etc. attest to the existence of various crafts during this period. Some of the inscriptions also refer to engineers (*navakārmikah*), actors performers, goldsmith, big merchants, *sârthavāha*, cloak markers, *etc*.

Of all the *Arthashâstras*, of ancient India, Kautilya's *Arthashâstra* had become more acceptable and recognizable[2]. It is essentially a treatise on the art of government. It touches upon all the economic patterns in all levels of social stratification. It assumes that monarchy is the formal form of government; hence it is primarily addressed to the king, advising him on how the administration of his kingdom should be carried on and how he should adjust his foreign policy to the best advantage of his state. It mentioned laws in connection to economic activities and for the same punishments for disobeying the laws in respects of internal administration and foreign relations, the comprehensiveness of its treatment is almost unparalleled[3]. Basham argues that 'according to accepted theory a well-stocked treasury was the king's chief source of strength, and no kingdom could function properly without it[4]. There are numerous theories present in ancient texts to give 'justification of the state as an economic, as well as political necessity, since it was required for the purpose of securing peace and order'[5].

It has been argued that the state was over-zealous in the collection of revenue from all possible sources so that wealth so accumulated might be spent on the protection of the state from external and internal danger, and on social services and productive enterprises, such as, building of forts, roads, plantations of colonies, of villages, asylums, orphanages and educational institutions[6]. Writing on the spheres of state activity, Altekar also finds that 'ancient Indians permitted the state a wide sphere of activity, not because they did not value individual liberty, but because they felt that the state could organize them best by reconciling conflicting interests, if its bureaucracy worked in closer co-operation with well-established popular bodies like the trade guilds and village councils[7].

**Trade Laws**

The different literary sources of India show clearly how the socio-economic ideas regulating the relation between the individuals and the state and gradually evolved and firmly established themselves on Indian soil. The king had to do everything for the fairness of justice to all individuals of the state. Hence laws were made in the '*Smṛtis*' and the *Arthashastra* relating trade so as to bring things at fair price to all and to make possible the all round prosperity of the state as an organic whole with special eye to the interest of all classes and their harmonious development.

**State Control**

Kautilya says that "the king shall offer facilities for commerce, construct roads for traffic both by land and water and set up market towns". He enjoins that "the king should endear himself to the people by bringing them in contact with wealth" and as "wealth and wealth alone is important", the kings attention should pay attention to traders who increase national wealth.

**Different Kinds of Tolls**

Kautilya points out the function of the superintendent of tolls and notes that all merchandise must be properly stamped with seal mark and must be exchanged on proper prices and on payment of scheduled tolls at the tollhouse. "Those merchants, who pass beyond the flag of the toll-house without paying the toll, shall be fined eight times the amount of tolls due from them". Kautilya says that each of these categories of merchandise, internal, external and foreign, is liable top the payment of toll alike when exported or imported.

Imported commodities shall pay 1/5$^{th}$ of their value

* Assistant Professor, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi-221005 (U.P.).

as their toll. But the superintendent shall receive 1/6$^{th}$ as toll of flowers, fruits, vegetables, rots, bulbs, seeds dried fish and meat. As regard conch shells, diamonds, precious stones, stones, pearls, corals and necklaces tolls are to be decided by experts acquainted with the time, cost and finish of the production of such articles. He also says that 1/10$^{th}$ to 1/5$^{th}$ of the value is to be paid as "toll of fibrous garments, cotton cloths, silk, oil, armor, sulphur, red arsenic, vermilion, metals, coloring ingredients of sandals, brown sandal, pungent, ferments, dress, wine, ivory, skins, raw materials in making garments, carpets, curtains, product yield by worms and of wool" he adds that "of clothes, quadrupeds, bipeds, threads, cotton, scents, medicines, wood, bamboo, fibres, skins and clay pots, of grains, oil, sugar, salt, liquor, cooked rice and the like", 1/20$^{th}$ to 1/25$^{th}$ of the value must be paid as toll. Besides toll-dues, gate-dues amounting to 1/5$^{th}$ of toll due must be paid of course subject to remission if circumstances necessitate such favor.

A careful scrutiny of the above reveals the fact that the duties are levied not in kind, but in cash of course, after proper valuation by experts and that duties on a diminishing scale are levied on three classes of articles, *i.e.* perishable, valuable and ordinary articles.

Toll dues formed a great part of the revenue of the state and hence Kautilya has strictly prohibited the sake of commodities "where they are grown or manufactured", so that people or merchants may not deprive the government of such dues. Any such cases of sale of articles in the field without payment of scheduled toll-dues were heavily penalized.

The rate of toll dues throws a clear light on the fact that Kautilya is more vigorous than the lawgivers of the canon are. The assessments of the former are made on value of articles, while those of the latter are changed on profit, i.e. difference between cost price and sale-price.

**Laws for Transport of Commodities**

Kautilya has laid down rules for the regulation of trade between distant parts of the country; each connected again with marts and towns. The system of centralization and proper distribution developed in the period of Kautilya who enjoins that the superintendent of commerce "shall ascertain the time suitable for the distribution, centralization and purchase sale of commodities. That merchandise of the king that is of local manufacture shall be centralized and imported ones shall be distributed in several markets for sale. Both kinds of merchandise shall be favorably sold to the people. He shall avoid such large profits as it will harm the people". Commodities of frequent demand shall not be subject to the evils of centralization (*sankuladesha*).

Kautilya says that the *sannidhatri* realizes commercial dues and that he should mark the fluctuations in demand and in prices of local and foreign articles and he should revise the rate of taxation accordingly. He encourages the incoming of foreign goods and enjoins concessions, even remission of taxes to the foreign merchants, so that they may derive some profit. Foreigners importing merchandise shall be exempted from being sued for debts unless they are (local) associations or partners".

Kautilya is very keenly interested in "the sale of the king's merchandise in foreign countries. Having ascertained the value of local produce as compared with that of foreign produce that can be obtained in barter, the superintendent will find out by calculation whether there is any margin left for profit after meeting the payments to the foreign king such as the toll, road cess (*vartāni*), conveyance cess (*ātivāhika*) tax payable at military station (*gulmadeya*), ferry charge (tāradeya), subsistence to the merchants and his follower (*bhakta*) and the portion of merchandise payable to the foreign king (*bhāga*)". He has advised to send the valuable merchandise of the king through safe roads to different markets on land; and through rivers to other countries.

In cases of no profit by selling the local produce in foreign countries, Kautilya thinks of profitable barting for any foreign produce. In case of difficulties to reach the intended market, free from all dues. Kautilya advises commodities to be sent by both land and water to favorable markets.

**Different Types of Officers of the State for Regulating Trade and Industries :**

The *Arthashāstra* is a mine of information about a number of officers engaged by the state for the regulation of trade and industries favoring trade[8]. They are as follows:

1. The superintendent of mine shall centralize commerce in commodities, manufactured from mineral products. Kautilya has prescribed penalty for manufacturers, sellers and buyers of such things outside prescribed locality.
2. The superintendent of ocean mines shall attend to the collection of conch shells, diamonds, precious stones, pearls, and corals and regulate the commerce. The superintendent of salt is also appointed to regulate sale of salt.
3. The examiner of coins (*rūpadarśaka*) shall regulate currency both as a medium of exchange

(*vyavahārikim*) and as legal tender admissible into the treasury (*koṣapraveśyam*).

4. The superintendent of gold is appointed in the goldsmiths' office in the center of a high road for the proper manufacture of gold and silver jewellery by artisans.
5. The superintendent of storehouse (*koṣthgārah*) is appointed by the state to supervise commerce (*krayima*) barter and manufacture of manufacture of rice, oils etc.(*sinihanika*).
6. The superintendent of commerce shall ascertain the question of demand and supply and rise or fall in the price of various kinds of merchandise products, either of land or water and brought in both ways. He must regulate transport and trade of articles, local and foreign. The *paṇyādhyaksha* dealing with women in the course of purchase and sale of various articles is mentioned in *kâmasutra.*
7. The superintendent of forest –produce is appointed to "start productive works in forests" and he is to carry on, either inside or outside the capital city, the manufacture of all kinds of articles. The belur stone pillar inscription of Skandagupta also refers to the royal officer, *Gaulmika*, who was, according to Fleet, the superintendent of forests.
8. The superintendent of weights and measures shall have the different units of weights and measures manufactured. He must get all weights and measures of the country properly stamped and traders must pay one *kâkani* everyday towards the charge of such stamping.
9. The superintendent of tolls functions were mentioned by Kautilya, and notes that all merchandise must be properly stamped with seal mark and must be exchanged on proper prices and on payment of scheduled tolls at the toll house. Kautilya says that each of the three categories of merchandise, internal, external and foreign, is liable to the payment of toll alike when exported or imported.
10. The superintendent of weaving (*sūcrādhyakúa*) is meant for the manufacture of threads, coats, cloths, and ropes by qualified persons.
11. The superintendent of liquor (*chātikahāpaṇa dakśya*) "shall carry on liquor traffic not only in forts and country parts but also in camps. He must centralise or decentralise the sale of liquor according to the requirements.
12. The superintendent of slaughter house is appointed to see that "butchers shall sell fresh and boneless flesh of beasts (*mṛgapashu*) just killed. He must penalise any diminution in weight owing to the use of a false balance and he must allow the sale of rotten flesh and flesh of animals which have suddenly died".
13. The superintendent of ships shall examine the accounts relating to navigation, shall strictly observe the customs prevalent in commercial towns, and shall look to the interests of foreign merchants, as to those of others, for the smooth working of trade by water.
14. The superintendent of passports is engaged to issue passes to persons, to the best of advantage of the country and Kautilya says "it will be his duty to keep roads in good repair and to arrest thieves and to secure the safety of mercantile traffic.
15. The revenue collectors are also appointed to collect taxes, sometimes with the help of "spies under the guise of merchants" who must ascertain the quantity and price of the royal merchandise and manufactured articles, and who must also regulate the sale of foreign merchandise. The Hirahadagaïïi plates of *Śivaskandavarman* of Kanchi mention one of the officials, name the custom house officer.

**State Monopoly**

Kautilya says that "the government shall keep as a state monopoly both mining and commerce in minerals". The creation of these monopolies might have subjected traders to keen competition with the state and naturally narrowed down the scope of private enterprises. State was also another state monopoly. The superintendent of salt shall in time collect both the money rent and the quantity of share of salt due to the government and by the sale of salt he shall realize not only its value but also the premium of 5 % (*vyajim*) both on cash. Adulteration of salt was severely penalized.

It appears from *Arthashâstra* that the state goldsmith had the monopoly of manufacture of gold and silver articles, in the city and in the country part, evidently for protecting the people from the notorious tendency of the artisans to rob and cheat their customers. The *Arthashâstra* also refers to a number of states manufacturing concerns like spinning and weaving factories, factories for the manufacture of oil, clarified butter and sugar workshops for manufacture of forest products and ores from mines.

The state monopoly of coinage is also referred to in Kautilya where the superintendent of the mint is said to have manufactured silver and copper coins (*paòas* and *mâºas*), and as his subordinate officer the examiner of coins is said to have regulated the circulation of coins required for general currency and those suitable for admission into the king's treasury. Kautilya also refers to the proceeds of sale of liquors manufactured by the state. Liquor was of course, not the state monopoly, the private persons in the city being allowed to manufacture liquor, subject to duty of 5 % and to a fee of indemnity and compensation.

**Rules for Regulating Maritime Trade**

Maritime trade of India with the countries overseas was an important source of revenue to the state and hence the state, especially under the Scythians of the West, brought the maritime trade under its subject control.

Shipping was then one of the most important industries left in charge of the state. Kautilya mentions the duties of the superintendent of ships. "Merchants shall pay the customary toll levied in port-towns. Passengers arriving on board the king's ship shall pay the requisite amount of sailing fees (*yātrāvetanam*). The superintendent of ships must strictly observe the customs of commercial towns. Foreign merchants should be encouraged to land in port-towns with all facilities. Whenever a weather-beaten ship arrives at a port-town, he (superintendent of ships) shall show fatherly kindness to it". Vessels carrying on merchandise spoiled by water may either be exempted from toll or may have their toll reduced to half. Ships towering at harbors on their way are requested to pay toll. But ships (*himsrika*) must be destroyed.

Kautilya has spoken of revenue to be paid by people using ships or boats, either royal or private. Royal ships or boats would be hired and private ones were liable to a duty as a return for the services of the superintendent of ships to the people using rivers or lakes or seas.

**Road Cess**

Kautilya says "it shall be the duty of the superintendent of passports to keep roads in good repair, to arrest thieves and to secure the safety of mercantile traffic". He adds that " the king shall not only clear roads of traffic from the molestation of courtiers (*vallabha*), of workmen (*kârmika*), of robbers and of boundary guards, but also keep from being destroyed by herds of cattle". He has advised kings to "construct roads for traffic both by land and water and set up market-towns". He has enumerated different roads concerning the construction of forts. His interest in roads is amply proved by his laws against the blocking of roads, as he has clearly stated the importance of roads to the traffic.

The king, as a maker or repairer of roads is entitled to a road-cess (*vartani*) which "the officer-in-charge of boundaries (*antapāla*) shall receive as a 5/4$^{th}$ *paòa* on each load of merchandise. He shall receive a *paòa* on a single hoofed animal, half a *paṇa* on each head of cattle and a quarter on a minor quadruped. He shall also receive a mâsha on a headload of merchandise." The *antapāla* is evidently the 'warden of the marches' extending protection to caravans at the danger zones of the borders. His duty is not only to realise road-cess but also to "make good whatever has been lost by the merchants in the part of the country under his charge.

**Remission of Tolls**

Kautilya also frames same laws for remission of tolls. He says that "commodities intended for marriages or taken by a bride from her parent's house to her husband's, or intended for presentation, or taken for the purpose of sacrificial performance, confinement of women, worshipping of gods, etc. shall be kept of free of toll". This law indicates that bona fide cases of transfer of commodities from one place to another, where there was no motive of gaining profit, were exempted from taxation. Kautilya adds that all cases of lies and smuggling must be severely prevailed "whatever causes harm or is useless to the country, shall be shut out and whatever is of immense good, as well as seeds not readily available, shall be let free of tolls".

**Licence**

Kautilya introduced the principle of 'no shop without a license'. He says that "license or permission (*niṣṛshṭi*) shall be enjoined either in word or deed; accordingly it is styled verbal order or writ of license". This shows that government issued license, verbal or written, to persons who applied to get permission from the king for collecting grains or other merchandise as middlemen. Kautilya makes a clear statement of the fact that "authorized persons shall alone collect grains and other merchandise. Collection of such things without permission shall be confiscated by the superintendent of commerce". This law checked speculation, competition and hoarding. The state regulated buying and selling with an eye to the good of the people. "Whenever there is an excessive supply of merchandise, the superintendents shall centrallise its sale and prohibit the sale of similar merchandise elsewhere before the centralize supply is

disposed of. Favorably disposed towards the people shall merchants sell their centralized supply for daily wages". This reminds us of the system of control existing in our own days and of the government warehouses for keeping centralized goods under government control and of clearance under state permit.

**Profits and Prices**

The laws of Kautilya provide for the regulation of both the prices and profits of merchants. He says that "the superintendent of commerce shall fix a profit of 5 % over and above the fixed price of local commodities and 10 % on foreign produce". Merchants who enhance the price or realize profit even to the extent of half a paòa more than the above is sale or purchase of commodities shall be punished with a fine. As a matter of principle Kautilya took "traders, artisans, musicians" and others as "thieves in effect though not in name", and said that they must be restrained from oppression on the country. Hence, he has laid down rules strictly for the adoption of all measures of protection against the merchants. The sale of commodities was thoroughly controlled by the superintendent of commerce, who must be always alert to prevent all sorts of deception and all conspiracies on the part of merchants. Any conspiracy to prevent the sale of merchandise or to sell or purchase commodities at higher prices was nipped in the bud by heavy fine of 1000 *paṇas*.

The proper prices and profits were maintained by the strict regulation of Kautilya and there must be no sale except in the markets. Nothing could be sold in the place of its production (*jātibhūmiṣupaṇyātāmavikrayah*). Things must be properly examined, sealed and sent to the market where tolls must be paid before they are sold according to the price fixed by the state. The law of demand and supply in the determination of prices was definitely known. Thus, this system checked the policy of concerning on the part of merchants.

The superintendent of commerce "shall also ascertain the fine suitable for the distribution, centralization and purchase and sale" of commodities. He may allow the peddlers to sell the merchandise of a king at a fixed price in many markets. It is interesting to note that when the price is raised owing to rivalry among buyers, Kautilya says that the "enhanced amount of the price together with the toll shall be paid into the king's treasury", or "the king shall receive twice the amount of toll on it". Kautilya has also laid down laws for the regulation of smuggling by perfecting the smuggled quantity" and by heavy fine by the king.

**Weights and Measures**

Kautilya introduces us to various balances and measures of capacity (*āyamāni, parimāni* and *samavṛtta*). He mentions that "the superintendent of weights and measures shall have the same manufactured" and he" shall charge four *māshas* for stamping weights and measures" of private traders and he must impose a fine of 27.25*panas* for using unstamped weights and measures. All transactions must be made with standardised weights and measures. The superintendent of commerce should also "supervise weights and measures with a view to prevent deception" Kautilya has condoned a very slight difference in weights and measures as 'no offence'; but any difference of such a magnitude an amounting to deception, willfully made as strictly forbidden and penalised.

**Adulteration**

Kautilya recommends punishment for adulteration of grains, oils, alkalis, salts, scents, medicinal articles with similar articles of no quality with a fine of 12 *paòas*. He says, "*adulteration of salt should be punished with the highest amercement*".

**Rescission of Purchase and Sale**

Kautilya provides that "time for rescission of a sale is one night for merchants, three nights for a cultivator, five nights for herdsmen and with regard to the sale or barter of precious things and articles of mixed quantities (*vivṛttivikraye*) seven nights. Next comes the question of 'non-delivery of a thing after it is sold for a price (*vikriyāsampradanam*). Kautilya says, "A merchant, refusing to give his merchandise that he has sold, shall be punished with a fine of 12 *paòas*, unless the merchandise is naturally bad or is dangerous or is intolerable[9].

**Sale without Ownership**

Kautilya says that "the seller, if unable to produce another seller who sold it to him, shall not only pay the value of the property but also be liable to the punishment for theft".

An act of stealing is a crime and to encourage it is no less an offence. One, who takes by force the lost or stolen article from the thief without bringing it to the notice of the king, must be punished with fine. Kautilya is more rigorous on this point and prescribes a period of only fortnights for return of the article to the real owner. Kautilya provides that one who proves one's title to a lost stolen bi ped (a slave), shall pay five *paṇas* towards ransom before taking possession of it. Likewise the ransom for a single-hoofed animal shall be 4 *paṇas*; for a cow or a buffalo, 2 *paṇas* and for minor quadrupeds, 1/4$^{th}$ of a *paṇa*.

**Retail Sale**

Kautilya frames laws for the regulation of retail sale as well. He says "retail dealers, selling the merchandise of others at prices prevailing at particular location and times shall hand over to the wholesale dealers as much of the sale proceeds and profits as is realized by them. If owing to distance in time or place there occurs any fall in the value of the merchandise, the retail dealers shall pay the value and profit at that rate which was obtained when they received the merchandise". This shows the relation between retail and wholesale dealers. There must have been a closer understanding and spirit of cooperation between them. Each of them moved in such a way as not to cause loss to the other. The wholesale dealers distinguished the wares to the retail dealers on a commission or share of profit. The retail dealers never did play the role of the dealer that of the modern days; deriving profit according to the circumstances providing favoring them. They were rather agents or salesmen of wholesale dealers, possibly of many at the same time. The result was that the people procured wares at regulated prices from retail markets.

**Conclusion**

From the study of the various regulations on trade propounded by Kautilya in his *Arthashāstra*, it can be said that it was essentially a treatise on the art of government, which touches upon the entire economic pattern in all levels of the social stratification. His concentration on state monopoly also had an effective impact on the future rules and regulations in terms of trade and commerce. His involvement of a number of officers for the regulation of trade and industries favor trade. Also the promotion of the sale of the king's merchandise in foreign countries proved profitable and increased wealth in the indigenous state.

Thus, it can be concluded that Kautilya's concept of trade regulation which included the different kinds of tolls, laws for transport of commodities, rules for regulating maritime trade, road cess, license, remission of tolls, profits and prices, weights and measures, adulteration and retail sale proved an effective measure in the then economy.

**References**


1. Prasad, P.C. *Foreign Trade and Commerce in Ancient India*. Abhinav Publications, New Delhi. 1977, p.11.
2. Kangle, R.P. *The Kautiliya Arthashâstra*- Part III. Motilal Banarsidas Publishers Pvt. Ltd., Delhi. 1997, p 94.
3. Chakraborty, H. *Trade and Commerce of Ancient India.* Academic Publishers, India. 1966, p. 86.
4. Basham, A.L. *The Wonder That was India*. Rupa & Co., New Delhi, 1954, (26th reprint) 1995, p.112.
5. Aiyangar, K.V Rangaswami. *Aspects of Ancient Indian Economic Thought*. Banaras Hindu University, Varanasi, 1965, pp.48-49.
6. Rao, Krishna M.V. *Studies in Kautilya.* Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, New Delhi, 1979, pp.131-132.
7. Altekar, A.S. *State and Government in Ancient India*. Motilal Banarsidas Publishers Pvt. Ltd, Delhi, 2005, p.60.
8. Nigam, Shayamsunder. *Economic Organization in Ancient India*. Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, New Delhi, 1975, p. 313.
9. Sharma, Ram Sharan. *Aspect of Political Ideas and Institutions in Ancient India*. Motilal Banarsidas Publishers, Pvt. Ltd, Delhi, 2005, p.206.


◆

# MAKING OF MAHAMANA

*DR. SUNITA SINGH* AND PROF. PARMANAND SINGH YADAV ***

Malaviyaji's personality was chiseled out through self-discipline and dedication.He followed all the rules of personal cleanliness and purity of body, mind and soul, as he believed in dualistic composition of Man. His food habit was quite simple and orthodox as he never took meals cooked by other person. Whenever he was on tour cook food by himself. He loved to take part in wrestling sports like Gulli-danda and Kabaddi.

His dressing sense made strong persona and protect his ego from varied social forces impinging on him. He was one of the person who never spoke what he did not practice himself in his daily routine, as he recited Ramayana ,Bhagvata and Gita accordingly advised people to read such epics.His passion was to study religious books. He was habitual to speak Sanskrit language and delivered many lectures on Vedic Sanskars in Sanskrit. Sanskrit was to him the language of supreme excellence, a language without a rival; it was the source of bliss and he claimed it to be his life breath as, he said, it was of the whole Hindu Society.[1]

Malaviya had great regard for Sanatanies, Bhrahmacharies, Sanyasis, Pandits and scholars irrespective of their age. Since he was vice-chancellor of Banaras Hindu University,used to touch the feet of Pt. Anant Ram Shastri, who was the principal of Ranvir Sanskrit Pathshala.[2] Leader had once written about him, "Malaviyaji's life is a sermon of self- sacrifice."[3]It was also inferred in his saying,"May you all get honour by following the path of truth, continence, physical fitness, learning patriotism and self sacrifice."[4]

He was real friend of poor's as discussed by secretary, Pandit Chandrabali Tripathi had said about him, "What have I not seen during the period of my close contact with Malaviyaji? I have witnessed his compassion for the poor and the distressed and watched him trying his utmost to remove their difficulties. I have never seen him in wrath. He was an incarnate of patriotism and was the savior, propagator and supporter of Hindus and Hindu religion."[5]

Malaviyaji's personality was humanist as he had full of compassion for all living creature. He believed that the same spirit dwells in them.. C.Y. Chintamani described him as"Heart and heart from head to feet"[6] Further he was characterized by Gandhi ji as "When I come back to my country to work here, I first went to lokmanya Tilak I found him as lofty as the Himalyas. I thought that it was not possible for me to climb up that unsalable height. I then went to shri Gokhale, he appeared to me like deep ocean. I found it was not possible to me to enter so deep. Lastly I approached to Malaviya ji. He seemed to me as crystallike as the stream and I decided to have ablutions in the sacred stream."[7]

Eminent Scientist Dr. S. S. Bhatnagarin his article "Something of Lord in them"[8].narrated, how inspiring words uttered by a foreign police officer about Malaviyaji when he was asked by Dr. S. K.Dutta what he thought for two great Indian Leaders as for Mahatma Gandhi and Pt. Madan Mohan Malaviya.He replied, it is very difficult to compare great men ; Gandhi ji was of-course Gandhi ji, but the eyes of Pt. Malaviya have something of the lord .[9]

So after analyzing-all above examples and quotes, a query came in the mind of researcher that which factors and circumstances were responsible for makings of Malaviya! After deep review on Mahamana's life literature researcher realize following factors were responsible for shaping of Malaviya's personality.

**EFFECT OF MALAVIYA'S PARENTS AND FAMILY TREE**

According to the Five Factor Theory, the influence of parents on their children is surely incalculable; they nourish, protect, teach them; instills habits, aversions and values and provide some of the earliest models for social interaction and emotional regulation.(McCrae et al., 2000).[10]Birth order has been resurrected as a possible environmental influence for personality[11] (McCrae et al., 2000). The younger sibling tend to be more of an extravert than the oldest sibling,as the younger sibling has to try harder for parental attention because of competition from other siblings. Adler, also focus on the fact that one's life style is dependent upon parental attitude and upbringing. Adler holds the view that the birth order of a child has an influence upon personality. First born remain conservative and the last one would remain a baby all through life regardless of his age.[12]Malaviya was six son on his parents and had five brother and two sister. His **father Pt. Brij Nath** had attractive, harmonious personality and was a'Vyas' having a deep devotion to

* Assistant Professor (EDU) RGSC, Banaras Hindu University.

** FOE, Banaras Hindu University.

Lord Krishna. His father. As physical traits of personality such as height, complexion, colour of eye etc. determined by heredity. Malaviya's physical traits such as fair complexion, athletic muscular body, features etc like his father and mother. His father had many ancient religious books and manuscripts. Madan Mohan got deep knowledge by reading these books. Like his father he was also keen to lead the job of Mahajani.

**Malaviya's mother Moona devi** was a simple religious woman who gave food to family members after Pooja of lord Krishna.Malaviya proudly narrated about his mother Moona Devi, who was always keen to serve and help anyone in distress. Such benevolent behavior was also seen in Madan Mohan's behaviour. She had given a Chhataak *a*nd more of butter and a seer of milk to Malaviya daily since his Childhood.[13]Thus the upbringing of Malaviya by parents is too traditional and simple. Malaviya had been trained by his parents to follow the rules of conduct arranged in the scriptures. He went with his father to visit the temples to offer salutation and Kathavachan, which shaped religious turn of mind in Malaviyaji. As Ram Naresh Tripathi recorded, "He has born testimony to the qualities of his parents".[14]Therefore Malaviya learned the attitude of giving, spirit of accommodation, and self-respect through their parents.

**BIRTH PLACE**

Malaviya was born at Prayag (Allahabad) on 25 December 1861. When Malaviya was born,it was considered as a place where no industries and trades were found. Only pilgrims flocked for Ganga Snan at Sangam throughout the year especially in the month of Magh. After his birth Allahabad became rich known as state capital, High Court, A.G. Office and many English medium educational institutions were established there. It brought revolutionization in the life of citizens. He passed his college from Muir central college. A high court established in 1866, which played an important role in Malaviya's Law career to set up the legal practices.

His social life was begun in 1889, Bharati Bhavan Library was founded by him.[15]Malaviya served as a social worker in his native town as member of Municipal Board from 1900-1916 and did a lot of social work for the welfare of the society.[16] Malaviya's first concrete achievement in the field of education was the establishment of the Hindu Boarding House at Allahabad. Not only social dimension but his religious faith was also founded in Allahabad as Malaviya attended first religious discourse in Kumbh Mela in Prayag at the age of seven.[17] He organized Ardha Kumbh and Kumbha Melas and delivered lectures in various meetings of Sanatan Sabhas here.

Therefore, his birth place Prayag prepared his religious background while Allahabad provided many opportunities to shape the different dimensions of his personality as political, religious, social and educational.

**GADADHAR CHATURVEDI (HIS UNCLE)**

He was immediate senior in age than his father.He was the senior teacher of Sanskrit at Government high school, Mirzapur. In the formative years of his career, he played a vital role in shaping his outlook. Malaviya during his summer vacation frequently visited to him.Through his suggestion,Malaviya continued study of Sanskrit.

**Kundan Devi (His Wife)**

Malaviyaji married in early age in 1881 with Kundan Devi daughter of Pt. Nand Ram of Mirzapur. She read the Bhagavad Gita and had well knowledge of Hindi. She followed all Indian traditional religious codes and conduct in their daily life which influence Malaviya. Malaviya told Tripathi, "She occasionally recited her Hindi verses, some of her own composing."[18] Malaviya had neither passed his degree course nor did job when he got married to Kundan Devi. Thus the economic condition of the family was not too good. Malaviya admired it that she had to remain ill fed and ill clothed but never complained against him and his family. Shiv Ram Pandey, who became intimate with his family. comments, "Verily, is a house hold, with such a housewife worthy of being on abode of God".[19] So no doubt she was devoted fully for her husband and his family.Thus,Malaviya did much of social, political, educational task without any stress due to her dutifulness for the family.

**Hardeo Ji's Pathshala (Childhood Pathshala)**

Malaviyaji went for his Upnayan to Herdeoji'spatashala . Herdeo guru ji was pt. of Mathura, well versed in the Bhagavata and fond of music. He practiced yoga and kept cows. In his pathashala special significance was given to building up physical strength, wrestling, and otherexercises. Malaviya acknowledged his pathshala activities as he told many slokas of Bhagavad Gita and Manu Smriti and other laws of *Shastra* were committed to his memory due to the morning assembly. Malaviya gained knowledge of Sanskrit, orthdox-Sanatan Hinduism through Hardeoji.

Malaviya was put up by one of his teacher, Pt. Devakinand, to deliver a public lecture at the MaghMela of 1869. Thus, Malaviya exponent personality was shaped

by teachers like Hardeoji and Devakinanda. The influence of Sanskrit pathshala was also seen in his landmark institution Banaras Hindu University.

**Muir Central College**

Malaviya's strong elocution power in English was because of this school. Muir central college facilitated educational soundness, manner,style of communication, skill of dealing with others in Malaviya. So the personality of Muir school teachers, rich curriculum, administration, discipline all produce impression on Malaviya. Due to this college a time came in Malaviya student life that English was his most favorite subject and language yet he was oriented to read Sanskrit from his family.

**MALAVIYA'S COLLEAGUES OF SCHOOL AGE AND ACTIVITIES**

During school age , Malaviya was influenced by his cousin Pt. Jai Govind Malaviya, who was a prominent scholar of Sanskrit Grammar. Both of the brothers always discussed for the welfare of Hindu Dharma such as why Hindus did not have many opportunities of knowing about their religion like Muslim and Christian students. Along with him, many school activities like debate, elocution, essay writing, extracurricular activities, etc influenced him.

**Professor Aditya Ram Bhattacharya(Teacher of Muir Central College)**

Next to Malaviya's own parents, if anybody had much influence in molding his character, it was none other than Prof. Aditya Ram Bhattacharya who was the teacher of Muir Central College where Malaviya had studied. Malaviya was not only influenced by his strictly following orthodox way of life but he received an active cooperation from him during the formation of Banaras Hindu University and Pro Vice-chancellorship during the formative years in 1916-18 .Both Malaviya and Aditya Ram Bhattacharya have great belongingness to each other.

**SECOND SESSION OF INDIAN NATIONAL CONGRESS**

It was held at Calcutta in 1886. Malaviya attended this session with his teacher Pt. Aditya Ram Bhattacharya. Malaviya gave a maiden speechwhich marked as turning point of Malaviya life, after that he became known as a young dynamic leader. After this session Raja Rampal Singh of Kalakankar was impressed by Malaviya, and offered him the job of editorship by paying 200 Rs, and forced him to leave the job of teaching. So his careers as journalist, political leader and of advocate were some where linked with this session.

**Raja Ram Pal Singh**

Raja Ram Pal Singh played a vital role in initiating his inherent capabilities. He provided him opportunity of editorship first time in reputed Newspaper Hindustan on good payment and when Malaviya did not agree to do job with him due to his mistake that is in drunken state he spoke some wrong words about Malaviya.Raza Ram Pal Singh agreed to lose him, only in one condition, that Malaviya would take the study of Law. He promised to bear all expenses to fulfill the degree of law which further helped in his political career. Thus Rampalsingh economically helped him. After first experience of editing, the Hindustan paper Malaviya begun the life of stalwart journalist, and edited English daily News Paper, Indian opinion, Abhyudaya and Leader etc. Therefore Raza Ram Pal Singh was like a stepping stone in his career.

**National Movements**

Contemporary background of Indian politics,socio-economic and educational condition of Nation inclined Malaviyaji. Since the charter act of 1813, Curzon 1904 policy, several educational experiments had been tried on indigenous system of Indian education, and so the Indian education system started declining gradually and few new schools cropped up by Christian missionaries. The story of Indian mutiny, Jalliyan Wala Bagh massacre movement, Rolett Act, non-cooperation movement, Khilafat movement the rising-tide of Swadeshi movement etc. generated a feeling of nationalism in the masses. Malaviya, during his visit in the country for the participation in Congress session, observed the declining condition of Hindu religion, and education.Therefore, Malaviya wanted to revitalize India as a nation through his own view of education by reviving the ancient Hindu thought and combining with scientific and professional knowledge of the west, accordingly he dreamed and manifested it in the form of Banaras Hindu University for the sake of the motherland and Hindu religion.

**Annie Basent**

In year 1898, Mrs. Besant established the Central Hindu College at the holy city of Banaras. She felt that religion is the foundation of all true education as it is the foundation of the family and state. She believed in Hindu Shastra and secular education very soon Mrs. Besant began to hope that central Hindu college would be centre of a great circle of related institution; it became Hindu University of India. She put idea in 1907 under the name of "The University of India". A scheme of University was also formulated in mind of Malaviya. Due to Annie Basent

and her sacrificing nature, both scheme amalgamated and formation of residential University was possible. She committed to provide the Central Hindu School to fulfill the condition to establish Malaviya's dream University.

Malaviya acknowledged her sacrifices and appealed that it was ignoring the facts for anybody to suggest that Mrs. Besant had no admirers among Hindus, or no influence upon them. So Annie Besant through love of religion, education, culture and Nation influenced Malaviyaji. Her influence was seen in Banaras Hindu University and its objectivei.e.building up of character in youth by making religion and ethics an integral part of education.

**Effect of Ancient Education System (Gurukul System of Education)**

Malaviya's thought was influenced by Ancient Vedic, Buddhistic cultural Universities such as Sandipini Ashram, Takshshila and Nalanda University. Like these universities he dreamed to establish residential University based on the Gurukul approach. He also dreamed to make his University as a center of 10,000 students who will learn and live there. Therefore, his creation of Banaras Hindu University is not a school plant but an abode of Vidya (Abode where one knows, think and become someone).He considered university as Ashram which stresses the need of hard work, labour both physical and intellectual.

In Vedic Period, Students lived in the ashram of the Guru as a member of his family, and Guru loved them as his own son. Malaviya also wanted to create such culture in the university therefore he dreamt to establish university at the bank of Ganga in religious city Varanasi. He thought that through these manner teacher can develop spiritual nature and higher qualities in their pupils. Thus he made a plan of residential university. Therefore the strong characterof Malaviya's personality was built somewhere due to his faith in Vedic Ashram System, culture such as giving respect to the teachers and elders.

**INFLUENCEOF THE BHAGAVAT GITA**

As Bhagavad Gita represents the unique synthesis of action, devotion and knowledge. Malaviya life sketch was full of action .In Geeta it is narrated in Karm Yoga, Life depends upon action, as none can remain just inactive for a single moment. Inaction is death. In his personality it is seen perfectly.He acted as a man of ideals and action. In his personal life, Malaviya was dedicated to supreme and installed Lord *Krishna* at the centre of all his activities.Malaviya liked inaugurating weekly discourse on the Gita in University, which reflects his faith and love for Gita. Effect of teachings of lord Krishna was seen in his humanity and administration. He wanted every man to be humble to the status of Arjuna and to receive cure by the Gita. The attitude of Malaviya to solve any problem and reaction of *Sambhaav* in happiness and grief reflected that how much he inculcated Gita's lessons in his practical life.

Mostly Malaviya's speech was phrased by the Gita slok as,

**नकाम्येऽहंगतिमश्विरात् पराम्। अष्टद्धियुक्तामपुनभवैच॥**
**आर्तिप्रप्रद्योखिलदेहभाजाम्। अन्तः स्थितोयेनभवन्त्दुःख।[20]**

"I don't pray to God to given me salvation characterized by the possession of the eight Siddhis or the highest salvation or freedom from re-birth, but what I pray for is that I may feel that sorrows of all being by dwelling within them. So that they may be free from them. He always follows,

**''शिवायलोकस्य भवाय भूतयेय उत्तम श्लोकपरायणाजनाः।[21]**

All above described sloka's related to the welfare of human were seen not only in Vani but also in Mansa, Vachan, Karma of Malaviyaji. Hesaid,

**''न त्वहंकामयेराज्यं न स्वर्ग न पुनर्भवम्।**
**कामयेदुःख तप्तानांप्राणिनाभार्तिनाश्सम्॥[22]**

I have no desire for the kingdom, neither any desire for heaven, nor freedom from bondage (Moksha). "I have only one desire and that is to remove the miseries and sorrows of all living being."[23] Therefore Malaviya was a unique epitome of ideals of Shrimad Bhagwat. He says if lord Krishna made all, than nobody could be an untouchable. Although he was orthodox Brahman but he started a movement of mantrdiksha for untouchables which was when severely opposed by the orthodox section of Hindus, then Malaviya convinced Hindu scholars and conducted debates and obtained cooperation and support for his mission.

**Effect of Hindu Sanatan Dharma**

No account of Malaviya's life and work is complete which does not emphasized his faith in Sanatan Hindu Dharma. This was the most outstanding feature of his personality. All his activities such as political, social, educational werebased on it. He felt about Hindu Dharma as a child feels about his mother, as something essential without which life becomes impossible. Those who described him as sectarian did great injustice to him. His idea of Hindu Dharma could not be sectarian, but universal. Infact, Dharma and Hindu Dharma were identical for him. He belonged to the Bhagavata sect, his dressing sense, way of living, all attitudes reflected him as Sanatani.

Malaviya began his campaign for Hindu renaissance under the banner of Hindu Samaj in Prayag in 1880 at the age of 21 under the president ship of Pandit Adityaram Bhatacharya, nearly 4 to 5 years he continued his mission of awakening Hindus against the evils, totekas, taoonas and superstitions that had crept Hindu society. "During 1885 he organized Madhaya Hindu Samaj in 1887 January in Bharat Dharma Mahamandal at Haridwar"[24] he put views for the protection of cows and environmental purity of Ganga in 1905. Mahamana laid the foundation of "Akhila BharatiyaSanatana Dharma Mahasaba.[25]with a noble resolve for the moral upliftment and welfare of Hindu society form 20th to 27thJanuary 1906. Mahamana convened the first week in Sanatana Dharma Mahasabha at Prayag which was attended by all religion need of all sects and ready unanimous approval of the establishment of Kashi Hindu Vishvavidalya. In Aug 1923, seventh session of Mahasabha at Kashi Mahamana threw light on the necessity to remove Untouchablilty, upliftment of women, dowry system, remarriage of widows, problems of social security.Until 1922 to 1935 he was continuously participated in Hindu Mahasabha.Therefore, for Malaviya Hindu Dharma was quite competent to supply all the principles which directed his life and finally shape his personality.

**Conclusion**

Although many factors affected such as hereditary factors socio-economic condition of that contemporary period, family environment etc. make his personality. However, in reality he was self-motivated and self-esteemed personality having high will power and moved by inner self ashis father Pt. Brijnath had six sons and two daughters but only Malaviya attained name and fame.

Some of his characteristics as curiosity for higher knowledge since childhood, great attention for spiritual meditation, his sharp memory, regular habits, proper dressing style, code of discipline, high moral values,social life, high determination, patriotism, high ambition, and elocution power made him different from others,which were somewhere got affected by outward factors and situations,but mostly controlled by inner self which may be motivated by Bhagvad-Gita or his faith in Hindu Sanatan Dharma.Many political decisions taken by Malaviya as accept the president ship of Indian National Congress when Firoj Shah Mehta denied chairing it, tendency to left their job at the peak time of success (Editorship, teaching, and Law) show his courage, will power and faith on self . Therefore, it could be said that he was a self made, self directed, self generated personality which flourished not only as earthly but heavenly plant who devoted his life for the welfare of others.

**References**


1. Ambika Prasad Upadhyaya(1984) Centenary Commemoration Volume, p.90.
2. Chaturvedi.,S. R.(1995) Builder of Modern India Madan Mohan Malaviya. New Delhi: ministry of information and broadcasting Government,p. 123
3. Ibid.,136
4. Tripathi R. N., PujayMalaviyajikaySatth Tees Din p.114.
5. Chaturvedi S.R., Op. cit,pg.120.
6. Ibid.,pg.136
7. Ibid.,136
8. Ibid.,136
9. From BHU Gazette, Dec.21, (1963).
10. Robert R. McCrae and Antonio Terracciano(2005) "Universal Features of Personality Traits From the Observer's Perspective: Data From 50 Cultures" published in Journal of Personality and Social Psychology, Vol. 88, No. 3, 547–561 In the public domain
11. Ibid
12. Permanand.(1967),Mahamana Madan Mohan Malaviya,An Historical Biography.Varanasi :MalaviyaAdhyayanSansthan, BHU Press, p.28.
13. Ibid.,P.30.
14. Ibid.,p.32.
15. (Permanand.,(1967)Op.cit. pg112
16. Ibid.,pg.114
17. Ibid pg.110
18. Parmanand ., op. cit., p.20
19. Commemoration vol.1931, p.108.
20. The Bhagavad Gita(2007) English Translation published by Gita Press, Gorakhpur chapt -.ii shlok (47.)
21. SrimadBhagvat Gita pp.9-21
22. Chaturvedi., S. R.,(1995) Builder of Modern India Madan Mohan Malaviya. New Delhi: ministry of information and broadcasting Government,p. 34
23. Dar. S. L. and Somaskandan. S., Op.cit. p.223
24. Chaturvedi., S. R., Op.Cit., p.35
25. Ibid.


◆

# A REFERENCE BOOK IN INDIAN MUSICOLOGY

*RAGINI SINGH* AND DR. K. AMBRISH CHANCHAL***

Indian music by Thakur Jaidev Singh is not a new publication but an all time reference book in the discipline of Indian musicology. This is Published from Sangeet Research Academy Calcutta in 1995. From that time this book is considered as one of the serious books which elucidates the past of Indian music.

This book consists of Six detailed chapters. Each Chapter details the Vast information about our ancient music. The first chapter of the book deals with Indus civilization and the Vedic period with characteristics and trends of the Vedic period. In his introduction Dr. Singh says that man has the capacity to experience different kinds of sensations. Sensations are produced by the action of an external stimulus on the sensitive apparetus of our nerves. We have seen that a body must vibrate if it is to be heard.[1]

This Vibration is in the form of waves. The number of vibrations per second or unit time is known as frequency, this is an important word. Science defines a tone or musical sound from the point of view of its physical structure. Indian music calls a tone swar. The names used in Hindustani music are based an a sounder principle, are easy to remember and free from ambiguity, and have parallel equivalents in Western system of music also. In the first chapter, author talks about Indus civilization and the Vedic period. As we know, the Indus civilization is the oldest history of India. It is considered to be at least 5,000 years old. Some scholars regard this civilization as Pre-Vedic and some as Vedic. A flute a harp with strings and percussion struments have been found. A bronze figurine of dancing girl beating time to music with her foot has also been found. On the basis of this data, the author says, one cannot say what the music of this times was like. The Vedas were musically recited Udatta, Arudatta, Svarita were the three pitches used in Vedic recitative He quoted Prof. Mcdonnel saying, the Vedic was a musical one, depending mainly on pitch.[2]

In this chapter the author finds traces about music, especially ancient musical struments in Vedic treatises. Among several Vedic treatises, he discusses about SÂma Veda, BrÂhmans, Àraàyakas, RkprÂtiïÂkhya, ìiksÂ and NÂradÍya ìiksÂ. He says SÂma music was written in a notation of its own which was numerical. The next important Itihas is MahÂbhÂrat The scale of SÂma was a descending one, starting from ma e.g. ma, ga, re, sa, ni, dha, pa. Notes in SÂmavda were called yamas and their names were Krusòa (madhyama), Prathama (gÂnthÂra), DvitÍya (çîabha), TritÍya (îadja), Chaturtha (niîÂda), Mandra (dhaivata) and Atisvara (pancama). He refers to the Vedic system as it analyses the entire music into seven categories.[3]

In Chapter two, he discusses about the music of post-Vedic period i.e. 600 B.C. to 800 A.D. Here he begins with the epic period. As we know, epic period is considered from About 700 B.C. to 150 A.D. This is the period of RÂmÂyaàa and MahÂbhÂrata. The author discusses here about the musical instruments used in RamÂyaàa and MahÂbhÂrata. In this period, classical music was called SamgÍta or GÂndharva. The word Âtodya was used for all kinds of instruments used in music.[4]

Among wind instruments we have a reference to Veàu in KiîkindhÂkÂàÅa. A study of RÂmÂyaàa shows that Indian music had developed a great deal in this age. A whole science of music known as GÂndharva had come into existence. In RÂmÂyaàa we find bherÍ, mçdaßga and vÍnÂ. It is said that it consisted originally of 24,000 verses. In its Droàaparva, We find a reference of several music instrments as mçdanga, jharjhara, bherÍ, paàava, Âàaka, gomukha, ÂÅambara, ïankha, dundubhi.

The author finds in SÂntiparva that there is a reference to VÍàÂ and Veàu. In VirÂta Parva, the reference of KÂásya is there during this ago there were dance and music institutions in which girls used to receive instruction in music and dance during the day.[5]

After the epic period the author shifts his attention to the music found in Buddhist and Jaina sources. Buddha was not against music as such, but only against sensual music, against samÂja in which people exculted in drunken rivelry. The JÂtaka contains many references to music. Here we learn two things from JÂtaka stories. Songs were sung in accompaniment to the VÍnÂ and the VÍnÂ in those ancient times had seven strings. The instrumentalists of those times had developed excellent plucking technique. Bheri or drum was very much in use. In the same way, the NandÍ Sutra mentions a number of musical instruments.

Now the author talks about ancient music in Tamil sources. Then he discusses music as described in Natya Shastra. The main theme of Natya Shastra is dramaturgy

* Research Scholar, Department of Musicology, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.

** Assistant Professor, Department of Vocal Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.

but it also discusses certain fundamental principles of music and applied music i.e. music as used for the purpose of drama.

The most ancient type of stylized music in India was known as JÂti. The author finds a reference to seven Jatis in Valmiki's Ramayana, Thakur Jaidev ji mentions a brief account of Natyashastra with a short note whereas this treatise consists of 36 chapters, requires a deep focus in each chapter at lenth. Here it was not easy, almost vast, impossible to give entire detail of this vast text.

Then he enters into the world of puranas or the purani sources. He states that the various puranas were compiled in different periods. The date of Harivansha is generally considered to 200 BC to 200 A.D.

In a deeper sense, author has done a tremendous job of giving details of each period in this significant book. He initiates the history of ancient Indian music right from pre-Vedic to post-Vedic period including Smriti, Purana, Shiksa and Upanishadas where he traces the musical findings especially about music instruments. It was not easy for a musicologist to trace the presence of music in ancient period in terms of facts. But here the author has gone through various primary sources regarding Indian music. He has gone through all available sections of Puranas and tried of find out the uses of music according to the behaviour of people of the certain period. He discusses the gram portions used in Puranic sources where we come to know about three kinds of gram as Sadja, Madhyam and Gandhar. Jaideva Ji refers of Gandhar Gram in the period of Purana.

In this period, musical instruments used were Vina, Vallaki, Mahati, Panava, Dardura, Anaka, Muraja, Mridanga and Bheri.

Now he talk about the legend musicologist of that period. Its begins with Tumburu, Tandu, Narada, Kohala, Dattila, Nandi Kewshvara and Kashyap. In this book for the first time we come to know that Kashyap was not only a monk but he founded so many things regarding music as Kaushiki Rag and some important fundamental theories of music.

He begins the chapter three of the book 'Indian Music'. The title of this chapter, he choose as characteristics and trends of the music of the post-Vedic period. He says that from Tamil sources from Ramayan and Mahabharat and from Buddha and Jain sources, we learn that formalistic music was further evolved. Jati, Gram-Ragas came into Vogue. On the basis of concept the system of Murchhana was evolved. Here we find the science and art of music were desginated as Gandharava. This particular term, in that period was used in two senses, general and special or technical. In general sense, Gandharva was used for the science and art of music as such. In the special sense, it was used for sacred music which brought about adrista phala (unseen effect). The main form of Gandharv music was Jati.

Jati was defined as 'A Pattera of Notes' (Svara Sannivesha) which gave aesthetic delight and led to prosperity and happiness here and hereafter.

He discusses ten characteristic of Jati as ansha, graha, tar, gati, mandra gati, nyas, apnyas, alpatava, babutva, sadvita and audavita.

In the fourth chapter, he talks about the traces of music instrument in ancient India. He begins with the discussion of the forms of music. He says here that every musical composition started with Upohana. The rest of the composition had four parts viz. mukha, pratimukha, sharir and shirshak.

In this chapter, the author tries to compare music instruments of India with the music instruments of other countries. Like he begins with Susira or wind instruments as aerophonic. Then he uses the term avanadha as membranophonic instruments. After that the discussion of ghan Vadya stars as idiphonic instruments. Here he does not mention the context of tat vadya or the stringe instruments. He continues the disccussion with tala portion i.e. rhythm, where he finds the characteristics, operation and kinds of tala. After detailing chaturasra and trayasra tala, he discusses ten elements of tala as prana and Jati. Thus he concludes this chapter.

In the fifth chapter he tries to find out foreign influences on Indian music. He finds some similarities between some of the murchhanas of Bharata and some of the Greek Scales like Doriam, Lydian etc. but he finds a fundamental difference in the concept of these scales. He refers to F. Pococke and his book 'India in Greece' saying Indians had gone to Greece and formed colonies in the land. Another book he refers to is 'The Rise of Music in the Ancient World-East and West' in which its author Kurt sachs says, Indian and Greek scales were certainly similar in many respects, there is not the slightest mention of any thing Greek in Hindo theory.

Thakur Jaidev ji says here that in the Vedic times, there existed the bow-shaped harp. In the Rigveda, it was called Vana or Bana. According to him, musiclogists think that the bow-shaped harp must have been originally developed from the hunting bow, but Thakur Saheb does

not state what he thinks about that. In a similar way, he writes here that some idologists and Indian historians have questioned the late date asigned to the Vedic civilization. The vedic word 'Vana' is not a Sanskritized form of the Sumerian word 'Ban' as mentioned by Golpin.

In the same way, the author finds the resemblance between Indian and greek instruments as flute and violin. Eventually he talks about Mattakokila. He says, Sharangdev in thirteenth century, calls Mattakokila the main Vina. There is no any reference of it in Natya Shastra. According to Abhinavagupta, the word Vainika used by Bharat refers to the player of Mattakokila. Abhinavagupta also explicitly mentions mattakokila as the main vina of Bharat in his commentary.

This important book concludes its focus on ancient Indian music in the chapter Six.

Here he refers to the period from 800 A.D. to 1500 A.D. where he shows the gradual decline of Gaandharva music and dominance of Deshi Music. First, he stars the main charactersitics and trends of music from 5$^{th}$ century to the 14$^{th}$ century.

In this Chapter he talks about several musicologists of ancient India. In other words the author gives a list of numerous musicologists from mediaval period. They are Matang, Abhinavagupta, Bhoja, Nanyadeva, Tribhuvana-malla, Someshvara, Haripala, Somabhupala, Jayadev, Narad, Sharangdev, Jayan, Palkuriki Somnath, Hammira, Allaraja, Parshvadev, Gopal Nayak, Amir Khusrava, Moksadev, Sudhakalash, Vipradas, Alauddin Khilji, Firoj Tughlak, Sambhuraj, Madan, Vidyaranya, Devanbhatta, Bhuvananan Bhatta Madhav, umapati etc.

Here he describes some significant vocalists, instrumentalists and musicologists at length. In continuation to that, the author details some original works by prominent musicologists as Naradiya Shiksa by Narad and Sangit Ratnakar by Sharangdeva.

Here he gives a brief note on Raja man singh Tomar who compiled for the first time all the dhruvapadas found in that period. As we know Raja Man singh was the ruler of Gwalior. The period of his rule is variously given at 1485 to 1516 or 1517 A.D. or 1486 to 1519 A.D. He was both a musicologist and a patron of music. He was a great lover of art.

Then he refers to the great musicians of Karnatak Sangit. He begins with Pallavi Gopaliara, Ramchandrendra, Tyagraja, shyama Shastri, Muthuswani Diksitar and other. Then he gives a brief about the musicians who enunciated Khyal music. They are Haddu Khan and Hassu Khan. He came along all the musicians of modern era from various gharanas. He gives a description about Bade Ghulam Ali Khan, Faiyaz Khan, Abdul Karim Khan and other. We must know that Thakur Jaidev ji himself was a good musician and musicologist, learnt from Ustad Faiyaz Khan from Agra Gharana. He was a scholar and aspirant of Kashmir shaivism and Kabir.

This work of Thakur saheb is a huge work, a vast text to go through, need a vast range of time to analyze. I as a student, have less capacity to review this great work except saying that I have learnt a lot from this book while going through it. In conclusion I should say, I am lucky to have this text to understand music from ancient era and mediaval and modern period. This book gives a well organized index of all technical names and terms. I regard this work as a source material for all music lovers and students.

**References**


1. Singh, Thakur Jaidev, Indian Music, University Publication, Varanasi, 2$^{nd}$ Edition, 2010.
2. Singh, Thakur Jaidev, Indian Music, University Publication, Varanasi, p. 46
3. Singh, Thakur Jaidev, Indian Music, University Publication, Varanasi, p. 133
4. Pranjape, Sharadchandra Shridhar, Sangeet Bodh, p. 8
5. अहोबल कृत संगीत पारिजात, आर0एस0 गोंडेलकर द्वारा प्रकाशित, पूना, 1989
6. डॉ0 आर0के0 शृंगी द्वारा प्रो0 प्रेमलता शर्मा के निर्देशन में अंग्रेजी में अनुवादित और टीका सहित शारंगदेवकृत संगीतरत्नाकर का 2 से 4 अ0 मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर प्राइवेट लिमिटेड, 1989
7. आ0 बृहस्पति द्वारा हिन्दी में अनुवादित पार्श्वदेवकृत संगीतसमयसार, श्री कुन्दाकुन्द भारती, दिल्ली, 1977


◆

# HEPATOPROTECTIVE ACTIVITY OF *ANDROGRAPHIS PANICULATA (BURN.)* WALL.ED.NEES

*DR. POONAM SHARMA*, DR. AJAY KUMAR SHARMA** AND PROF. K.N. DWIVEDI****

Liver is considered as an organ of great importance in all the Ayurvedic treatise as well as related commentaries. In Ayurvedic classics, the etiology and pathology of hepatic disorders are well defined. Liver being the main seat of the vital ranjaka pitta and rakta dhatu, when it does not function well, may be a cause of number of diseases. So in this reference we are taking Andrographis paniculata Nees. as an hepatoprotective drug. It is also called as 'Kalmegha'.

Drug consists of dried aerial parts, preferably leaves and tender branches of Andrographis paniculata. The plant grows wild as an undershrub in tropical moist deciduous forests and is also cultivated as a rainy season crop. It is an annual tall herb or undershrub, grows to a height of one meter with branches that are sharply quadrangular, often narrowly winged towards the apical region. The leaves are lanceolate and the flowers are small, solitary in panicles, with a corolla ranging from white to rose pink in colour and hairy externally. The fruit is approximately 2 cm long, linear oblong in shape and acute at both ends. The seeds are numerous, yellowish brown and glabrous.[1-5]

**Ayurvedic deseription and properties**

**Sanskrit name –** Bhoonimba

**Family –** Acanthaceae

**English name –** Kalmegha

**Properties**

**Guna –** Laghu, Ruksha

**Rasa –** Tikta

**Veerya –** Ushna

**Vipaka –** Katu

**Action/Uses**

**Dipana –** Stimulating degestive fire

**Yakrduttejaka –** which helps in formation of bile

**Pittasamanakara –** pacifies pitta

**Krimighna –** anthelmintic / antimicrobial

**Rakta shodhaka –** blood purifier

**Shothahara –** anti-inflammatory

**Kushthaghna –** alleviating skin disorders

**Jvaraghna –** antipyretic

**Vishadoshahara –** alleviating poison

Kalmegha is bitter in taste. It is ushna in veerya and alleviates kapha-pitta. Its vipaka is Katu.Kalmegha is light and ununctuous. It is believed to principally act on rakta dhatu which, according to the basic physiological principles of Ayurveda, is intricately related to liver metabolism.[2,3,6]

**Traditional uses**

Kalmegha is widely used as a remedy for enlargement of liver and spleen.[2,6] In Jaundice, 2.5-5 gm of its dried powder or 5 to 20 ml of its juice is given.[3] It is recommended in ascites caused by predominance of kapha dosa as well as in generalized oedema.[2]

A mixture containing two parts of powder of Kalmegha and one part of powder of black pepper is used in hepatomegaly, chronic fever and generalized oedema.[3]

In West Bengal, a mixture of the powders of cumin seeds, ajwain, clove, nutmeg and cardamom, in equal proportions, is impregnated seven times with the juice of Kalmegha and pills weighing 250 mg each are made from it. This preparation is well-known as Aauli vatti and is used for treating loss of appetite, chronic fever, vomiting and diarrhoea in children.[3]

Due to its effects on the liver, Kalmegha is often used as a substitute for *Swertia chirayita.* In fact, it is known as 'desi chiraita' in many parts of the country.[4]

**Chemical constituents**

A review[7] on the constituents of A. Paniculata reveals that it contains a bitter diterpenoid latone, andrographolide, as its major constiuent, Andrographolide is stable in acidic pH but hydrolyses rapidly in alkaline pH.[8] Three sesquiterpenoid – paniculide A, paniculide B, paniculide C, have been isolated from the callus cultures derived from hypocotyls and stem tissue of the plant.[9] Flavonoids isolated from the roots. A flavanone glucoside andrographidin A, and five flavones glucosides andrographidin B, andrographidin C, Andrographidin D, andrographidin E and andrographidin F have been isolated from the roots of A. Paniculata.[10]

**Hepatoprotective activity**

Oral administration of A. Paniculata extract and andrographolide to rats demonstrated a protective action against carbon tetrachloride induced[11] pre and post treatment. Oral does of A. Paniculata (0.5 g/kg/day) normalized alcohol induced increase in serum transaminase

* Senior Resident, Dept. of Dravyaguna, Faculty of Ayurveda, I.M.S., B.H.U.

** Associate Professor, Dept. of Shalya Tantra, Swami Kalyandeva Govt. Ayurvedic College, Mujjafarnagar, U.P.

*** Professor, Dept. of Drayaguna, Faculty of Ayurveda, I.M.S., B.H.U..

activity in rats, it was concluded that A. Paniculata has a protective as well as curative effect on alcohol induced toxic live damage.[12] Significant hepatoprotective activity as demonstrated for an alcoholic extract of A. Paniculata and two of its diterpenes andrographolide and neoandrographids, against the hepatotoxicity caused by Plasmodium burghei infection in animals. This hepatotoxicity is thought to be mediated through the radical damage. The protective effect of A. Paniculata is thought to be due, in part, to reactivation of superoxide dismutase which in turn counteracts peroxidative damage and A. Paniculata may also cause induction of hepatic drug metabolizing systems which detoxify toxins.

Effect of the aqueous extract of A. Paniculata (each 5ml containing 1 ml of Kalmegha I.P. 1966) at a dose of 3.75 ml/kg, p.o., on the biliary flow, liver weight and hexobarbitone sleep time has been investigated and compared with that of phenobarbitone (75 mg/kg, i.p.). The extract was found to increase biliary flow and liver weight in rats and decrease the duration of hexobarbitone induced sleep in mice.

**Clinical trial**

Administrations of an aqueous decoction (3x20ml/day) (equivalent to 40g of the crude drug per day) of A. Paniculata for 24 d to 20 patients with infective hepatitis has been reported to provide symptomatic relief to the patients.[13] Decoction of A. Paniculata 60ml per day (equivalent to 40g of crude drug) in three divided doses for 24+4d in human clinical trials (60 patients with hepatocellular jaundice) revealed that yellow colour of the conjunctiva improved 100 percent, tender hepatic enlargement decreased in 96 percent within 20 d of treatment. Loss of appetite in 100 percent was improved after 4-5 d. Several test for biochemical markers such as serum bilirubin, alkaline phosphatase and serum transferase were hightly significant after the treatment.[14]

Herbal mixture of A. Paniculata and Emblica officinalis was administered to patients with Hapatitis B, $B^+$ and post hepatitis syndrome. The herbal mixture demonstrated efficacy in reducing clinical symptoms, improving liver functions and albumin.[15]

**Dosage**

1.5-3g of the dried crude drug. Fresh herb is used in doses of 25-75g. 'Kalmegha' liquid extract 0.5 to 1.0 ml.[16] Gastric discomfort, vomiting and loss of appetite may be caused by large doses (orally) of the drug. Injection of the crude drug extract may lead to anaphylactic shock.[17]

**Conclusion**

So by seeing all above discussions we came to conclude that Kalmegha is a very good hepatoprotective drug which is proved by seeing the experiments to researchers done. Its various actions are due to chemical constituents Andrographolide and various other.

**References**


1. Thakur RS, Puri HS, Husain A. Major medicinal plants of India. Central Institute of Medicinal and Aromatic Plants, Lucknow, 1989, p.61.
2. Kapoor LD. CRC Hanbook of Ayurvedic Medicinal Plants. CRC Press, Boca Raton, 1990, p. 100.
3. Sivarajan VV, Balachandran I. Ayurvedic Drugs and their Plant Sources. Oxford and IBH Publishing Co. Pvt. Ltdd, New Delhi, 1994, p. 245-246.
4. Prasad S, Gupta KC, A pharmacognostical study of Andrographis paniculata Nees. Indian J. Pharm 1957. 19. 163-170/
5. Singh A, Kapoor LD, Chandra V. Pharmaco-botanic studies of Kalmegha Andrographis panculata Nees. J Res Indian Med 1972, 7(1), 93-97.
6. A panel of Vaidyas. Clinical applications of Ayurvedic Remedies, Indian Medical Sciences, Series No. 3, 4th edn. Sri Satguru Publications, Delhi, 1998, p. 100.
7. Bhat VS, Nanavati DD. Andrographis paniculata (Burm.) Wall.ex Nees (Kalmegha), Indian Drugs 1978, 15, 187-190, 204.
8. Talukdar PB, Banerjee B. Studies on the stability of andrographolide. Indian J chem 1968, 6, 252-254.
9. Allison AJ, Butcher DN, Connoly JD, Overton KH. Paniculides A, B and C bisabolenoid lacones from tissue cultures of Andrographi paniculata. Chem Commun 1968, 23, 1493.
10. Choudhary BR, Poddar MK. Andrographolide and Kalmegha extract; in vivo and in vitro effect on hepatic lipid peroxidation. Methods find Exp Clin Pharmacol 1984, 6, 481-485.
12. Choudhary BR, Poddar MK. Effect of alcohol induced live damage in rats by Andrographis paniculata. Methods Find Exp Clin pharmacol 1983, 5, 727-730.
13. Chaturvedu GN, Tomar GS, Tiwari SK, Singh, KP. Clinical studies on Kalmegha in infective hepatities. Ancient Sci Life 1983, 2, 208-215.
14. Ramji, Sharm BP, Tripathi SN. Effect of Kalmegha and Amalki compound on viral hepatitis. Aryavaidyan 1990, 11, 156-162.
15. Tomar GS, Singh RN. Treatment of hepatocellular jaundic with Kalmegha. Aryavaidyan 1990, 11, 156-162.
16. Pharmacopoeia of India, 2nd edn. Ministry of Health, Government of India, 1966, p. 386.
17. Chang HM, But Ph. Pharmacology and Applications of Chinese Materia Medica. World Scientific, Singapore, 1986, p. 918-928.


◆

# WINTER SEASON AGRICULTURAL WEEDS OF B.H.U. CAMPUS AND ADJACENT AREAS

*SOMENATH DAS* AND PROF. N K DUBEY***

A weed also called as "plant in the wrong place" is considered undesirable in a particular locality. These are unwanted in farm fields, gardens, lawns, and parks. Taxonomically, the term "weed" has no botanical significance because a plant that is a weed in one context may not unwanted when growing in a situation where it is in fact wanted .There are approximately 250,000 species of plants worldwide; of those, about 3% or 8000 species behave as weeds (Pennsylvania State University, 2013.). Weeds possess one or more of the characteristic viz. abundant seed production, rapid population establishment, seed dormancy, long-term survival of buried seed, adaptation for spread, presence of vegetative reproductive structures and ability to occupy sites disturbed by human activities. Weeds are troublesome in many ways. Primarily, they reduce crop yield by competing for water, light, soil nutrients, and space. Other problems associated with weeds in agriculture viz. reduced crop quality by contaminating the commodity, interference with harvest, serve as hosts for crop diseases or provide shelter for insects to overwinter, limit the choice of crop rotation sequences and cultural practices, production of chemical substances (allelochemicals), which are toxic to crop plants, animals or humans. Despite the negative impacts of weeds, some plants usually thought of as weeds may actually provide some benefits viz. soil stabilization, habitat and feed for wildlife, nectar for bees, aesthetic qualities, add organic matter, provide genetic reservoir, human consumption and provide employment opportunities. Weeds are required to be controlled in an economical and practical way in order to enhance to growth and productivity of food, feed, and fiber for humans and animals. Varanasi constitutes the representative part of the Upper Gangetic Plain of Eastern Uttar Pradesh. The entire campus of B.H.U. (area 1300 acres) is floristically very rich and different weed species are also found here. Hence, the present account deals with a documentation of agricultural weeds found in agriculture field of BHU campus and adjoining areas with winter season crops.

## SYSTEMATIC DESCRIPTION :

### DICOTYLEDONS

### POLYPETALAE

### RANUNCULACEAE

***Ranunculus sceleratus*** L.: Annual herb, erect, up to 50 cm tall, branched. Stem fistular. Leaves palmately lobed, lower long petioled, petiole sheathing. Flowers yellow. Sepals reflexed. Petals oblong. Stamens and carpels numerous. Achenes oblong. Flowers and Fruits: Dec.-April. The plant is commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus. The plant is not liked by animals due to arid taste.

### FUMARIACEAE

***Fumaria indica*** L.: Annual herb. Stem herbaceous. Inflorescence racemose, bracteate, zygomorphic flower, stamens in 2-groups; bicarpellary gynoecium, unilocular ovary, parietal placentation, stigma lobed, fruit nut.

Flowers and Fruits: Jan.-March. Commonly found in the agricultural field of Ramnagar.

### MENISPERMACEAE

***Cissampelos pareira*** L.: A twining shrub, leaves triangular, cordate usually peltate. Flowers pale green minute, Male flowers in axillary, branched cyme, bract subulate. Female flowers in axils of small bracts, fruits subglobose, drupe red when ripe. Flowers & fruits: Sept.-Dec. commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Tinospora cordifolia*** (Willd) Miers ex Hook f. and Thomas: A glabrous climbing shrub. Stem succulent. Leaves long petioled, cordate, 7-nerved at the base. Flowers small yellow, Males in clustures, females solitary. Carpels 3, on short fleshy gynophores. Drupes red, juice viscous, filled with glutinous pulp. Flowers and fruits: Feb.-April. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus. It is used in Jaundice &Malarial fever.

### BRASSICACEAE

***Capsella bursa-pastoris*** Medik.: Annual or perennial small herbs, with entire or pinnatifid radical

* *Research Scholar, Centre of Advanced Study in Botany, Institute of Science, BHU.*

** *Centre of advanced study in Botany, Institute of Science, Banaras Hindu University, Varanasi (U.P.)221005, India.*

leaves. Flowers small, white, racemose. Sepal spreading, equal at the base. Petals very short, hardly clawed. Fruit capsule, replum very narrow, style short. Flowers & fruits: Jan.-April. Commonly found in agricultural field near Bypass Road, Varanasi.

***Cochlearia cochlearioides*** (Roth) Santapau and Mahesh: An erect, diffusely branched, glabrous, annual herb. Leaves lanceolate, pinnatifid, lower petiolate, upper smaller. Flowers yellow, raceme. Pods globose and smooth. Flowers & fruits: Dec.-March. Found commonly in agricultural field of Ramnagar.

***Coronopus didymus*** (L.) Smith : A prostrate, branched, annual herb. Leaves 1-2 pinnatifid, lobes small, ovate, spreading. Flowers minute, white, in short leaf-opposed racemes. Petals linear, shorter than sepals. Pods reniform. Flowers and fruits: Dec.-March. Commonly found in agricultural fields of B.H.U. campus.

***Lepidium sativum*** **:** Herbs or undershrubs, diffuse or erect; leaves entire or divided. Flowers small, white, bractless. Sepals short, equal at the base. Petals sometimes only 2, or absent. Stamens 6, tetradynamous, or 4, sometimes abortive. Capsules ovate or oblong. Flowers & fruits: Dec.-Feb. Commonly found in agricultural field of Samne Ghat.

***Rorippa dubia*** (Pers) Hara.: An erect glabrous or more or less hairy annual herb. Stem 15-20 cm high, branching near the base. Radical leaves deeply pinnatifid, lobes toothed, upper leaves lyrate with small auricles. Flowers small, yellow, in raceme. Stamen 6. Pods narrow, stalked. Flowers & fruits: Nov.-March. Found in agricultural farm of B.H.U. campus.

**CARYOPHYLLACEAE**

***Spergula arvensis*** L.: A glabrous, diffuse, annual herb. Stem branched. Leaves linear, subulate, spreading. Flowers white. Sepals obtuse. Styles 3, free. Capsules ovoid, glabrous, Seeds black. Flowers & fruits: Dec.-March. Commonly found in agricultural farm of BHU campus.

***Vaccaria pyrimidata*** Medik: A stout branched annual herb. Leaves lanceolate, acute or acuminate. Flowers pinkish white, with small floral leaves. Calyx tube angled. Petals clawed. Stamens 10, anthers white, style 2. Capsules ovoid or oblong. Flowers & fruits: Jan.-April. A common weed of agricultural farm of B.H.U.campus.

**MALVACEAE**

***Malvastrum coromandelianum*** (L.) Gracke: Herbs, with entire leaves. Flowers axillary; bracteoles 3, narrow, cupular, 5-partite. Petals 5, exceeding the sepals, Stamens numerous, in a tube antheriferous to the top, without sterile teeth. Ovary 5-or more-locular; styles as many as the carpels, stigmas Capitate. Flowers & fruit: July-Dec. Commonly found in the agricultural field of BHU campus.

***Sida acuta*** Burm.f.: Herbs, leaves simple or lobed. Flowers peduncled, solitary or fascicled, bracteoles 0. Calyx of 5 sepals connate below in a tube. Petals 5, free above, connate below and also adnate to staminal column. Stamens many, connate, tubular below. Carpels 5 or more, whorled 1-seriate; styles free as many as carpels, stigmas terminal. Fruit Capsule. Flowers & fruit: Aug.-Nov. Commonly found in the agricultural field of B.H.U. campus. Used in treatment of nervous & urinary diseases.

**STERCULIACEAE**

***Pentapetes phoenicea*** L.: Herbs, leaves lanceolate. Flowers axillary ; braeteoles 3, subulate, caducous. Sepals 5, lanceolate, connate only at the base. Petals 5. Stamens connate at the base, 15, fertile in 5 groups of 3 alternating with 5 staminodes that are almost as long as the petals; anthers 2-celled, extrorse. Ovary sessile. Flowers & fruits: Nov.-Feb. Commonly found in agriculture field of BHU campus.

**TELIACEAE**

***Triumfetta rhomboidea*** Jacq: Herbs; leaves serrate, simple or lobed ; pubescence, stellate. Flowers small, in dense cymes. Sepals 5, oblong, concave. Petals 5. Stamen 5 springing from fleshy, lobed, glandular torus. Ovary 5-locular; style filiform, stigma 5-toothed ; ovules 2 in each locule. Fruits globular, spiny. Ovary hairy. Flowers & fruits: Sept.-Dec. Commonly found in agricultural field of B.H.U.campus.

**ZYGOPHYLLACEAE**

***Tribulus terrestris*** L.: Prostrate herbs, diffusely branched; leaves opposite, stipules 2. Flowers solitary, white or yellow. Sepals 5. Petals 5, patent, caducous. Stamens 10, inserted at the base of a 10-lobed annular disk, alternately short and long, the 5 shorter glandular externally, the 5 longer opposite the petals. Ovary sessile, style short pyramidal or filiform, stigmas 5-12 ; ovules solitary in each loculus. Flowers & fruits: Feb.-May. Commonly found in agricultural farm of Ramnagar. Medicinally important in kidney diseases.

**OXALIDACEAE**

***Oxalis latifolia*** H.B. and K.: A perennial herb. Leaves radical, leaflets divergent with oval lobes, broad apex, petals bluish. Purple, ovary apically ciliate. Flowers

& fruits: Dec.-March. Commonly found in agricultural field in B.H.U. campus.

**PAPILIONACEAE**

***Aeschynomene indica*** L.: Erect undershrubs or shrubs ; leaves odd-pinnate ; leaflets numerous, sensitive, linear, close-set; Flowers in axillary, rarely terminal, simple, or sometimes branched racemes bracteoles adpressed to calyx, Sepals 5, connate in a deeply 2-lipped calyx; upper lip entire, lower entire or shortly 3-lobed. Petals orbicular, short-clawed; wings obliquely obovate or oblong; keel obovate, nearly straight, or narrow and incurved. Stamens 10, Flowers & fruits: Jan.-March. Commonly found in agricultural field of B.H.U. campus.

***Alhagi maurorum*** Medik.: Small much branched undershrub armed with axillary spines. Leaves simple, entire, glabrous beneath, ovate oblong obtuse or mucronate. Flowers red. Calyx glabrous. Stamens 10, diadelphous. Pods moniliform or falcate. Flowers & fruits: March-June. A common weed of agricultural field of Samne Ghat.

***Alysicarpus monilifer*** (L.) DC: A prostrate, profusely branched, deep rooted herb. Stem densely tufted. Leaves ovate, obtuse, often cordate at the base. Flowers 4-8, in long peduncled axillary racemes. Corolla pinkish white. Pods distinctly moniliform, 2-8 jointed. Flowers & fruits: Aug.-Nov. Commonly found in DLW.

***Cicer arietinum*** L.: A hairy much branched annual herb. Leaflets serrate, strongly nerved, stipulate. Flowers solitary axillary, pink, blue or white. Stamens diadelphous. Pods oblong. Seeds beaked. Flowers & fruits: Dec.-March. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. Campus.

***Desmodium gangeticum*** (L.) DC.: An erect or suberect shrub or undershrub. Leaves ovate elliptic, leaflets 4-6, stipules scarious. Flowers white or liliac, in axillary or terminal racemes. Pods 6-8 jointed, usually covered with minute hooked hairs. Flowers & fruits: May.-Jan. Commonly found in agricultural field in B.H.U. campus.

***Lathyrus sativus*** L.: A suberect ascending annual herb. Leaflets 2, linear-lanceolate, entire, ending in 3-fid tendril, stipule broad. Flowers blue, solitary, axillary. Pods winged, 4-5 seeded. Flowers & fruits: Jan.-March. Commonly found in agricultural field in B.H.U. campus.

***Melilotus alba*** Desr.: An erect or decumbent glabrous annual herb. Leaflets ovate or suborbicular, toothed, serrulate. Flowers white, in dense racemes. Calyx teeth unequal. Pods round-oblong 1-4 seeded. Flowers & fruits: Dec.-May. Commonly found in agricultural field of B.H.U. campus.

***Melilotus indica*** (L.), All. : An erect much branched annual herb. Leaves pinnately 3-foliate, leaflets obovate, toothed, flowers small, yellow in dense racemes. Pods glabrous, 1-seeded. Flowers & fruits: Dec.-May. Commonly found in agricultural field of B.H.U. campus.

***Rhyncosia minima*** *(*L.) Dc.Var.*laxiflora* (Camb.) Baker : Twining herbs ; leaves 3-foliate, dotted with resinous glands beneath; Flowers axillary single or paired on the rachis of a raceme, rarely solitary; bracts caducous; bracteoles 0. Sepals united in a short tube, Petals included or exserted, subequal in length ; spreading or reflexed, base auriculate ; wings narrow; keel incurved, hardly beaked. Stamens 10, vexillary filament free, the rest connate ;. Flowers & fruits: Jan.-May. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Trigonella foenum-graecum*** L..: An erect fragrant annual herb. Leaves short petiolate, leaflets toothed, oblong lanceolate, obtuse or rounded. Flowers pale yellow sessile, 1-2 in axil of leaves, pods nearly straight, 10-20 seeded. Flowers & fruits: Jan.-March. Commonly found in agricultural field near Bypass Road.

**LYTHRACEAE**

***Ammania baccifera*** L.: An erect, glabrous, annual herb. Stem purplish. Leaves usually opposite below, alternate above, elliptical lanceolate, tapering at ends. Flowers reddish, in axillary umbelliferous cymes. Flowers & fruits: July-Jan. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

**APIACEAE**

***Centella asiatica*** (L.) Urban: Prostrate herbs, rooting at the nodes ; leaves cordate or hastate, round or angled, subentire or palmately lobed, long petioled. Flowers white, sometimes 1-sexual, in small, simple umbels. Sepals quite connate in a calyx with 5 small teeth or with limb entire. petals 5, entire, valvate or imbricate. Flowers & fruits: Nov.-July. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus. Leaves are medicinally important as brain tonic.

GAMOPETALAE

**RUBIACEAE**

***Oldenlandia corymbosa*** L.: A small prostrate, glabrous, branched annual herb. Leaves sessile, linear or lanceolate, stipule bristly. Flowers white, solitary or on 2-flowered peduncles. Fruit capsular. Seeds angular. Flowers & fruits: June – Jan. A common weed in agricultural farm of B.H.U. campus.

**ASTERACEAE**

***Ageratum conyzoides*** L.: An erect annual hairy

herb. Leaves ovate, crenate, ciliate. Floral heads whitish or pinkish purple, arranged in terminal corymbs. Florets all tubular. Pappus scales 5. Styles branches slightly exserted. Achenes black, angled. Flowers & fruits: throughout the year. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Caesulia axillaris*** Roxb.: A glabrous marsh-herb; leaves alternate, denticulate. Flower heads in sessile, axillary, involucrate balls, each sessile on a broad receptacle, and each 1-flowered; involucral bracts 2, opposite, keeled or winged, ultimately adnate to and enclosing the cypsela.. Flowers & fruits: Sept.-April. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Eclipta prostrata*** L.: Annual herbs, strigose or hirsute; leaves opposite. Flower heads small, axillary or terminal, peduncled, heterogamous, rayed; ray-florets female, sub-2-seriate. fertile or sterile; discflorets hermaphrodite, fertile, involucre wide campanulate bracts sub-2-seriate, Flowers & fruits: Throughout the year. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Erigeron bonariensis*** L.: An erect stout deep rooted hirsute herb. Leaves linear, entire. Heads numerous in corymbose panicles, heterogamous. Ray florets whitish. Corolla of disk florets pale yellow. Achenes oblong, slightly curved, brown, hairy. Flowers & fruits: May-Sept. Found in agricultural field of Ramnagar.

***Gnaphalium luteo-album*** L.ssp.*affine* (D.Don.) Koster: An erect or decumbent annual herb. Leaves sessile, oblong - spathulate, obtuse, wooly on both surfaces. Heads yellowish, heterogamous, in dense leafless corymbs. Achenes oblong brown.Flowers & fruits: Feb.-May. Found as weed in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Launaea procumbens*** (Roxb.) Ramayya and Rajagopal: An erect or procumbent herb. Leaves oblong lanceolate or spathulate,in basal rossete, pinnately lobed, teeth cartilaginous. Heads solitary or in clustures. Involucral bracts 3-seriate. Flowers & fruits: March-Nov. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Parthenium hysterophorus*** L.: A fast spreading, branched, erect herb. Stem whitish, hairy. Lamina incision variable. Heads white, hairy. Involucral bracts 2-seriate. Achenes obovate, crowned with remnants of corolla. Flowers & fruits: Aug.-Nov. A common weed of Brassica field of B.H.U. campus. It causes causing skin allergy in animals.

***Sonchus asper*** ( L.) Hill: An glabrous annual herb, leaves cauline, pinnatifid, auricles sharply dentate, obtuse apex. Heads in umbellate cymes, yellow. Flowers all ligulate. Achenes 3-ribbed on each surface. Pappus silky. Flowers & fruits: Nov.-April Common weed of agricultural field of Ramnagar.

***Spilanthes acmella*** DC.: annual herbs, leaves opposite, Flower-heads usually long Peduncled, axillary or terminal, heterogamous and rayed; ray-florets female, 1-Seriate ; disk-florets hermaphrodite, all fertile ; involucre ovoid or campanulate; bracts sub 2- seriate; receptacle convex, elongate; palea enclosing the florets, often connate with the ovary as a stalk. Calyx-limb obsolete. Flowers & fruits: Nov.-April. Common weed of agriculture farm of BHU campus.

***Tridax procumbens*** L.: A procumbent or erect hispid herb. Leaves petiolate, ovate or lanceolate, toothed, acute apex, rounded base. Heads whitish or yellowish-white, heterogamous, long peduncled, solitary. Ray florets pistillate. Flowers & fruits: Dec.-March. Common weed of agriculture field of B.H.U. campus.

***Vernonia cineria*** (L.) Lees: An erect or decumbent herb, stem ribbed and hairy. Leaves variable in shape and size, ovate or lanceolate, entire or toothed, subsessile, heads pink or purplish, corymbose cymes, homogamous. Achenes hairy pappus white.Flowers & fruits: Dec.-March. Common weed of agriculture field of B.H.U. campus.

***Xanthium indicum*** Koenig: A rigid erect or undershrub. Leaves petiolate, triangular cordate, 3-nerved. Heads in terminal and axillary racemes, monoecious. Female involucres covered with hooked spines and at lower portion of floral axis. Corolla absent. Flowers & fruits: July-Dec. Common weed of agricultural field of Samne Ghat.

***Youngia japonica*** (L.) DC.: An erect or decumbent herb. Stem ribbed and hairy. Leaves linear to elliptic, ovate or obovate, entire or toothed, sessile. Heads yellow, homogamous. Involucral bracts glabrous, recurved in fruits. Achenes reddish-brown. Pappus silvery. Flowers & fruits: Feb.-May. Common weed of agricultural field of Samne Ghat.

**CAMPANULACEAE**

***Wahlenbergia marginata*** (Thunberg) A. Candolle: Herbs, commonly with latex in tissue. Leaves alternate, simple, stipules lacking.Flowers often long, blue coloured, regular, perfect, epigynous, occur in cyme or raceme. Fruits a capsule**.** Flowers & fruits: Nov.-April. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

**PRIMULACEAE**

***Anagallis arvensis*** L.: An erect or decumbent

ascending glabrous annual herb. Stem branched from the base, branches 4-angled. Leaves sessile, opposite, ovate-lanceolate, apex acute, base cordate. Flowers solitary, bright blue. Flowers & fruits: Nov.-March. Commonly found in Agricultural farm of B.H.U. campus.

**CONVOLVULACEAE**

***Ipomoea aquatica*** Forsk.: An aquatic herb. Stem thick, hollow. Leaves hastate or elliptical. Flowers in 1-3 peduncled cymes, pale pink with purplish spot. Capsules ovoid to globose. Flowers & fruits: Sept.-Feb. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Merremia emarginata*** (Burm.f.) Hallier f.: Creeping herb; leaves alternate, entire, lobed or divided. Flower axillary usually in cymes; bracts small. Sepals 5, subequal, elliptic or lanceolate-acuminate, rarely rounded or truncate, convex, usually slightly enlarged and thickened in fruit. Flowers & fruits: Jan.-April. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Operculina terpenthum*** (L.) Manso: An extensive climber. Stem triangular in three portions. Leaves ovate, apex subacute, base cordate. Flowers one or a few together. Corolla white, campanulate. Capsule globose, enclosed in hairy sepals. Flowers & fruits: Oct.-Jan. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus. Medicinally important in treatment of stomach diseases & jaundice.

**SOLANACEAE**

***Nicotiana plumbaginifolia*** Viv.: An erect hairy herb. Leaves forming a rosette at the base, elliptic ovate, sessile, semiamplexicaul, hairy, white dotted beneath. Flowers greenish-white. Calyx-10 ribbed, lobes unequal. Stamens inserted just below the throat of corolla tube. March-Nov. Common weed of agricultural field near Samne Ghat.

***Physalis minima*** L.: An erect, subsucculent herb. Stem angular, ribbed, purple tangled. Leaves ovate, nearly entire, acute or acuminate. Flowers solitary. Corolla yellow, having small spots at the base. Anthers yellow. Berries completely enclosed within enlarged, inflated, membranous calyx. Flowers & fruits: Dec-Jan. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

**SCROPHULARIACEAE**

***Mazus rugosus*** Lour.: Small herbs, often with runners ; leaves rossete or opposite below, opposite or alternate above. Flowers in terminal racemes; Sepals 5, connate in a campanulate calyx ; Petals 5, connate in a shortly tubular, 2-lipped corolla , throat with 2-lobed palate. Stamens 4, didynamons; anthers with distinct, close-lying, divaricate cells. Flowers & fruits: Jan.-April. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Mecardonia procumbens*** (Miller) Small: Glabrous herbs; leaves often punctate, entire or toothed, or submerged and multifid. Flowers axillary or racemose ; Sepals connate below in a 5-partite calyx; lobe imbricate, Petals 5, connate in a 2-lipped corolla.. Flowers & fruits: Jan.-April. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Scoparia dulcis*** L.: An erect much branched herb. Leaves simple, opposite or whorled, oblanceolate-oblong, tapering base, serrate. Flowers white, on slender pedicels, in terminal panicles. Calyx 4- Partite. Corolla white, 4-lobed. Stamens-4, subequal, filaments glabrous. Capsule subglobose. Flowers & fruits: Aug.-Dec. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Verbascum chinensis*** (L.) Santapau: An erect pubescent herb. Stem unbranched except towards the inflorescence. Radical leaves short petioled, rossete forming, lyrate pinnatifid; cauline leaves smaller, ovate or oblong, toothed. Flowers bright yellow in simple or branched racemes. Calyx hairy deeply divided. Corolla tube short, stamen 5. Fowers & fruits: Nov.-April. Common in agricultural field of Ramnagar.

***Veronica anagalis- aquatica*** L.: An erect or decumbent ascending glabrous herb. Stem fistular. Leaves sessile, lower petiolate, subentire to serrate. Flowers whitish or pinkish, in bracteates racemes. Calyx lobes 4, unequal. Corolla purplish white, lobes 4-5. Stamens 2, anther lobes confluent. Stigma subcapitate. Flowers & fruits; Jan.-April. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

**ACANTHACEAE**

***Peristrophe bicalyculata*** (Retz.) Nees: An erect or suberect much branched herb. Stem 6-angled, swollen at the nodes. Leaves ovate, acute or acuminate, short petioled, hairy. Flower pink to white, trichotomously branched, final branches bearing two sessile flowers, of which one is usually abortive. Flowers & fruits: Sept.-March. Common weed of agriculture farm near Bypass Road.

***Rungia pectinata*** (L.) Nees: A diffuse or erect herb. Leaves elliptic or narrowly lanceolate. Flowers small, bluish-purple, in one sided short spikes, with two rows of imbricate barren, ovate to lanceolate bracts and two ventral rows of obovate fertile bracts. Corolla white, bilipped. Stamens 2, lower anther lobe with a long white appendage. Capsule ellipsoid. Flowers & fruits: Nov.-March. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

**VERBENACEAE**

***Lippia javanica*** **(**Burm.f.) Spreng.: A lemon scented

shrub. Stem weak. Leaves opposite, simple, oblong-lanceolate Flowers pinkish purple, in axillary peduncled spikes. Bracts ovate, acuminate. Calyx deeply 2 lobed, hairy. Corolla with 5 unequal lobes. Fruits spilliting into 2 pyrenes. Flowers & fruits: Oct.-March. Common weed of agricultural field of Samne Ghat.

***Phyla nodiflora*** (L.) Greene: A much branched creeping perennial herb rooting at the nodes. Leaves spathulate, serrate, obtuse. Flowers pale-pink, small, sessile, in dense, long peduncled axillary heads. Pyrenes two. Flowers & fruits: Nov.-March. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

**LAMIACEAE**

***Anisomeles indica*** (L.) Kuntze: A robust strongly scented erect branched herb. Stem 4 angled. Leaves ovate, cordate, serrate. Flowers sessile, bright red, in axillary many flowered whorls forming a dense interrupted spikes. Calyx teeth-5. Corolla bluish purple, upper lip ciliate. Flowers & fruits: Sept.-Jan. Common weed of agriculture farm near Bypass Road.

***Hyptis suaveolens*** (L.) Poit: A branched aromatic herb . Stem 4-angular. Leaves ovate, cordate, hairy, denticulate. Flowers small, blue or purple, 2-4 together in bracteates axillary cymes. Calyx campanulate with 5-teeth. Corolla 2-lipped. Flowers & fruits: Sept.-Jan. Common weed of agriculture farm of BHU campus.

***Nepeta hindostana*** Haines: An aromatic herb. Stem 4-angled. Leaves ovate, crenate or serrate. Flowers bluish purple, in stalked, an interrupted raceme like inflorescence. Bract linear. Upper 3-calyx teeth triangular, 2-lower smaller. Flowers & fruits: Oct.-March. Common weed of agricultural field of Samne Ghat.

***Salvia plebeia*** R.Br.: An erect aromatic deep rooted annual herb. Stem 4-angular. Leaves oblong lanceolate. Flowers bluish white, small in panicled. Bracts reflexed. Perfect stamens -2, anther cells widely separated by lever like connective. Nutlets minute, ovoid, brown. Flowers & fruits: Dec.-June. Common weed of agriculture field near Bypass Road.

**MONOCHLAMYDEAE**

**AMARANTHACEAE**

***Aerva lanata*** (L.) Juss.ex Schultes**:** An erect diffuse or prostrate herb. Leaves petiolate, alternate, elliptic ovate, or suborbicular, entire white wooly beneath. Flowers greenish white, minute,in small dense axillary heads. Perianth apiculate. Stamens 5, stigma bifid. Utricle ovoid. Seeds reniform. Flowers & fruits:Sept.-Jan. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Celosia argentea*** L.: An erect glabrous annual herb. Leaves alternate, simple, ovate lanceolate, often tinged purple, tapering at ends into short petiole or sessile. Flowers pale pink when young, in long peduncled densely crowded spike. Tepals 5, stamens 5, staminodes absent. Flowers & fruits:Sept.-Feb. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Digera muricata*** (L.) Mart.**:** An erect or prostrate herb. Leaves petiolate, ovate-lanceolate. Flowers white tinged with pink, in long peduncled spikes. Bracts and bracteoles ovate oblong. Two sterile flowers reduced to scales. Flowers & fruits: Aug.-Dec. A weed of cultivated field of agricultural farm of BHU campus. Flowers & fruits used in treatment of urinary disorders.

**CHENOPODIACEAE**

***Chenopodium album*** L.: An erect or ascending annual herb. Stem angled, red tinged. Leaves ovate to lanceolate, entire. Flowers in short axillary spikes, minute, green. Perianth 5-lobed, connate at the base. Stamen slightly exserted. Styles 2. Seeds black, shinning and smooth. Flowers & fruits: March-Sept. Common winter season weed of agricultural farm of BHU campus.

**BASELLACEAE**

***Basella alba*** L.: A glabrous succulent twinner. Stem pinkish green. Leaves ovate or orbicular. Spikes axillary. Floral buds pink at the apex. Fruits with pulpy juice. Flowers & fruits: Aug.-Dec. Common weed of agricultural farm of BHU campus.

**POLYGONACEAE**

***Polygonum barbatum*** **var.** ***barbatum*** Khan & Hassan: An erect or ascending herb. Stem erect. Leaves lanceolate, acuminate, ochreate tubular, ciliate, cilia equaling or longer than tube. Racemes erect. Flowers white, in erect racemes. . Flowers & fruits: Aug.-May. Common weed of agriculture field of Bypass Road.

***Polygonum glabrum*** Willd.: An erect, glabrous, annual herb. Stems tinged with red. Leaves lanceolate, acuminate, glabrous, ochreate nonciliate. Racemes erect. Flowers pink, in erect racemes forming a terminal panicle. Perianth nonglandular. Flowers & fruits: Sept.-April. Abundantly growing in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Rumex dentatus*** L.: An erect, deep rooted, glabrous annual herb. Roots red coloured. Stem often tinged with red. Leaves oblong-linear lanceolate, rounded or cordate below, glabrous. Flowers pedicellate, greenish, bisexual, in leafy or leafless verticillaster clusters. Perianth biserriate, inner segments broadly ovate, tubercled on back.

Flowers & fruits: Jan.- June. Common weed of agriculture farm of B.H.U. campus.

**EUPHORBIACEAE**

***Chrozophora rottleri*** (Geiseler) Juss.ex Spreng.: An erect annual herb. Leaves ovate to orbicular with 3 rounded lobes, stellate hairy, margin crenate, densely tomentose. Flowers yellow, monoecious , in raceme. Stamens 15, in 2 whorls (10+5). Female flowers with short styles, stigma red. Capsule stellate hairy. Flowers & fruits: Jan.-June. Abundantly found in agricultural field of Samne Ghat.

***Euphorbia dracunculoides*** Lam.: A glabrous, dichotomously branched, deep rooted herb with watery juice. Leaves sessile, lower alternate, upper opposite, sessile, linear to linear lanceolate, 2-3 at each node. Involucres subsessile, solitary, glands-4. Flowers pale yellow. A common Winter season weed of field crop in agricultural field of Sunderpur areas.

***Euphorbia thymifolia*** L.: A prostrate annual herb. Leaves very small, glaucous, opposite, oblong, obtuse, crenulate, stipules fimbricate. Involucres minute, solitary axillary or 2-3 together, greenish or pinkish, glands minute. Capsule erect. Seeds quadrangular. Flowers & fruits: Dec.-March. Common weed of agriculture farm of Sunderpur areas.

**MONOCOTYLEDONS**

**LILIACEAE**

***Asphodelus tenuifolius*** Cav.: An annual stemless herb. Leaves terete, hollow sheathing at the base. Scapes several from the roots. Flowers whitish, in lax racemes. Stamens trigonous. Stigma small, minutely 3-lobed. Flowers & fruits: Jan.-May. Frequently found in the agricultural farm of B.H.U. campus.

**CYPERACEAE**

***Cyperus cyperoides*** (L.) O. Kuntze : A slender grass like sedge, upto 75cm height. Stems several on a short creeping rhizome. Leaves often exceeding the stem. Spikelets spirally arranged in cylindric spikes. Flowers & fruits: Aug.-Dec. Common weed of agricultural farm of B.H.U. campus.

***Cyperus deformis*** L.: A small hedge like plant, leaves all towards the base of the stem; spikelets in solitary or umbelled heads, nut brownish rounded, trigonous at the top. Flowers & fruits: Feb.-June. Common weed of agricultural farm of B.H.U. campus.

***Cyperus flabelliformis*** Rottb.: An erect stout palm like sedge, upto 120 cm high. Involucre leaves 15-20, prominently nerved, much exceeding the umbel. Umbels numerous, crowded at the top. Spikelets compressed. Glumes speculate, imbricate. Flowers & fruits: Nov.-May. Common weed of agricultural farm of B.H.U. campus.

***Cyperus niveus*** Retz: A glabrous sedge, the woody rhizome made up almost wholly of the nodose bases of the 1-seriate stems, spikelets 3-12 in a lax head. Flowers & fruits: March-June. Common weed of agricultural field of Ramnagar.

***Fimbristylis shoenoides*** Vahl.: A tufted sedge. Stem slender, striate. Leaves narrow, filiform, sheath with membranous margin. Spikelets solitary, sometimes 2-3, ovoid, blunt, pale. Flowers & fruits: Jan.-March. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

**POACEAE**

***Brachiaria ramosa*** (L.) Stapf.: An annual herb with erect or ascending stem, branching from the base. Leaves linear-lanceolate. Panicle sub-pyramidal, rachis terminating in a spikelet. Flowers & fruits: June-Oct. Commonly found in moist condition of Agricultural farm of B.H.U. campus.

***Chloris barbata*** Sw.: Annual or perennial grasses; leaves flat or convolute, stamens 3 ; styles free; stigmas laterally exserted. Grain narrow, free. Flowers & fruits: Mar.-Dec. Commonly found in agricultural field near Samne ghat..

***Coix lachryma-Jobi*** L.: Tall, leafy grasses; stems branching, spongy within; leaves long flat, wide. Spikes many, axillary and terminal; lower Spikelets solitary, nut-like bract, through the apex of which the pedicelled male portion of the spike protrudes. Flowers & fruits: Feb.-May. Commonly found in agricultural field near DLW.

***Dactyloctenium aegypticum*** (L.) Willd.: An annual decumbent or ascending grass. Leaves linear, flat, distichous , acute or acuminate. Spikes 2-6 together, radiating from the top of the culm. Flowers & fruits: June-Sept. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Dichanthium annulatum*** (Forssk.) stapf.: A perennial tufted grass. Leaves linear, acuminate, hairy on both surface. Inflorescence panicled or subdigitate, of 2-12 racemes. Joints and pedicles hairy. Sessile spikelets hermaphrodite, imbricate. Flowers & fruits: Aug.-Feb. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Digitaria ciliaris*** (Retz.) Koeler.: An erect or decumbent annual grass. Leaves linear. Spikes-2 or more, spikelets oblong, acute, appressed to the rachis, binate, pedicel of one row shorter than the other. Flowers & fruits: July-Oct. Commonly found in agricultural field of Ramnagar.

***Echinochloa colonum*** (L.) Link: An erect or decumbent rooting annual grass. Leaves linear, flat, glabrous. Spikes 8-20, sessile, suberect, appressed to axis, usually distant. Flowers & fruits: June-Dec. Commonly found along pond of agriculture farm of B.H.U. campus.

***Eragrostis tenella*** (L.) Beauv.ex Roemer & Schultes: A tufted annual grass. Leaves linear, tapering to end; sheaths long ciliate near the mouth. Panicles loose to open , purplish green. Spikelets oblong, upper glume similar to lower. Flowers & fruits: July- Feb. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Imperata cylindrica*** **(**L.) Beauv.: An erect polymorphic perennial grass. Bearded at the nodes. Rhizomes deep seated, creeping. Leaves flat, lanceolate, ciliate towards base. Inflorescence silvery white, dense panicle of many branchlets and many spikelets. Flowers & fruits: Oct.-Jan. Commonly found in agricultural farm of B.H.U. campus.

***Polypogon monspeliensis*** (L.) Desf.: Annual or perennial, soft, erect grasses; leaves flat. Spikelets minute, 1 –flowered. Grain obovoid; clavate, free within the glume. Flowers & fruits: Dec.-March. Commonly found near Samne Ghat.

***Saccharum bengalense*** Retz.: A small perennial wild grass, forms extensive root network that binds the soil/pebbles and forms tall thick clumps with high biomass tufts. Inflorescence a panicle, spikelets not paired, hermaphrodite. Flowers & fruits: Dec.-March. Commonly found in Agricultural farm of B.H.U. campus.

***Saccharum spontaneum*** L.: A tall perennial tough grass with erect culms, hairy on nodes. Leaves very long, narrow, linear, acuminate. Inflorescence silvery panicles. Spikelets paired, one pedicelled, the other sessile, 1-flowered, hermaphrodite. Flowers & fruits: Oct.-Jan. Commonly found in agricultural farm of Ramnagar.

## Conclusion

The documentation of winter season weed species of agricultural crops in B.H.U campus and adjoining areas would be helpful to agriculturists in searching suitable control measure particularly for those which are responsible for reduction of crop productivity. Efforts should be made towards elimination of weeds which are invasive alien in nature causing human diseases. The ethno-medicinally important weeds should be further subjected to pharmacogical investigations for their proper application as herbal medicine. The key characters of the weeds mentioned in the article would be helpful for their proper identification.

## References

1. Dubey,N.K. 2004. Flora of BHU Campus, Publication cell BHU.
2. Duthie J.F. 1903-1929. Flora of Upper Gangetic Plain and of the Siwalik and Sub-Himalayan Tracts. Vol.1-3 (Compiled by Parker R.N. and Turill W.B.), Calcutta.

◆

# NATIONS IN DISTRESS: UTOPIAN AND DYSTOPIAN POSSIBILITIES IN SALMAN RUSHDIE'S *MIDNIGHT'S CHILDREN* AND *SHAME*

***PALLABEE DASGUPTA* AND PROF. M.S. PANDEY*****

Nations are generally believed to be an ahistorical phenomenon that has always been a product of the human consciousness from the very beginning. However, historians such as Ernst Gellner, Elie Kedourie argue that nations are products of modernity, born in the age of Enlightenment as a result of the centralized state bureaucracy and liberal education in the aftermath of the Industrial Revolution (Gellner 1983). This modernist view has been contested by the perennial theories of nation studies which contend that nations are still-evolving entities, identifiable through the distinct ways of living (e.g. language or culture) of a community and its attachment to a particular territory. The third group of scholars i.e. the ethicists, led by Anthony D.Smith stress more on the role played by the community in nation formation. In this, Hutchinson's description of an ethnic nation is much more pertinent for any discussion about postcolonial nations, as an "ethnocultural community shaped by shared myths of origins, a sense of common history and way of life, and particular ideas of space that endows its members with identity and purpose"(7). Modernist historians such as Elie Kedourie (1993:23) associate nation formation with Kantian self-determination and state that, it is only when the individual will fits with the collective will that the individual can truly become a citizen of the nation. This citizen of the modernist state propagated by the European imperialism is essentially masculine, rational and self conscious. Though much influenced by the western model, the idea of nationhood and nationalism has received crucial critical analysis in the postcolonial perspective, especially in the aftermath of decolonization. While critics like Ngugi Wa Thiongo or Frantz Fanon emphasized on local agency, critics like Bhabha and Spivak analyze nation and nationalism in a postmodern framework. Nations it seems, have not changed in the postmodern age,as all the parameters of nation such as kinship and political autonomy have remained the same, but the advent of transnationalism and post-nationalism entails that the modern European regime that rules all over the world is not bound by any national boundaries. In the South-Asian region, most nations are characterized by poly-ethnic communities living as "imagined communities" (Anderson 1983) in an essentially transnational age. It is this unique way of living together as a nation that has been analyzed by writers such as Salman Rushdie and others who write from the intersection of the postcolonial and the postmodern. Most of Rushdie's fictions engage in an active revisioning of history, and as Linda Hutcheon calls belong to the category of "historiographic metafiction" a new postmodern genre, that is "both intensely self-reflexive and yet paradoxically also lays claim to historical events and personages" which wants to be "accurately historical" and also characterized by the "theoretical self-awareness of history and fiction as human constructs" (A Poetics of Postmodernism 5).

But writing about nation and nationalism in India, shared its aspirations with another genre of literature i.e. Utopian writings. The ideas of utopia and dystopia are resonances or modes of thought that have always been ingrained in the human consciousness. These are concepts which offer infinite possibilities for human development or degradation. First brought into popular parlance in the west, they are by no means limited to Eurocentric thought and have become one of the most resonant political, rhetorical and literary concepts of our age. In the anti-colonial period, they offered the native thinkers to dissociate themselves from the immediate reality and participate in imagining a new order. Thus utopian writings both fictional like W.E.B Du Bois's *Dark Princess* (1928) or political like Gandhi's *Hind Swaraj* (1909) engage in what the anthropologist Richard Fox has called "affirmative orientalism" (1989), a celebration of their native qualities.

Thus, most of the anti-colonial political literary output in India such as Lala Lajpat Rai's *Young India* or *The Modern Review* by Ramananda Chatterjee not only vehemently opposed the colonial rule but were effectively utopian in nature, as they examined questions of education or production in the imagined nation. The nations, deliberated in these journals are imaginary and communally defined, qualities which Anderson ascribed to in his *Imagined Nations* (1983). Gandhi's various *ashrams* were experiments of political utopias built on the principles of *Sarvodaya* and *Swaraj*. But the utopian ideas of nation formation were also associated with religious bliss. For instance, Gandhian politics in India

* Research Scholar, Department of English, Banaras Hindu University.

** Professor, Department of English, Banaras Hindu University.

repeatedly referred to the doctrine of *Ram-Rajya*, which later gave rise to the Hindutva politics in India or theories of monotheism that resulted in the partition of the nation. But any discussion about utopia cannot be separated from its Janus-face, dystopia.

Dystopias of the twentieth century, in South Asia are generally related to the failure of the nation state to fulfill its obligations towards its citizens after decades of independence. The dystopian state is often characterized by repressive corrupt state machinery, rendering its citizens unequal treatment on the basis of their gender or financial position or taking away their fundamental rights on the pretext of national unity or security. Utopia and dystopia have therefore become sites of paradoxes, which can never be separated from the lived realities of postcolonial nations. In fact, Barnita Bagchi refers to how the concrete universals of utopia and dystopia can illuminate discussions on critical issues of colonialism, imperialism, gender, politics etc (2012:5). This is because utopian communities are often built upon on histories, myths, stories and narratives, which have to be rescued and reconfigured to have a holistic appeal. On the other hand, such utopian dreams often turn into dystopias when the utopian ideology is twisted to fulfill personal aims.

These depictions of nation-states as sites of utopia and dystopia are found in several writers of post-colonial India who are concerned about the changing nature of the democratic state in the subcontinent. A colossal figure among them is Salman Rushdie who has explored issues such as migrant identity, personal history etc. through an eclectic postmodern style. His Booker prize winning novel *Midnight's Children*(a novel about India) along with the two after it, *Shame*(a novel about Pakistan) and *The Satanic Verses* (a novel of migration) is often considered as a loose trilogy (as Roger Y. Clark, the author of *Stranger Gods* reads them) as they deal with fundamental questions about nations, migration, religion etc. In these novels, Rushdie analyses the postcolonial nations, as sites of promise and betrayal, as entities whose very foundation were unstable as they strove for a singular identity, homogenizing all other kinds of dissent. Theoretically, nations for all their benign utopian aspirations have an inherent destructive nature. Partha Chatterjee stresses on the same when he states that the nation state, "has been the cause of the most destructive wars ever seen; it has justified the brutality of Nazism and Fascism; it has become the ideology of racial hatred in the colonies and has given birth to some of the most irrational revivalist movements as well as to the most oppressive political regimes in the contemporary world"(1986:2). Such notions of Nations and nationalism, originating in the west have perpetuated the colonial oppression in the world. Rushdie further satirizes this in his *Midnight's Children* and *Shame*, where the two nations India and Pakistan have gained independence from Britain, but their citizens are still enslaved as power is simply transferred from the colonial masters to the elite-ruling class of the nations. In this, the nation becomes utopian for one section and dystopian for its minor communities, women or migrant population. Nation-states are therefore reduced to the "utopia you must be careful not to wish for" (Roth 230).

***Midnight's Children*: A Utopia of Plurality**

*Midnight's Children* (1981), Rushdie's epic historical novel spanning across four generations of the Aziz family mentions major incidents in the national history from the Jalianwallah Bagh massacre to India's independence and subsequent formation of Nehru's socialist democratic state to the creation of Bangladesh and the crisis of the state under the emergency period in Indira Gandhi's regime and relates that to the personal history of the individual. Prior to Rushdie, national history was supposedly a linear meta-narrative which gave voice to the dominant empression. It was only with *Midnight's Children*, that personal narratives were given importance. Here, Saleem's narrative, though at times unreliable and unhistorical is given importance over the national and colonial history. The novel therefore becomes an exemplar instance of a new kind of novel that allowed all communities to celebrate their own personal histories rather than subsume themselves in the official history. In the narrative, the fictional world therefore embodies a utopia where diverse voices can be represented while its narrative techniques prioritize the individual and his aspirations over that of that nation.

In *Midnight's Children*, it is not only Saleem but his thousand and one age mates, born between twelve am and one am (whose numbers reduce to five hundred and eighty-one by the time they reach the age of ten), are the allegorical creatures of newly born India, who embody the Indian nation in the novel. So, there are two allegories that speak for the nation. First is the narrator Saleem himself, who informs the readers early on, that he has been chosen to represent the newly born Indian nation, "...at the precise instant of India's arrival at independence …I had been mysteriously handcuffed to history, my destinies indissolubly chained to those of my country...Soothsayers had prophesized me, newspapers celebrated my arrival, politicos ratified my authenticity. I was left entirely without a say in the matter" (MC 9). In fact the Prime Minister Nehru's letter on his birth, asserts

on the more indissoluble ties between baby Saleem and the nation, "You are the newest bearer of that ancient face of India which is also eternally young. We shall be watching over your life with the closest attention; it will be in a sense, the mirror of our own" (MC 122). The trope of the mirror as well as Saleem's body handcuffed to history reduces Saleem to an inane subject passively reflecting the will of others. As the eternally young ancient state, Nehru supports the view of India as a young body that looks forward and also backward to legitimize its past. In this, Saleem's body is destined to embody the nation as a perfect entity, denying any cracks or fractures in its narrative. This puts Saleem in a pedestal, unable to fulfill his role and yet forced to bear the burden of representation. His body and even his face, for instance, in the geography class where his teacher traces the political contours of the nation, becomes, "a place where meaning is enacted"(Brooks 38). Thus, Saleem's body cracks as he narrates his story to Padma and gradually it disintegrates at the end of the novel.This fragmentation is paralleled by India's fragmentation along religious, linguistic and cultural lines, which results in the formation of India, Pakistan and Bangladesh.

In this novel, Rushdie raises the idea of multiplicity, the India of many voices, of many truths and yet ambivalence remains. Rushdie is an avid believer of a unified India but at the same time, he parodies the notion of a central nation-state that attempts to represent all its children. His ridicule is directed at Congress, the ruling party of the newly independent nation which eventually became an umbrella party accommodating the differing kinds of opinions from all over India similar to Saleem's "lok sabha or parliament of my brain" (MC 116) as a common space for the children to communicate with one another. It is his and Rushdie's idealism that speaks forth when he addresses his age-mates, "we must think...what we are for"(MC 117).The only things that frighten him is fragmentation brought about by the collapse of the centre and the triumph of his arch-rival Shiva over his true hereditary legacy and leadership among the children. But Saleem's vision of a unified India is nothing extraordinary as it is an optimism shared by the author and many other people of his generation. Infact, Richard Cronin suggests that Saleem can only envision a unified India, "because he is an outsider that India seems one to him and he can aspire to encapsulate the whole of it"(201-202).Besides, Rushdie does not completely accept the myth of unification; he repeatedly valorizes the aspect of multiplicity that runs through the novel as well as highlights the inevitable fragmentation. For instance, the disintegration of the unity of the nation is mirrored in the growing fragmentation in the council of the children. This fissure only broadens as Saleem notes the condition of his generation and their ideals at the end of the novel, "They will trample me underfoot…reducing me to specks of voiceless dust…because it is the privilege and the curse of the midnight's children to be both masters and victims of their times, to forsake privacy and be sucked into the annihilating whirlpool of the multitudes, and to be unable to live or die in peace" (MC 463).

Saleem embodies the diversity which is at the heart of India. Born of Anglo-Indian heritage, raised in a Muslim household with colonial education, he offers a contrast to of attempts at containing India's plurality on grounds of religion or language. His powers of telepathy allow him to transgress across several individuals in different geographical places. This points out to the essentially permeable nature of nations, where borders are frequently dissipated or re-arranged.

The novel simultaneously challenges and reinforces the dominant model of Indian nationalism and is, ultimately unable to move out of the framework of the nation. Nehru's promise has come to an end and the country must fashion a new ideals to move with more challenges in a neo-colonial setup. The challenge, therefore, is to break official narratives of history and recover the new voices and form appropriate new forms to give meaning to the fragmented realities and forms of knowledge. The narrative is marked by several historical inaccuracies or omission of important events like Gandhi's death. Rushdie deliberates on the question of history, stating that history is not a concrete absolute as it is also influenced by the perspective or experience of the individual. Moreover, it is influenced by some ideology, of power acting upon individuals. History in itself is undercut by several discourses- the personal, the political or the social. Fictions provide alternative versions of the past and question the objective nature of official histories. Rushdie asserts this in his essay "Imaginary Homelands" (1991), when he writes that, "writers and politicians are natural rivals. Both groups try to make the world in their own images; they fight for the same territory. And the novel is one way of denying the official politician's version of truth"(14).

Rushdie presents the debilitating effects of political repression and singular narratives, in the context of the constitutional crisis of the Emergency period of India, where the midnight's children are captured and forcibly sterilized to eliminate any threat to one person's authority or when Saleem is caught in the war of the two

neighbouring nations over the formation of a third nation. In contrast to Saleem who becomes the allegory for India, his sister Jamila,formerly known as the 'brass monkey' becomes the national voice of Pakistan, "Pakistan's angel", "the Bulbul-e-din or nightingale of faith"(MC 313). Her voice is appropriated by Pakistan, to speak about "blind and blinding devoutness...right or wrong nationalism" (MC 314). The official representative of the nation on behalf of the collective we, converts her voice into a religious metaphor proclaiming, "your voice will be a sword for purity; it will be a weapon with which we shall cleanse men' soul."(315).This foreshadows the violent politics over purity and honour which unfurls itself in the dystopian political scenario of another utopia gone wrong in his next novel, *Shame*.

***Shame*: Allegory and Nation Formation**

"There is a genuine need for political fiction, for books that make new and better maps of reality, and make new languages with which we can understand the world…it becomes necessary to grapple with the problems created by the incorporation of political material, because politics is by turns farce and tragedy, and sometimes both at one." (Rushdie 1984:94)

Rushdie's *Shame* (1983), written three years after *Midnight's Children* is yet another postmodern fiction employing generic features such as hybridity, allegory, magic realism etc, but is more grim in nature, a "simply meaner, seedier, bad joke" (Brennan 123).*Shame* allegorizes Pakistan and especially its political events of 1970-80 to disclose the essentially farcical and tragical nature of its politics. The author presents Pakistan as an artificial construction, plagued by corruption, religious fanaticism and oppression of its women and migrant population.

The idea of Pakistan was based on the myth of purity. Many Muslim leaders and intellectuals under the aegis of the Muslim League sought out a homeland, free from the religious and political oppression of the Hindus. Pakistan was born as a result, on 14th August 1947, preceded by years of brutal riots and atrocities in the aftermath of partition. While India presented herself as a secular nation embracing diversity, Pakistan was exactly the opposite. Made of two geographical areas, East Pakistan and West Pakistan separated by the landmass of India, the nation was united only on the basis of religion. The idea of shame and honour, repeated several times in the narrative is central to the nation. The political structure in Pakistan is also a centralized authoritarian one, dominated by a single party or leader. This kind of a nation can only be created by violence and repression. The political leaders of the nation therefore, use violence and that too, in the rhetoric of faith to propagate and justify their actions.

Rushdie's narrator also traces the etymology of the name of the nation indicating that the word was born in exile setting on a partitioned land, forming a palimpsest on the past (S 85-86). In this context, the word 'palimpsest', originally used to refer to manuscripts on which the text was removed and written, refers here to the sudden emergence of a Muslim nation with new histories for its people. The narrator says, "to build Pakistan it was necessary to cover up Indian history, to deny that Indian centuries just lay beneath the surface of Pakistan Standard Time. The past was rewritten; there was nothing else to be done."(S 85-86)

The story begins in a nameless imagined nation, which despite all its similarities with Pakistan is not exactly Pakistan. The narrator says, "there are two countries, real and fictional, occupying the same space, or almost the same space. My story, my fictional country exist, like myself, at a slight angle to reality" (S 22).The nation is imagined through several postmodern spaces and there are several allegories standing for the country. The opening scene itself, in its isolating existence of the three Shakil sisters aloof from the rest of the world is a metaphor for the nation, both real and imagined existing in a segregated land. The narrator locates the precariousness of their existence, "equidistant from the bazaar and the cantt." (S 40) where the cantonment is the space of the colonizers-derided yet envied, while the bazaar is symptomatic of the oriental colonized subject. The colonizers occupy the Hotel Flashman, the source of all celebrations and gaiety as opposed to the "enormous, silent house" (S 106) of old Shakil. Needless to say, after years of paternal repression, the three sisters give into temptation and throw a frivolous party, the invitees of which are all from the hotel. The entry of the colonizers with their music symbolizes the entry of the colonized master into the body and subjectivity of the Other, the colonized. This results in the pregnancy of one of the sisters and the inception of the trope of shame in the novel-the sisters shut themselves in the mansion, equally bearing the burden of the illegitimate motherhood and communicating with the outer world only through the dumb waiter. Here shame becomes a collective experience for the sisters and results in the birth of the protagonist of the novel, Omar Khayyam Shakil, "dizzy, peripheral, inverted, infatuated, insomniac, stargazing, fat" (S 18), who much opposed to the culture of the country is unable to feel the debasing and violent emotion of shame.

The essentially fragmentary and palimpsest nature of the narrative and that of the nation is revealed when the narrative suddenly turns to Sufiya Zinobia:

"This is a novel about Sufiya Zinobia, elder daughter of General Raza Hyder and his wife Bilquis, about what happened between her father and Chairman Iskander Harappa, formerly Prime Minister, now defunct, and about her surprising marriage to a certain Omar Khayyam Shakil, physician, fat man, and for a time the intimate crony of that same Isky Harappa, whose neck had the miraculous power of remaining unbruised, even by a hangman's rope". (S 56)

The previous story of the Shakil sisters get buried under the new narratives, just as the novel itself becomes a palimpsest, "increasingly at war with itself"(S 92). The narrative then veers towards the world of the women, dominated by the matriarch of the Hyder family,the blind and toothless Bariammi. Many critics have drawn parallels with these two subsequent worlds in the narrative, that of the Shakil Mansion, referred to as "the mother country" after the birth of Omar Khayyam and "Bariammi's empire", bustling with life. Stephanie Moss interprets the "mother country" as India before emergency (28) while Sara Suleri argues that Omar Khayyam "was conceived by the three mothers at the moment in time very close to the 1947 partition of India in a town very similar to the border city of Quetta in Pakistan"(180). But both the worlds are feminine in nature, dominated by women, where men can only be temporary guests at midnight or invited to the house. Also, in Bariammi's empire, shame is openly displayed through well-maintained genealogies of children born out of wedlock and scores of illegitimate uncles and cousins written in the back of the Holy Quran. It seems that family openly accepts and takes pride in their illegitimate genealogy. Pride unites the whole family and it is only in narrating the several acts of shame, that the family can initiate a bonding among themselves.

The next allegory representing the nation is the story of Bilquis, the mother of Sufiya Zinobia. Bilquis's father Mahmoud was "the chief administrative officer of a glorious Empire" (S 60), where empire referred to Mahmoud's cinema located in a "city of idolaters […] call it Indraprastha, Puranqila, even Delhi"(S 60), where he showed movies to all religious groups after partition. As a result of which, Mahmood's empire was fulminated and he was killed. Bilquis was left traumatized, clinging to her dupatta for modesty. This is an allusion to the sudden explosion of the British Empire and the subsequent formation of the new nations India and Pakistan. Bilquis, whose name meant purity, embodies the new nation just like Saleem in *Midnight's Children*, albeit in a much more traumatic manner. Captain Raza Hyder,an ambitious military officer who later becomes her husband, then rescues her, and takes her to the newly promised land where she becomes a "new woman, newly-wed, flying to a bright new world"(S 68). The narrator associates Bilquis's predicament with those people who travelled to the newly formed country as a way to escape the violence of partition.

However, the most important character in the novel is Sufiya Zinobia, "The wrong miracle" (S 89), born to Raza Hyder and Bilquis. Sufiya is the miracle born wrong as her father expected a male heir, and certainly not a mentally retarded girl-child. Sufiya's birth, thus shunned by her parents is therefore, the opposite of the joyous celebrations of Saleem's birth in *Midnight's Children*. Her silent blushing is an external manifestation of her suffering as if she personifies the shame of her mother and the nation at large. By the end of the novel, she becomes a ghoulish predator figure killing young men and wreaking havoc on the nation. Her shame is surmised by Aijaz Ahmed to "refer less and less to herself (her femaleness, her mental retardation) or to her family and becomes, almost literally, the conscience of the shameless world"(146). The narrator suggests a close parallel between her body and the text of the nation, suggesting, "Sufiya Zinobia is about this novel" (S 50). A recurring motif in her allegory is that of "headlessness" as she attacks the neck of her victims, tearing their heads off. Her crimes increase in gravity, as she progresses from killing turkeys in a neighbourhood ranch to attacking her sister's fiancé and finally as the mysterious killer, "White Panther" which culminates in the final apocalypse, the inevitable destruction. In contrast to Saleem, for whom the head is the centre of miracle, where he could exercise his power, Sufiya's act seems to be snatching away the same, taking away all subjectivity. Already as a mentally ill child of a powerful political leader who wanted a son, and married off to a literally, "shameless" husband, Sufiya much like the rest of the women characters have not much of representation. Her story can be seen as a alternative to the official Pakistan of the male leaders, "the collective fantasy of a stifled people, a dream born of their rage" (S 291).

In fact, Sufiya's story is not that of a single individual but a combination of several Pakistani expatriates in the West- of a Pakistani girl in London who was killed by her father for allegedly having an intimate relationship with her white boyfriend, another Asian girl who was beaten up by a group of white teenage boys, "afterwards, remembering her beating, she feels not angry but ashamed" (S 119) and another boy from a news article who had combusted of his own account and was found burning in a parking lot. The first instance is especially compelling as it situates shame in a particular cultural context and subsequent cultural conditioning whereupon

even the narrator finds himself understanding the father's position.

Pakistan is shown as a much darker place, because Rushdie himself was a believer of the notion of a unified India. He describes Pakistan as an artificial construction, imagined in the west and then "imposed itself on history" (S 91), a bizarre marriage of East and West. The nation imagined by the forefathers was a democratic country with a space for all ethnic groups united by a common religion. Yet this ideal does not last in the political turmoil of Pakistan. The nation becomes a "non-place" (Marc Augé 1992), where the individual remains anonymous and isolated.

There are essentially two kinds of counter movements that challenge the official discourse of uniformity and unity. First is that of the women, whose storylines run parallel to that of the men and reveal the real repression that women in Pakistan still suffer at the hands of the patriarchy. Thus Bilquis and Rani are abandoned by their husbands, "Good News", Naveed Hyder is reduced to a child-bearing machine who finally ends her life while Arjumand Harappa renounces her femininity to be taken seriously in a man's world. Rushdie is disenchanted with Pakistan for smothering its womankind with exacting standards of honour and propriety. Pakistan's dependence on its masculine and patriarchal dominance causes harm to the nation as a whole. Besides this, the issue of the Mohajir identity remains an unresolved political issue. The mohajirs in Pakistan refer to those physically and culturally estranged people who had arrived at the newly formed nation after partition but were treated as outsiders. This is essentially a failure on the part of the postcolonial state to assimilate its diverse ethnic communities-Punjabis, Sindhs, and Bengalis in its nation formation. This reduces the premise of the nation as a homogenous construct.

Rushdie's *Shame* is therefore an attempt by the author writing from his diasporic position to raise his concern over the nation's unstable political climate.The novel also sheds light on the increasingly important role played by the military in tandem with religious fundamentalist in a democratic nation along with the rise in state censorship and surveillance which threaten to make it an authoritarian dictatorial state.

**Conclusion**

Rushdie's writing encompasses a wide variety of reading from theories of nationalism and violence, South Asian history and the experience of the migration. His fictions re-imagine the political and cultural conditions of India and Pakistan after their independence, analyzing issues both common to these nations such as rise of communal violence or the conflict over Kashmir or incidents of terrorism as well as those events which were particular to these nations such as India's constitutional crisis in the Emergency of 1975 or the politicization of Islam in Pakistan. Rushdie's narratives reconstruct the official representations of these events as they relate to the individual history through his postmodern literary techniques. If his fiction appears to denounce the political achievements, it is only to critically analyse the discourses of freedom, political violence and partition in India.

**Works Cited**


- Ahmad, Aijaz. *In Theory: Classes, Nations, Literatures.* London: Verso, 1994. Print.
- Anderson, Benedict. *Imagined Communities: Reflections on the Origin and Spread of Nationalism*. London: Verso, 1991.
- Augé,Marc. *Non-Places: An Introduction to Anthropology of Supermodernity*.Le Seuil:Verso,1992.Print.
- Bagchi, Barnita. *The Politics of the (Im)possible:Utopia and Dystopia Reconsidered.* Delhi:Sage Publications India,2012. Print.
- Brennan, Timothy. *Salman Rushdie and the Third World: Myths of the Nation.* New York: St. Martin, 1989.Print.
- Brooks, Peter. *Body Work: Objects of Desire in Modern Narrative*. Cambridge, MA: Harvard UP, 1993.Print.
- Chatterjee, Partha. *Nationalist thought and the Colonial World:A Derivative Discourse*.2nd Ed. New York:University of Minnesota Press,1986.Print.
- Cronin, Richard. "The English Indian Novel:Kim and Midnight's Children" .*Imagining India*.New York:St Martin's Press, 1989.Print.
- Fox, Richard G., *Gandhian Utopia:Experiments with Culture*.London: Beacon's Press,1989.Print.
- Györke, Ágnes.*Postmodern Nations in Salman Rushdie's Fiction:Midnight's Children, Shame, and The Satanic Verses*.New York:VDM Publishing, 2010.Print.
- Hutcheon, Linda. *A Poetics of Postmodernism: History, Theory, Fiction.* New York: Routledge, 1988.Print.
- Hutchinson, John. *Modern Nationalism*. London: Fontana, 1994.Print.
- Kedourie, Elie. *Nationalism*. Oxford: Blackwell, 1993. Print.
- Moss, Stephanie. "The Cream of the Crop: Female Characters in Salman Rushdie's *Shame*."*JSTOR*. *The International Fiction Review* 19.1 (1992): 28-30. Web. 28 May 2016.
- Roth, Michael S., "Trauma:A Dystopia of the Spirit". *Thinking Utopia:Steps into Other Worlds*.Eds. Joern Ruesen,Michael Fehr, and Thomas W. Rieger.New York:Berghann Books,2005.Print.
- Rushdie, Salman. *Shame*. New York: Knopf, 1983.Print.
- Rushdie Salman "Outside the whale". *Imaginary Homelands: Essays and Criticism, 1981-1991*.London: Granta, 1992.87-101. Print.
- Rushdie, Salman, *Midnight's Children*. London: Vintage, 1995. Print.
- Suleri, Sara. "Woman Skin Deep: Feminism and the Postcolonial Condition." *Women, Autobiography, Theory: A Reader*. Ed. Sidonie Smith and Julia Watson. Madison, WI: U of Wisconsin P, 1998. 116-25.Print.


◆

# MEMORY DEFICIT IN PERSONS WITH HYPOTHYROIDISM

**VATSAL PRIYADARSHI PANDEY, *PROF. TARA SINGH AND PROF. S.K. SINGH*

Hypothyroidism is a form of endocrine problem which is common not only in India but around the globe. Earlier, it was mostly related to iodine deficiency but now it has been manifested due to different aetiologies. In simple terms it is a disorder of thyroid deficiency which results from structural or functional anomalies in thyroid gland and thyroid hormone synthesis. Globally conducted epidemiological studies have shown that the prevalence of hypothyroidism is about 1% to 2% with higher commonality among older people[25]. Moreover, these findings are primarily from iodine sufficient places which thus shows the change in disease pathogenesis. An Indian epidemiological study found a prevalence rate of about 10.95% where, Kolkata had the highest prevalence rate as compared to other cities namely Ahmedabad, Bangalore and Hyderabad[24]. The study also found that the reported prevalence rate of hypothyroidism was highest between the age of 46 to 54 years. Also, females outnumbered males in development of hypothyroidism.

Hypothyroidism can have different etiological genesis,[8] have given some causes of hypothyroidism which are as follows:

1. Congenital: such as aplasia, hypoplasia, thyroid ectopy, defect of hormones' synthesis and effects
2. Acquired: such as autoimmune thyroiditis, iodide deficient diet, thyroid ablation (as a consequence of radiation, surgical interventions etc.)
3. Pharmacological: iodide, propylthiouracil, methimazole, lithium, thiocyanate etc.

Among the aforementioned causes autoimmune thyroiditis is now one of the common cause of hypothyroidism in iodine sufficient regions[25]. Autoimmune thyroiditis is a case of abnormal thyroid antibody generation. In this, the body's defence system starts destroying healthy tissues which is results in destruction of thyroid gland and thereby inducing hypothyroidism.

However, regardless of the cause hypothyroidism has some common symptoms which are as follows:

- Fatigue.
- Weakness.
- Weight gain or increased difficulty losing weight.
- Coarse, dry hair.
- Dry, rough pale skin.
- Hair loss.
- Cold intolerance.
- Muscle cramps and frequent muscle aches.

Diagnosis of hypothyroidism is mostly based on sophisticated thyroid immunoassays which can assess the amount of free thyroxine (FT4). Which is essentially the unbound thyroid molecule that is freely floating in the blood stream. In case of diagnosing hypothyroidism this unbound thyroxine is considered to be a good measure of thyroid hormone functioning since it is unaffected by the changes in other hormones (Garber et al., 2012). Another parameter which plays a pivotal role in diagnosing hypothyroidism is thyroid stimulating hormone (TSH) which seems to be considered an important marker of diagnosing thyroid disease[23]. On the basis of these two parameters hypothyroidism can be further divided into subclinical and overt form. Where subclinical type of hypothyroidism is related to higher TSH levels with subnormal T4 level. In case of overt form of hypothyroidism there is a increased TSH levels with low FT4 levels.

**Memory deficits**

Much research has been conducted on the issue of memory problems in hypothyroidism though less has been found about how these deficit really manifest on the behavioural ground. Researchers have found many deficits on clusters of memory functions where subjects have underperformed. For some cases it has been seen that these deficits are reversible but this is yet another area of contention. We'll be making some insinuations about what kind of problem these deficits would cause on the everyday life of the patient.

It was found in one study that subjects with subclinical form of hypothyroidism had impaired logical memory as assessed by Wechsler memory scale[1]. Logical memory tasks requires the subject to store the given material in a more economical way which is leveraged by the organizational skills[5]. Thus, it can be inferred that lower performance on this measure can be attributed to poor organizational skills.

Two studies have found deficits in verbal memory in patients with hypothyroidism[10,11,26]. Moreover, these studies have found a peculiar form of deficit where pa-

* Department of Psychology, Faculty of Social Sciences, Banaras Hindu University.
** Department of Endocrinology and Metabolism, Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University.

tients were not able to recall verbal material for long and short delays or been provided with category cues, which is suggestive of particularly encoding deficits. It can be inferred from these findings that patients may have problem remembering verbal materials such as grocery list or names.

Studies have consistently found that the hypothyroidism induces working memory impairment which is reversible[16,17,28]. Working memory is often referred to as random access memory of human cognitive processes. Thus, impairment in this domain can cause trouble in managing information in cognitively demanding tasks for instance one of the obvious example is remembering phone numbers without having a pen and paper. Also, one study found impairment in spatial working memory among patients with subclinical hypothyroidism[27]. Spatial working memory seems to play an important role in navigation through an unfamiliar place or even giving directions thus, people with impaired spatial memory may have trouble in finding a place or even following directions.

One study has found impaired visual memory which was assessed by Rey–Osterrieth Complex Figure Test[3]. This test requires the subject to draw a complex figure followed by a three minute delay with a recall phase of drawing the figure using one's own memory. The test assesses visuocontructional ability, organizational skills and visual memory. Here again the study reiterate that hypothyroidism induces deficits in organizational skills. Visual memory serves an important role in writing and reading verbal material[18]. Thus, it can be inferred that patients suffering from hypothyroidism can have difficulty in reading or writing. More specifically, they may have problems in spelling the words correctly which could be a manifestation of visual memory deficits[18].

It is important to note that few studies have shown reversibility of these memory functions after achieving euthyroidism which is a state of normal functioning thyroid gland. A writer has given evidence that deficit in logical memory is reversible after achieving a euthyroid state[1]. Similarly, other author's also found that the deficits observed in verbal memory was reversed following treatment with thyroid replacement therapy. In case of visual memory the authors found that there was full recovery following treatment among subclinical group while in case of overt group the deficit remained unchanged[3,10,17]. Though the current evidence shows that these memory deificits were reversible, a recent review quoted that cognitively whether the functions are reversible or not is a point of contention[15]. However, our review did not show at least in terms of memory. Futhermore, it is to be noted that the reversibility and severity of memory deficits may differ from patient to patient since there are some other factors such as age, education, thyroid hormone status etc. may "moderate" the cognitive sympotomatology.

**Brain, Memory and Thyroid**

Relation of memory with the brain is linked with hippocampus or in a broader sense hippocampal formation which consist of hippocampus and dentate gyrus. Hippocampus consist of three layers namely external plexiform layer, stratum oriens and pyramidal cell layer. While, dentate gyrus has multilayers where the most important cell type is granule cell. In terms of behavioural correlates, hippocampus has been to be associated with certain aspects of memory such as formation of new memories, long-term memory and spatial memory[20]. Thus, it can be inferred that hippocampal damage may lead to memory loss. This has been established by a single case study where it was found that a patient named R.B. developed amnesia following an open heart surgery[29]. The surgery caused certain ischemic events that seemed to have had caused certain damage to the brain. Later, after the death of R.B. the autopsy confirmed a damage to CA1 region of the hippocampus. The lesion was found to be bilateral affecting the whole caudal and rostral end of the hippocampus[21]. Animal model on adult onset hypothyroidism have found abnormal biochemical alterations and altered hippocampal neurogenesis[14]. Moreover, a recent imaging study found that patients suffering from acute hypothyroidism had decreased right side hippocampal volume (about 12%) as compared to healthy controls[3]. Thus, confirming the role of hippocampal damage in generating memory deficit.

Medial temporal lobe is another structure that has been found to be associated with memory. It receives projections from auditory and visual areas, medial temporal lobe further projects to entorhinal cortex, perirhinal cortex and to hippocampal formation[7]. Amalgamation of these forms the perforate pathway that seems to be related in mediating hippocampal activity[7]. Medial temporal lobe has been specifically being related to declarative memory which refers to the conscious knowledge of facts and events[22]. Though, its value has been mediated by hippocampus which is confirmed by the classic case of

H.M.[21] who developed severe amnesia after his medial temporal lobe was severed and which was done to cure his epilepsy[10]. The case of R.B. further bolster this notion that the value of medial temporal lobe is mediated by hippocampus[21]. In case of hypothyroidism, Findings does shows that there is some damage to medial temporal lobe following hypothyroidism. The study found that subclinical hypothyroid and hypothyroid groups of patients performed poorly on Rey–Osterrieth Complex Figure Test, this test has been found to be sensitive to medial temporal lobe[19]. Thus, medial temporal lobe may be a cite of damage as a result of thyroid hypofunction and thus, producing memory deficit.

Recent imaging studies on human subjects have given much insight about the hypothyroid brain. In a study it was found that there was a between group difference among hypothyroid subjects and controls in terms of task induced deactivation which is followed by a working memory task[6]. Also, the study found that these changes were going along with impairment in working memory. Two imaging studies have even found changes cerebral blood flow and cerebral size in hypothyroidism and after reaching euthyroid state. One showed that mildly hypothyroid patients had a low regional cerebral blood flow in parieto-occipital cortex and temporal lobe, which were reversed following treatment[9]. While another study showed that brain size of hypothyroid subjects decreased as patients reached euthyroid status[12].

In another study involving subclinical or marginally hypothyroid patients found a reversible working memory deficit that was associated with abnormality in frontal region of the brain which also normalized after treatment[28]. Moreover, the study stated that this abnormal activity was attributable to the changes in executive functions of working memory. In yet another study spatial learning deficit in subclinical hypothyroid patients was found and which was attributed to the abnormal activity in right dorsolateral prefrontal cortex and bilateral posterior parietal lobe[27]. Thus, it can be inferred that use of neuroimaging has given way to a more consistent pattern of findings however, a study involving extreme form of thyroid hypo-function showed no changes on the grey matter level[13]. In contrast to the findings associated with specific changes in the brain a study found that there was a general hypo-perfusion in severe form of hypothyroidism[12].

## Conclusion

It seems clear that thyroid hypo-function can cause selective memory problems that may have implications in the daily life of the sufferer. These implications are:

1. Problems in learning a list of items (a grocery list).
2. Problem in writing/spelling words correctly.
3. Logically arranging the learned materials in correct order.
4. Understanding or giving directions to reach a particular place.

These various memory deficits can create functional problems which may range from little to a debilitating state. This is mainly because factors such as age, education and state of disease may moderate the case of a person. These same factors can be attributed to the fact that hypothyroid induced structural and functional changes in the brain may not be as damaging as in the case of neurological patients. Lastly, animal model of hypothyroidism does indicate that damage to hippocampus has been related to thyroid hypofunction its implication is not properly known in human studies more research is needed to understand what part of human memory system is more impaired in comparison to others.

### References


1. Baldinii, I. M., Vita, A., Maur, M. C., Amodeil, V., Carris, M., Bravin, S. S., … Cantalamessa, L. (1997). Psychopathological and cognitive features in subclinical hypothyroidism. Neuro-Psychopharmacology, 2(6), 925–935. http://doi.org/10.1016/S0278-5846(97)00089-4
2. Constant, E. L., de Volder, A G., Ivanoiu, A, Bol, A, Labar, D., Seghers, A, … Daumerie, C. (2001). Cerebral blood flow and glucose metabolism in hypothyroidism: a positron emission tomography study. *The Journal of Clinical Endocrinology and Metabolism*, *86*(December), 3864–3870. http://doi.org/10.1210/jcem.86.8.7749
3. Correia, N., Mullally, S., Cooke, G., Tun, T. K., Phelan, N., Feeney, J., … Gibney, J. (2009). Evidence for a specific defect in hippocampal memory in overt and subclinical hypothyroidism. *Journal of Clinical Endocrinology and Metabolism*, *94*(August), 3789–3797. http://doi.org/10.1210/jc.2008-2702
4. Garber, J. R., Cobin, R. H., Gharib, H., Hennessey, J. V, Klein, I., Mechanick, J. I., … Woeber, K. A. (2012). Clinical practice guidelines for hypothyroidism in adults: cosponsored by the American Association of Clinical Endocrinologists and the American Thyroid Association. *Endocrine Practice*, *18*(6), 988–1028. http://doi.org/10.4158/EP12280.GL
5. Golden, C. J., Espe-Pfeifer, P., & Wachsler-Felder, J. (2000). Neuropsychological interpretation of objective psychological tests. New York?; London: Kluwer Academic/Plenum.

6. He, X. S., Ma, N., Pan, Z. L., Wang, Z. X., Li, N., Zhang, X. C., … Zhang, D. R. (2011). Functional magnetic resource imaging assessment of altered brain function in hypothyroidism during working memory processing. *European Journal of Endocrinology*, *164*, 951–959. http://doi.org/10.1530/EJE-11-0046
7. Kolb, B., & Whishaw, I. Q. (1990). *Fundamentals of human neuropsychology*. New York: Freeman.
8. Kostic, I., & Curcio, F. (2011). Causes of Hypothyroidism. In D. Springer (Ed.), *Hypothyroidism-Influences and treatments* (pp. 151–165). InTech. Retrieved from http://www.intechopen.com/books/hypothyroidism-influences-and-treatments/causes-of-hypothyroidism
9. Krausz, Y., Freedman, N., Lester, H., Newman, J. P., Barkai, G., Bocher, M., … Bonne, O. (2004). Regional cerebral blood flow in patients with mild hypothyroidism. *Journal of Nuclear Medicine*, *45*(10), 1712–1715.
10. Miller, K. J., Parsons, T. D., Whybrow, P. C., van Herle, K., Rasgon, N., van Herle, A., … Bauer, M. (2006). Memory improvement with treatment of hypothyroidism. *The International journal of neuroscience* (Vol. 116).
11. Miller, K. J., Parsons, T. D., Whybrow, P. C., Van Herle, K., Rasgon, N., Van Herle, A., … Bauer, M. (2007). Verbal memory retrieval deficits associated with untreated hypothyroidism. *The Journal of Neuropsychiatry and Clinical Neurosciences*, *19*(Ccm), 132–136. http://doi.org/10.1176/appi.neuropsych.19.2.132
12. Oatridge, A., Barnard, M. L., Puri, B. K., Taylor-Robinson, S. D., Hajnal, J. V., Saeed, N., & Bydder, G. M. (2002). Changes in brain size with treatment in patients with hyper- or hypothyroidism. *American Journal of Neuroradiology*, *23*(9), 1539–1544.
13. Quinque, E. M., Karger, S., Arélin, K., Schroeter, M. L., Kratzsch, J., & Villringer, A. (2014). Structural and functional MRI study of the brain, cognition and mood in long-term adequately treated Hashimoto's thyroiditis. *Psychoneuroendocrinology*, *42*, 188–198. http://doi.org/10.1016/j.psyneuen.2014.01.015
14. Rivas, M., & Naranjo, J. R. (2007). Thyroid hormones, learning and memory. *Genes, Brain and Behavior*, *6*, 40–44. http://doi.org/10.1111/j.1601-183X.2007.00321.x
15. Samuels, M. H. (2014). Psychiatric and cognitive manifestations of hypothyroidism. *Current Opinion in Endocrinology, Diabetes, and Obesity*, *21*(5), 377–383. http://doi.org/10.1097/MED.0000000000000089
16. Samuels, M. H., Schuff, K. G., Carlson, N. E., Carello, P., & Janowsky, J. S. (2007). Health status, mood, and cognition in experimentally induced subclinical hypothyroidism. *Journal of Clinical Endocrinology and Metabolism*, *93*(7), 2545–2551. http://doi.org/10.1210/jc.2007-0011
17. Schraml, F. V., Goslar, P. W., Baxter, L., & Beason-Held, L. L. (2011). Thyroid stimulating hormone and cognition during severe, transient hypothyroidism. *Neuroendocrinology Letters*, *32*(3), 279–285.
18. Seymour, P. H. K. (1993). Chapter 2 Commentary: Memory and Reading: Associated or Dissociated? In G. M. Davies & R. H. Logie (Eds.), *Memory in Everyday Life* (Vol. 100, pp. 78–84). North-Holland. http://doi.org/http://dx.doi.org/10.1016/S0166-4115(08)61094-8
19. Shin, M. S., Park, S. Y., Park, S. R., Seol, S. H., & Kwon, J. S. (2006). Clinical and empirical applications of the Rey–Osterrieth complex figure test. *Nature Protocols*, *1*(2), 892–899.
20. Siegel, A., Sapru, H. N., & Siegel, H. (2006). *Essential neuroscience*. Philadelphia: Lippincott Williams & Wilkins.
21. Squire, L. R. (1992). Memory and the hippocampus: a synthesis from findings with rats, monkeys, and humans. *Psychological Review*, *99*(2), 195–231. http://doi.org/10.1037/0033-295X.99.3.582
22. Squire, L. R., Stark, C. E. L., & Clark, R. E. (2004). The medial temporal lobe. *Anual Review of Neuroscience*, *27*, 279–306.
23. Tunbridge, W.M.G. & Bayliss, R.I.S. *Thyroid disease: the facts*. Oxford University Press, USA.
24. Unnikrishnan, A. G., Kalra, S., Sahay, R. K., Bantwal, G., John, M., & Tewari, N. (2013). Prevalence of hypothyroidism in adults: An epidemiological study in eight cities of India. *Indian Journal of Endocrinology and Metabolism*, *17*(4), 647–652. http://doi.org/10.4103/2230-8210.113755
25. Vanderpump, M. P. J. (2011). The epidemiology of thyroid disease. *British Medical Bulletin*, *99*(1), 39–51. http://doi.org/10.1093/bmb/ldr030
26. Wekking, E. M., Appelhof, B. C., Fliers, E., Schene, A. H., Huyser, J., Tijssen, J. G. P., & Wiersinga, W. M. (2005). Cognitive functioning and well-being in euthyroid patients on thyroxine replacement therapy for primary hypothyroidism. *European Journal of Endocrinology*, *153*, 747–753. http://doi.org/10.1530/eje.1.02025
27. Yin, J. J., Liao, L. M., Luo, D. X., Xu, K., Ma, S. H., Wang, Z. X., … Zhang, J. (2012a). Spatial Working Memory Impairment in Subclinical Hypothyroidism: An fMRI Study. *Neuroendocrinology*, 260–270. http://doi.org/10.1159/000343201
28. Zhu, D. F., Wang, Z. X., Zhang, D. R., Pan, Z. L., He, S., Hu, X. P., … Zhou, J. N. (2006). fMRI revealed neural substrate for reversible working memory dysfunction in subclinical hypothyroidism. *Brain*, *129*, 2923–2930. http://doi.org/10.1093/brain/awl215
29. Zola-Morgan, S., Squire, L. R., & Amaral, D. G. (1986). Human amnesia and the medial temporal region: enduring memory impairment following a bilateral lesion limited to field CA1 of the hippocampus. *The Journal of Neuroscience*, *6*(10), 2950–2967.


◆

# ''प्रज्ञा'' : नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होना आवश्यक है।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी.डी. के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 सेमी0 की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट; शीर्षक-17 प्वाइंट ब्लैक; लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक; टेक्स्ट - 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा-निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला; लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक; टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

   ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/ शोध-प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

   (अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

   (ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

   (स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

   लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

   दिनांक एवं स्थान .....

   मोबाइल/टेलीफोन नं0 .....

◆

# PRAJÑĀ : RULES AND GUIDELINES

1. As far as possible, **"Prajñā"** will be published twice a year : One issue at the time of start of the academic session, the other on the occasion of the Malaviya Jayanti.

2. The Teachers/Research Scholars of B.H.U. intending to publish their articles/research papers in the first issue of **"Prajñā"** are required to submit their manuscripts in the office of **"Prajñā"** before 30th November. The deadline for the submission of articles/research papers for the second issue shall be 30th April. The research papers/articles of research scholars should be forwarded and recommended by the Supervisor/Head of the Department concerned.

3. The authors contributting their research papers/articles shall get two copies of **"Prajñā"** : The first one would be the author's copy and second will be in lieu of 10 reprints of their articles.

4. All donations/subscriptions should be sent to the Editor, **"Prajñā"** B.H.U. Journal, Varanasi-221005.

5. **Guidelines for preparation of Manuscript of Articles/Research Papers** :

   a. Article/Research Papers should be Computer typed. Authors are required to submit a C.D. of their manuscripts alongwith the hard copy.

   b. The manuscript should be typed in double-space with 2 cm margin on the A-4 size bond paper.

   c. **For the manuscripts in Hindi and Sanskrit, the following instructions be followed :**

      APS-DV-Priyanka Roman Font, Title–17 Point black, Author's Name–13 point italic black, Text 13 point, folio 11 point and footnote 9 point.

   d. **For the manuscripts in Enlgish, the following instructions be followed :**

      'Times New Roman' font, Title-14 point All caps black, Author's Name–11 point All caps italic black, Text–11 point upper lower, Footnote and Folio–9 point, Text should be composed on A-4 size in the above font.

   e. **The Research papers/articles should not go beyond a maximum of 10 typed pages.**

6. **The declaration of the author for publication of articles in the "Prajñā" journal :**

   I, the author of the research paper/article entitled "....." declare that :

   a. I take the responsibility of the content and material of my papers as I myself have written it and also have read the manuscript of my paper carefully. Also, I hereby give my consent to publish my paper in the **"Prajñā"** journal.

   b. This article/research paper is my original work and no part of it's similar version is bublished or has been sent for publication anywhere else.

   c. I authorise the Editorial Board of the **"Prajñā"** journal to modify and edit the manuscript. I also give my consent to the Editor of **"Prajñā"** to own the copyright of my research paper/article.

      Author's Name and signature .....

      Date and Place .....

◆

'प्रज्ञा' अंक-62, भाग-1-2, वर्ष 2016-17 के विमोचन के अवसर पर लिया गया चित्र
दिनांक 09.03.2017 (स्थान-कुलपति कक्ष, केन्द्रीय कार्यालय)

**बायें से–**प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय, अंग्रेजी विभाग; प्रो. राधेश्याम राय, हिन्दी विभाग; प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह, राजनीति शास्त्र विभाग; **बीच में–**प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी, कुलपति; प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, ''प्रज्ञा'' जर्नल; प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, संस्कृत विभाग; प्रो. एस.बी. राय, भौतिकी विभाग एवं प्रो. जय शंकर झा, अंग्रेजी विभाग।

ISSN: 0554-9884

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

## विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

## Objectives of the University

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.